घनानंद-कवित्त

(भाष्येंदुशेखर)

—द्वितीय आनन—

(द्वितीय शतक, १०१ से २०० तक)

भूमिका-लेखक

आचार्य विश्वनाथप्रसाद मिश्र

भाष्यकार

साहित्याचार्य चंद्रशेखर मिश्र शास्त्री

एम० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यालंकार

वाणी-वितान प्रकाशन

ब्रह्मनाल, वाराणसी–१

आत्मनिवेदन

बड़ी प्रसन्नता है कि हिंदीजगत् में 'घनआनंद कबित्त के भाष्येंदुशेखर' प्रथम शतक का समुचित समादर हुआ। उससे उत्साहित होकर मैंने द्वितीय शतक और तृतीय शतक भी प्रस्तुत कर डाले हैं। पद्धति वही है जो प्रथम शतक में रखी गई है। पुनरुक्ति को सामान्यतया बचाया गया है। नई-नई व्यंजनाएँ ही व्याख्या के अंतर्गत अधिक दिखाई गई हैं। फिर भी मैं इदमित्थम् नहीं कह सकता। और भी अनेक सूक्ष्म व्यंजनाएँ सर्वत्र छिपी पड़ी हैं। पर जिज्ञासुओं के लिए उतना अधिक विस्तार मैंने अनपेक्षित समझा। घनआनंद के कुछ छंद इतने व्यंजक हैं कि उन्हें लेकर पूरा ग्रंथ ही प्रस्तुत हो सकता है। इसमें दिङ्मात्र का निर्देश करके पाठकों की जिज्ञासावृत्ति को तृप्त करने के अनंतर उसे अन्य सूक्ष्मतर व्यंजनाओं के लिए उद्बुद्ध करने का भी प्रयास किया गया है। पाठक स्वयम् भी कुछ सोचें और समझें। जिसकी रचना का मर्म उद्घाटित करने में प्रवृत्त होकर प्रवीणों की मति भी जकती है उसे समझाने के लिए कुछ संकेत ही किए जा सकते थे। जितने विस्तार से मैंने घनआनंद कबित्त का भाष्य प्रस्तुत किया है उतने विस्तार से हिंदी के किसी कवि का भाष्य आजतक नहीं लिखा गया। तुलसीदास के मानस का जो विस्तृत भाष्य लिखा गया है वह अकेले एक व्यक्ति का प्रयत्न नहीं है। बहुतों के विचारों व्याख्याओं के संकलन के कारण ही उसका उपबृंहण हुआ है। अकेले किसी ने इतना विस्तृत विचार मानस का भी नहीं किया है। अकेले जिसने भी प्रयास किया वह उतने से ही संतुष्ट भी हो गया। पर मुझे इतना विस्तार करने पर भी संतोष नहीं है, यह घनआनंदजी के काव्य का बहुत बड़ा वैशिष्ट्य समझना चाहिए। पुनरुक्ति को बचाने पर भी जितने कम विस्तार में मैंने यह भाष्य प्रस्तुत करने का उद्योग किया है उसी से चार पृष्ठ प्रतिछंद के हिसाब से लगभग दो सहस्र पृष्ठों में केवल घनआनंद कवित्त का यह भाष्य समाप्त किया जा सकेगा।

यदि ग्राहकों ने इस द्वितीय शतक का भी पूर्ववत् स्वागत-समादर किया तो तृतीय शतक भी शीघ्र ही उनकी सेवा में प्रस्तुत किया जाएगा। अभी

चतुर्थ और पंचम शतक प्रस्तुत नहीं हो सके हैं। उनमें यथासंभव शीघ्र ही हाथ लगा दिया जाएगा। घनआनंद की रचना में सौंदर्यभेद और भावनाभेद पर्याप्त है। इन भेदों का संधान करना सभी समय संभव नहीं होता। उसके लिए बड़ी शांत और निश्चित मनोवृत्ति अपेक्षित होती है। इसी से भाष्य लिखने के लिए कभी-कभी रुके रहना पड़ता है। जिस प्रकार ये कवित्त अंत:करण के वेग से समुद्भूत हुए हैं उसी प्रकार इनके मर्म को प्रकाशित करने के लिए भी अंतर्वेग की अपेक्षा रहती है। जीवन में वांछित अंतर्वेग सब समय, सभी देश में संभव नहीं होता। इसी से कुछ विलंब लग जाता है। नाना जंजाल के कारण सुअवसर कम मिल पाता है। फिर भी सुजान घन-आनंद की कृपा से आधा मार्ग पूरा हो चुका है। इसलिए यह आशा बँधती है कि शेष की पूर्ति भी शीघ्र हो जाएगी। ग्राहकों द्वारा उत्साहित होने पर भी अंतर्वेग की स्थिति आ सकती है।

पूज्य पिताजी की जो भूमिका पहले शतक में थी उसे इस द्वितीय शतक में नहीं दिया गया। उनसे दूसरी भूमिका लिखने की प्रार्थना की गई। उन्होंने अनुग्रह कर नवीन भूमिका प्रस्तुत कर दी है, जो इसमें जोड़ दी गई है। वृद्ध हो जाने के कारण और शरीर के अस्वस्थ रहने से उन्होंने इच्छा होते हुए भी विस्तृत भूमिका नहीं लिखी। जिस उत्साह से उन्होंने इसका आरंभ किया था उसको देखते घनआनंद के चारुताभेद और भावभेद में वे कुछ ऐसा विचार प्रस्तुत करना चाहते थे जिससे घनआनंद की रचना के समझने में पर्याप्त सहायता मिलती। उन्होंने उसके कुछ संकेत ही अंत में कर दिए हैं, उनका उपबृंहण पाठकों के लिए छोड़ दिया है। मैं उनके इस अनुग्रह के लिए उनके चरणों में नतमस्तक हूँ। उनसे आशीर्वाद चाहता हूँ कि शेष अंश की पूर्ति भी शीघ्र हो जाए। उन्हीं के आशीर्वाद से अभी तक जो कर सका मैंने किया, वही भविष्य में भी मेरा संबल रहेगा।

वाणी-वितान भवन
ब्रह्मनाल, वाराणसी-१
दीपावली, २०२३ वि०

चंद्रशेखर मिश्र

काव्यकाया का विश्लेषण करने पर उसमें तीन तत्त्व दिखाई देते हैं— वर्ण्य, वर्णनशैली, वर्ण्य से संबद्ध मनोवृत्ति। वर्ण्य ही नाटक में अनुकार्य हो जाता है, रस में विभाव बन जाता है, अलंकार में अलंकार्य या प्रस्तुत हो जाता है। पहले वर्ण्य को लीजिए। काव्य में किसी न किसी का वर्णन रहता है। कोई रूप चित्रित किया जाता है। उसके स्वरूप को उभारा जाता है, उसके स्वभाव को स्पष्ट किया जाता है। जैसा रूप है, उसका जैसा भाव या सत्ता है उसे निखारा जाता है। कभी कभी केवल स्वरूप या स्वभाव की वर्णना मात्र ही काव्य में रहती है। इसे पुराने आचार्य स्वभावोक्ति कहते आए हैं। काव्य में उन्होंने प्रकृति के चित्रण या पशु-पक्षी के स्वभाव की यथावत् वर्णना को ही स्वभावोक्ति कह दिया। अलंकारशास्त्री जब अलंकार में ही सबको समेटने लगे तब उन्होंने इस वर्णना को स्वभावोक्ति अलंकार घोषित कर दिया। इस घोषणा से वे लोग अत्यधिक रुष्ट हो गए जो अलंकार को वर्ण्य सामग्री का आकलन करनेवाला न मानकर वर्णनशैली के रूप में उसका अंकन या उपस्थापन किया करते थे। श्रीकुंतक तो यहाँ तक कह गए कि यदि स्वभावोक्ति अलंकार है तो अलंकार्य रूप में रह ही क्या गया। स्वभावोक्ति तो अलंकार्य से संबद्ध होती है, किसी का स्वभाव या स्वरूप शैली थोड़े ही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल भी यही मानते थे। वे आलंकारिकों का इसे दुराग्रह मानते थे पर महिम भट्ट ने बहुत पहले इस पर विचार करके कहा था कि स्वभावोक्ति में जिस स्वभाव का वर्णन होता है वह साधारण नहीं होता। मृग उछलता है, रुकता है, चकपकाकर देखता है, इस प्रकार के साधारण कथन स्वभावोक्ति नहीं हैं। कालिदास ने दुष्यन्त के रथ के वर्णन के अनंतर हरिणों के 'ग्रीवाभंगाभिरामम्' का जो वर्णन किया है वह विशेष स्थिति है। ऐसी विशेष स्थिति का चित्रण ही स्वभावोक्ति है। इस प्रकार स्वभावोक्ति में विशेष स्थिति का ग्रहण और उसकी वर्णना में चमत्कार है, अतिशय है, वक्रता है, इसलिए उसे अलंकार कहने में बाधा नहीं है। जो भी हो, काव्य में स्वरूप स्वभाव वर्ण्य होता है,

विशेष स्वरूप या असाधारण स्वभाव की अंकना होती हो, यह दूसरी बात है। स्वरूप-स्वभाव की यह वर्णना शब्दशक्ति की दृष्टि से देखी जाए तो यहाँ अभिधाशक्ति का ही प्रमुख क्षेत्र है। अलंकार वाच्यार्थ में, अभिधेयार्थ में ही माना जाता है, भले ही उसमें बीजरूप में अतिशयता या वक्रता मानी जाए।

काव्य किसी के स्वरूप स्वभाव का असाधारण कथन ही किया करता है। असाधारण का अर्थ अलौकिक नहीं है। कवि किसी वस्तु या व्यक्ति के जिस रूप-भाव को देखता है वह सबको दिखाई नहीं देता। वह वस्तुतः उसका व्यक्तित्व सामने लाता है, ऐसा रूप भाव वह सामने करता है जिससे उसका व्यक्तित्व स्पष्ट हो जाए। किसी का व्यक्तित्व असाधारण होता है, विशेष होता है। वह व्यक्ति उसके उस गुणधर्म में होता है जो उसका अपना है, वे गुणधर्म जो उसे सजातीय से भी पृथक् कर देते हैं। इसी से स्वरूप और स्वभाव में 'स्व' का अर्थ व्यक्तित्व है स्वभाव का अर्थ व्यक्तिसत्ता है। नामरूपात्मक जगत् में जो भी दृष्टि है वह व्यक्तिसत्तात्मक है। प्रत्येक पदार्थ दूसरे से भिन्न है। एक से दिखनेवाले पदार्थों में भी भिन्नता है, विशेषता है। वैशेषिक मत इसी विशेष को लेकर है। कवि को इसी विशेष को स्पष्ट करने का प्रयास करना पड़ता है। इस विशेष को सब नहीं देखते, स्वच्छदृष्टिसंपन्न ही इसे देख सकते हैं।

आलंकारिकों का पक्ष स्पष्ट है। वे स्वभावोक्ति को अलंकारशैली के रूप में ही मानते हों सो भी नहीं है। हिंदी के प्रसिद्ध आचार्य केशवदास में कोई सहृदयता न माने तो उसके कथन को कुछ लोग मान भी सकते हैं, पर उनके पांडित्य में संदेह कम ही को है। उन्होंने अलंकार के दो भेद माने हैं—सामान्यालंकार और विशेषालंकार। सामान्यालंकार में प्रभेद वर्ण्यालंकार, वर्णालंकार आदि किए हैं। तो क्या केशवदास अलंकार का लक्षण ही नहीं जानते थे। ऐसा मानना उसके साथ अन्याय करना होगा। 'अलंकार' शब्द का अर्थ शैली ही नहीं, सजावट भी है। काव्य में सजावट किसकी की जाए यह भी सजावट का, साज-सज्जा का अंग है। वर्ण्य काव्य में कौन कौन हैं, किनका वर्णन किया जाए, किनका कितना वर्णन हो यह सब भी उसी साज-सज्जा का अंग है। यही कारण था कि उन्होंने सामान्यालंकार

को पृथक् कर दिया। संस्कृतवाले साहित्यशास्त्र को अलंकारशास्त्र कहते हैं। यहाँ 'अलंकार' का व्यापक अर्थ स्पष्ट है। इसलिए स्वभावोक्ति को अलंकार मानने में उन्हें बाधा नहीं हुई। अस्तु।

घनआनंद की रचना में विरही के, प्रेमी के स्वभाव का अंकन है। उनका यही नियत काव्यविषय है। मध्यकाल के जिन कवियों को स्वच्छंद-वृत्तिसपन्न कहा जाता है उनमें काव्यविषय बहुत कुछ विषम प्रेम को लेकर है। यह काव्यविषय फारसी साहित्य के संपर्क के कारण हिंदीसाहित्य में आया या नियत हुआ। पारंपरिक कवि केवल विषम प्रेम का या अधिकतर विषम प्रेम का वर्णन नहीं करते थे जिन्होंने परंपरा का निर्वाह किया उन्होंने इसका आधिक्य नहीं होने दिया। शृंगारकाल या रीतिकाल के पूर्व भक्ति-काल में ही विषम प्रेम का आधिक्य भक्ति के कुछ क्षेत्रों में आ गया था। फिर भी पारंपरिक कवियों ने उसे ग्रहण नहीं किया। स्वच्छंदवृत्तिवाले कवियों में ही वह उस रूप में दिखाई देता है। इसे उसी प्रकार समझना चाहिए जिस प्रकार हिंदी के आधुनिक युग में अँगरेजीसाहित्य की प्रेरणा से नैराश्यवृत्ति का ग्रहण। हिंदीसाहित्य की परंपरा में आशावाद का ही ग्रहण हो सकता था, नैराश्यवाद का नहीं। पर एक साहित्य की प्रेरणा से दूसरे साहित्य में परंपराविरुद्ध प्रवृत्तियाँ भी जग पड़ती हैं। छायावाद में नैराश्य की प्रवृत्तियाँ बहुत दिनों टिक नहीं सकीं। छायावाद के शीघ्र समाप्त हो जाने का एक हेतु नैराश्य का ग्रहण भी था। भारतीय साहित्यधारा में नैराश्य टिक नहीं सकता। जीवन में नैराश्य की स्थिति होने पर भी साहित्य आशा की ही प्रवृत्ति लेकर चलता आया है। मध्यकाल के नैराश्य में भक्तिकाव्य आशा को लेकर ही अवतरित हुआ था। इसी से मध्यकाल के स्वच्छंद काव्य में भी आशावाद ही दिखाई देता है। छायावाद के अनंतर हिंदी में नई कविता फिर नैराश्य को लेकर आई है। यह साहित्य में कितने दिनों टिकी रहती है, देखना है।

मध्यकाल में विषम प्रेम की वृत्ति अधिकतर कवि के व्यक्तिगत जीवन से संबद्ध थी। फिर भी साहित्य ने आशा का ही ग्रहण किया। व्यक्तिगत जीवन काव्य में आकर व्यक्तित्व का परित्याग करके ही रह सकता है। सार्वजनिक

हुए बिना साहित्य रहना नहीं चाहता। 'साहित्य' सहित से जो बना है। वह सबके सहित ही चलता है। वह सबको लेकर चलता है। इसलिए किसी कवि को डेढ़ चावल की खिचड़ी अधिक दिनों तक अलग पकाने नहीं देता। व्यक्तिगत जीवन की अभिव्यक्ति, विशेष की अभिव्यक्ति साधारणीकृत होकर ही साहित्य के काम की होती है और जीवन के काम की भी। जो व्यक्तिगत अभिव्यक्ति को साधारणीकृत रूप में लाने का प्रयास नहीं करता वह साहित्य के परमार्थ स्वरूप से तो पराङ्मुख हो ही जाता है, जीवन से भी पराङ्मुख हो जाता है। जीवन से पराङ्मुखता नैराश्य की संमुखीनता में प्रवृत्त करती है। नैराश्य क्रोध-मोह आदि तमोगुण की वृद्धि करता है। कवि अंधकार में, तम में पहुँच जाता है। उसका बुद्धिनाश होने लगता है, फिर 'प्रणश्यति'।

भारतीय दृष्टि से साहित्य दर्शन है। साहित्यकार कुछ देखता है। उसे ही दूसरों को दिखाता है। दर्शन के अनंतर प्रदर्शन करता है। दर्शन प्रकाश में होता है और चाहें तो यह भी कहें कि प्रकाश का होता है। अंधकार में किसी का दर्शन क्या होगा, अंधकार का भी दर्शन नहीं हो सकता। फिर जिसका दर्शन नहीं, उसे दिखाया कैसे जाए। इसी से साहित्य के लिए सत्त्वोद्रेक की अपेक्षा होती है, तम के उद्रेक की नहीं। चिन्मय स्थिति उसमें होती है। इसी से यहाँ वैदिक काल से द्रष्टा ऋषि चिल्लाते आ रहे हैं—तमसो मा ज्योतिर्गमय। वैदिक ऋषि ने साधना से जो कुछ देखा, साहित्य का ऋषि भी अपनी साधना से वही सत्य देखता है। लक्ष्यभेद नहीं है, प्रस्थानभेद है। वहाँ लक्ष्य तक पहुँचने का मार्ग भिन्न भिन्न हैं, लक्ष्य भिन्न-भिन्न नहीं हैं। धर्म, राजनीति, साहित्य, दर्शन सबका चरम लक्ष्य एक ही होना चाहिए। यदि लक्ष्यभेद हो जाएगा तो कवि अपने जीवन का विनाश तो कर ही डालेंगे, जनजीवन का भी विनाश करने में हेतु होने लगगे।

क्या विषम प्रेम में कोई सार्वजनीन आकर्षण भी है। भारत में साहित्य जब विषम प्रेम को उतना महत्त्व नहीं देता था तब उसका ग्रहण किस लिए किया गया। प्रेम की उच्च भूमिका के कारण उसका ग्रहण करना प्रतीत होता है। विरह को भारतीय परंपरा भी उच्च भूमिका में पहुँचानेवाला मानती आई है। कालिदास ने मेघदूत में जिस विरह का स्वीकरण किया

उसमें यही बताया कि विरह में प्रेम के अभोग के कारण वह राशीभूत हो जाता है। साहित्य ने भी प्रेम का मंजिष्ठाराग विप्रलंभ में ही माना। प्रेम के परिपाक, उसकी पुष्टता के लिए विरह-वियोग अपेक्षित है। पर उसमें प्रेम की विषमता की नितांत आवश्यकता नहीं थी। सम प्रेम से ही काम चलाया जाता था। समंजसा प्रीति ही भारतीय साहित्य में ग्राह्य थी। पर विषम प्रेम के कारण समर्था प्रीति भी ग्राह्य हुई। प्रेम जब एकांगी होता है, एक ही पक्ष में रहता है तब प्रेमी प्रेम की उच्च भूमिका में पहुँच जाता है। समर्था प्रीति में प्रीति ही साध्य हो जाती है, प्रेम निर्हेतुक हो जाता है, सात्त्विक हो जाता है। भक्ति में और फिर साहित्य में भी इसी कारण इसी निर्हेतुक प्रीति की महिमा बढ़ गई। घनआनंद की रचना में इसी समर्था प्रीति का ग्रहण है। पर आशावाद यहाँ भी है। तटस्थ या उदासीन प्रिय में प्रीति उत्पन्न होकर रहेगी, यही धारणा बनी रहती है। 'रूई दिए रहौगे कहाँ लौं बहराइबे को कबहूँ तौ मेरियै पुकार कान खोलिहै' में यही ध्वनि है। इसी प्रेम की उच्च भूमिका के कारण घनआनंद का प्रेमी 'महानेही' है। 'महा' विशेषण का तात्पर्य क्या है। जैसे महादानी वह है जो अपने को भी दान कर दे, वैसे ही महास्नेही वह है जो अपने को भी प्रेम के लिए दे दे। प्रेमी का प्रिय के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। अपना सुख कुछ नहीं है। प्रिय का सुख ही उसका सुख है। प्रिय जिसमें सुख माने वही उसके लिए सुख है। घनआनंद का प्रेमी कहता है कि यदि प्रिय पराङ्मुख हो गया है तो उसकी पराङ्मुखता भी प्रीति के लिए विषय हो गई। वह कह बैठता है कि 'देखिहौं पीठ दुराइहौ जौ मुख'। यदि प्रिय ने मेरी ओर पीठ कर दी है तो पीठ ही देखकर मुख देखने का सुख प्राप्त किया जाएगा। अनन्य प्रेम की यह बड़ी ऊँची भूमिका है। प्रिय के अतिरिक्त कोई अन्य प्रेमी के लिए कुछ है ही नहीं। उसे संसार प्रियमय दिखाई देता है।

काव्य का दूसरा तत्त्व है वर्णनशैली। किसी का यथावत् वर्णन भी हो सकता है और उस वर्णन की विशेष शैली भी होती है। काव्य का वैशिष्ट्य वर्णनशैली के कारण होता है। जिस प्रकार वर्ण्य के असाधारण या विशेष स्वरूप-स्वभाव के कारण उसमें काव्यत्व की स्थिति आती है उसी प्रकार

शैली के असाधारण या विशेष रूप के कारण उसमें काव्यत्व आता है। साधारण शैली में विषय का कथन काव्यत्व नहीं ला सकता। चाहे अलंकार हो चाहे रीति हो, चाहे वक्रोक्ति हो सर्वत्र विशेष कथन होना ही चाहिए। साधारण कथन सामान्य व्यक्ति का होता है। कवि सामान्य जन से भिन्न होता है, वह सुजन होता है, सहृदय होता है, प्रातिभ होता है। वह विशेष ढंग से ही कुछ कहता है। सामान्य जन के कथन में 'वार्ता' होती है, उक्ति मात्र होती है, पर कवि के कथन में अतिशय होता है, विशिष्टा पदरचना होती है, बंकिमा होती है। वह वक्रोक्ति में कहता है, वह विदग्धभंगीभणिति में बोलता है। वस्तुत्व, प्रमेयत्व आदि में अलंकारत्व कहाँ होता है। आतिशय्य होना चाहिए, सामान्य जन की उक्ति की सीमा का उल्लंघन होना चाहिए। वह अभिधा का मार्ग त्याग कर लक्षणा का मार्ग पकड़ता है। यों लक्षणा का विचार वाङ्मय के अन्य क्षेत्रों में भी हुआ, पर साहित्य में उसका विवेचन जिस रूप में हुआ उससे उसकी शक्ति-संपदा का वास्तविक पता चला।

भारत में भारती की वाक्शक्ति का विचार पुराकाल से ही बड़े विस्तार के साथ किया गया है। दार्शनिकों, वैयाकरणों और साहित्यिकों सभी ने इसका विचार किया। पर साहित्यिकों के संपर्क में उसपर जैसा बृहद् विचार हुआ वैसा अन्यत्र नहीं। इसका हेतु भी स्पष्ट है। अन्यत्र अर्थ और शब्द का पृथक् पृथक् विचार अपेक्षित था, पर साहित्य तो शब्द और अर्थ के साहित्य से ही साहित्यपदवाच्य हुआ, इसलिए साहित्यिकों ने इसका जमकर विचार किया। शब्दशक्ति की त्रिवेणिका अभिधा, लक्षणा और व्यंजना के रूप में प्रवाहित हुई। यमुना, गंगा और सरस्वती की त्रिधारा से इन्हें उपमित किया गया। जहाँ तीन तीन का विचार करना हो वहाँ यह स्वाभाविक है कि कोई एक को सर्वस्व माने और कोई अन्य को। फल यह हुआ कि कोई तो लक्षणा और व्यंजना को अभिधा का ही पुच्छभूत रूप मानने लगा। कोई वाच्य या अभिधेय के बदले भक्ति या लाक्षणिक अर्थ को ही साहित्य का सर्वस्व कहने लगा और किसी ने व्यंग्य और अतिशय को प्राप्त उसके ध्वनिरूप को सर्वोपरि स्वीकार किया।

यद्यपि मुख्यार्थ अभिधेयार्थ ही होता है और लक्षणा बिना व्यंग्यार्थ

के नहीं बनती तथापि लोक में और काव्य में भी विदग्धता दिखानेके लिए लक्षणा का सहारा अधिक लिया जाता है। वचनभंगिमा के बिना आकर्षक और प्रभावुक चमत्कार उत्पन्न नहीं किया जा सकता। यह वचनभंगी चाहे वक्रोक्ति मात्र से अभिहित हो चाहे अतिशयोक्ति के नाम से बखानी जाए, इसके लिए कविजनों का प्रयत्न निरंतर होता आया है। साहित्याचार्य जब वचनभंगिमा का विश्लेषण करने लगे तो उनमें से कइयों को कहना पड़ा कि जिसे वक्रोक्ति का पृथक् नाम दिया जाता है वह वस्तुत: और कुछ नहीं लक्षणा का प्रपंच मात्र है। काव्य की आत्मा चाहे ध्वनि ही मानी जाए पर काव्य का जीवित या प्राण वक्रोक्ति या लाक्षणिक प्रयोग में है, इसे किसी न किसी रूप में मानना ही पड़ता है।

अलंकार और रीति में वाच्यार्थ मात्र नहीं होता। व्यंग्यार्थ के बिना उनकी भी नहीं चलती। वह भी, कहीं कहीं अतिशयवाला व्यंग्यार्थ अर्थात् ध्वनि वहाँ भी होती है, इसे ध्वनिकार ने ही घोषित-पोषित किया है। पर वाच्यार्थ से सीधे व्यंग्यार्थ तक पहुँचने की प्रक्रिया सर्वत्र नहीं होती, लक्षणा वहाँ भी काम करती है। जिस वक्रोक्ति या अतिशयोक्ति को अलंकारों का मूलभूत कहा गया है वह लक्षणा का नृत्य मात्र है—इसे आचार्य विश्लिष्ट करके दिखाते-बताते रहे हैं। इस प्रकार जहाँ काव्य है वहाँ लक्षणा का सहारा प्रधान-तया लेना पड़ता है, यह किसी न किसी में स्वीकार करना ही पड़ता है।

जहाँ तक हिंदीसाहित्य का संबंध है उसे तीन प्रकार के लक्षणा-प्रवाहों में आना पड़ा। एक तो संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश का पारंपरिक प्रवाह, जिसे केवल संस्कृत का प्रवाह ही कहना चाहिए, क्योंकि प्राकृत और अपभ्रंश में नूतनता का समावेश नहीं हुआ। वही प्रवाह चलता रहा है। हिंदीसाहित्य ने साहित्य के लिए अधिक संग्रह संस्कृत का ही किया है, प्राकृत एवम् अपभ्रंश साहित्य सहजोपलब्ध था ही नहीं। यह देशी प्रवाह था और देश-भाषा में आकर इसने विपुलता प्राप्त की।

हिंदीसाहित्य को मध्यकाल में एक ऐसे साहित्य के संपर्क में आना पड़ा जिसमें लक्षणाप्रवाह दूसरी विशेषता लिए हुए था, जहाँ विशेष प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों के बाहुल्य की प्रवृत्ति दिखाई पड़ी। मुहावरों या रूढ़

प्रयोगों के बल से नूतन-अनोखी वचनभंगिमा लाने में वह साहित्य यत्नशील था। देशी प्रवाह में रूढ़ वाग्योग होते थे, पर उन्हीं के बल पर काव्य का शाब्दिक प्रासाद खड़ा करने का कुतूहली प्रयास यहाँ नहीं था। कभी कभी किसी में ऐसा उन्मेष आता था तो कोई रोक भी नहीं थी। नैषधकार ने संस्कृत में लाक्षणिक प्रयोगों की नूतनच्छटा की जैसी घटा घहराई उसके कारण उसकी संस्कृतसाहित्यप्रवाह में पर्याप्त प्रशंसा भी हुई और अभिशंसा भी। लाक्षणिक प्रयोग को दुधारी तलवार ही समझना चाहिए। वार करने में कोई चूका नहीं कि उसकी संमुखीन धारा का आघात चालक या प्रयोक्ता को ही सहना पड़ेगा। यही कारण है कि उसमें अभ्यास प्रमुख हो जाता है।

शक्ति और निपुणता के साथ अभ्यास का भारतीय परंपरा में भी उल्लेख है, पर वह तृतीयस्थानीय है। वहाँ वह प्रथमस्थानीय हो गया। भारतीय प्रवाह में अभ्यास के लिए गुरु और शिष्य की वैसी परंपरा नहीं बनी जैसी फारसीप्रवाह में और भारत में आकर उसी के प्रभाव से उर्दू के प्रवाह में हुई। उस्तादों-शागिर्दों के न जाने कितने तजकिरे वहाँ प्रचलित हैं जिनमें शागिर्दों की नादानी और उस्तादों के इसलाह की उस्तादी का जौहर कथित है। फल यह हुआ कि काव्य के रहस्यों का ग्रंथों में आख्यान करने का चलन वहाँ वैसा नहीं हुआ जैसा भारतीय या देश्य प्रवाह में था। सारा रहस्य तांत्रिक सिद्धों की भाँति गुरुजन अपने पास ही रखते थे, लिखकर उसे सार्वजनीन नहीं करना चाहते थे। तांत्रिक सिद्ध तो ग्रंथ लिखकर भी अपने रहस्य को सार्वजनीन रूप देते थे, भले ही वह सर्वसुलभ न हो पाता हो। उक्त 'गुरुयान' में ऐसा नहीं हुआ। इसलिए उस प्रवाह में दोषदर्शन की मनोवृत्ति चरम सीमा की विकसित हुई और अभिशंसा की शब्दावली भी असंगत होने लगी। नुक्ताचीनी के फिराक में बहुत से लोग रहने लगे। अस्तु।

हिंदीसाहित्य के मध्यकाल में जो स्वच्छंदतामूलक प्रवाह चला उसकी प्रेरणा का उत्स फारसीसाहित्य में था। उसमें रूढ़ लाक्षणिक प्रयोगों की ओर उन्मुखीनता स्पष्ट है। आरंभ में तो कुछ कम ही आग्रह था पर आगे चलकर वह अति की ओर बढ़ गया। रसखानि और आलम की कृतियों में यह अतिशय को नहीं पहुँचा, पर ठाकुर, घनआनंद और बोधा की रचना में

आतिशय्य हो गया। ठाकुर और घनआनंद ने तो उसे सँभाला और भारतीय परंपरा में खपने योग्य बनाने या पचाने का प्रयास किया। बोधा से वह नहीं सँभल सका। इसलिए उनकी रचना में गिरावट स्पष्ट दिखाई देती है। इन स्वच्छंद कवियों ने 'गुरुयान' का भी परित्याग किया है अथवा उसका ग्रहण नहीं किया है, ऐसा प्रतीत होता है। इतिहास के पास ऐसी सामग्री नहीं है जिससे इनके गुरुजनों का पता चल सके। इन्होंने स्वयम् किसी का उल्लेख नहीं किया है। घनआनंद ने जो लिखा कि 'लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोंहि तौ मेरे कबित्त बनावत' उससे प्रतीत होता है कि 'लागि' केवल रीतिबद्ध रचयिताओं के स्वकीय प्रयास को ही संकेतित नहीं करता अपितु 'गुरुयानों' में अभ्यास करने का अर्थ भी व्यंजित करता है।

कविता क्या केवल अभ्यास की वस्तु बनाई जा सकती है—'मार मारकर हकीम' या 'ठोंक-पीटकर कविराज' बनाने का फल कभी अच्छा नहीं हो सकता। ये स्वच्छंदतावादी किन्हीं गुरुओं के यहाँ अभ्यास करनेवाले रट्टू तोते नहीं थे। शक्ति और निपुणता से ही इनका अधिकाधिक संबंध था। शक्ति की सहजता और निपुणता की उत्पाद्या वृत्ति ही इन्हें 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयंभूः' बनाती थी। ये स्वयंभू कवि ही थे—मनमाने, पर संयत। परंतु यह तो कहना ही पड़ता है कि ठाकुर और घनआनंद के प्रयोगों की चाहे जितनी प्रशंसा की जाए प्रयोगावृत्ति कभी-कभी स्पष्ट कर देती है कि यह बलात्कृत है और कवि में अतिनिबंध है। यह सब इनके व्यक्तित्व की त्रुटि नहीं है स्वीकृत प्रवाह की ही आविलता है। इसी दोष से बचने के उद्देश्य से बिहारी आदि ने रूढ़ प्रयोगों की नूतनता का स्पर्शमात्र किया, उसके प्रति अभिनिवेश नहीं दिखाया। घनआनंद का कर्तृत्व इसमें है कि इन्होंने भारतीय रूढ़ प्रयोगों के बीच वह विदेशी वैशिष्ट्य दिखाया। फारसी के अच्छे जानकार होने पर भी उसके मुहावरों का ग्रहण या अनुवदन नहीं किया, व्रजी के मुहावरों की नीवें पर ही नया महल खड़ा किया। उस रूढ़ प्रयोग की पद्धति पर चलकर कोई अतिनिबंधता से बच ही नहीं पाता। इसलिए यह मानना ठीक न होगा कि रीतिमुक्त या स्वच्छंदतावादी मध्यकालीन कवियों में कोई अतिनिबंधता थी ही नहीं। रूढ़ प्रयोग अपरिमित नहीं होते इसलिए मुक्तरूप में

रचना करनेवाले की कृति में प्रयोगों की पुनरावृत्ति होती ही रहती है। कुछ प्रयोग उसके 'तकिया कलाम' हो जाते हैं। घनआनंद की कविता में 'मौन की पुकार', 'नेत्र में कान' आदि प्रयोग बारंबार इसी से आते रहे हैं।

आधुनिक काल में पहुँचकर हिंदीकाव्य अँगरेजीकाव्य के संपर्क में आया—पहले बँगला के माध्यम से फिर सीधे ही। यहाँ लाक्षणिक प्रयोगों का वैलक्षण्य संस्कृत और फारसी साहित्य से भिन्न प्रकार का दिखाई पड़ा। रूढ़ वाग्योग अपरिमित नहीं थे, इसलिए अरूढ़, प्रयोजनीय, अपरिमित वाग्योग की ओर कवियों का लपकना नैसर्गिक था। वाणी की व्यंजना के आभोग-आयाम से अपरिचित भी इसकी ओर हाथ बढ़ाने लगे। इसलिए छायावादी काव्य में सर्वत्र रत्नच्छायाव्यतिकर के दर्शन न पाकर कुछ उस्तादी ठाट वालों ने उस पर कड़ी टीका-टिप्पणी की। रूढ़ प्रयोग की सरणि पद्धति जानी-पहचानी होती है और प्रयोजनीय प्रयोग व्यक्तिवादी अधिक होते जाते हैं। इसलिए ऐसी किसी रचना का मर्म उद्घाटित करने में सहृदय को भी अधिक समय लगाना पड़ता है, झटिति प्रयोज्य-साध्य तक नहीं जाया जा सकता। प्रवीण भावक की मति कभी कभी जकने लगती है। घनआनंद की रचना की विशेषता उद्घाटित करते हुए जो यह कहा गया था क 'ह्याँ प्रबीनन की मति जाति जकी' उसका हेतु यही है कि व्रजी के पारंपरिक वाग्योगों के साथ ही नवीन व्यक्तिगत प्रयोजनीय वाग्योग भी अपनी कृति में इन्होंने बराबर रखे हैं। पारंपरिक रूढ़ वाग्योग तो परिचित होते हैं, 'जग की कविता' में उनके विनियोग के कारण कोई कठिनाई नहीं थी, पर इस अपरिचित नूतनता के कारण कठिनाई आ खड़ी हुई।

आधुनिक युग में आकर इस प्रकार स्थिति यह हुई कि 'अभ्यास' तो चला ही गया था, निपुणता से भी पराङ्मुखता की प्रवृत्ति जगी। रही शक्ति, सो वह सबमें होती नहीं, दुर्लभ ही होती है वह। पर तत्त्वतः जिनमें वह कहीं थी भी वे भी 'दुलह' बनकर शब्दों की अनमिल बरात लेकर चल पड़े। भारतीय प्रवाह शांत-गंभीर था, फारसीप्रवाह मदमस्त था और अँगरेजी ने प्रमत्त प्रगीत वृत्ति ग्रहण करने को विवश किया। यही कारण था कि प्रभूत काव्यसंपत्ति देनेवाला होकर भी यह छायावाद बहुत समय तक टिक नहीं सका। लाक्षणिक प्रयोगों का सँभालना धनुष-बाण सँभालने से भी कठिन है। पिनाक ऐसे

धनुष के लेने, चढ़ाने, खींचने की परम शक्ति तो भगवदवतार में ही होती है। फिर आकाश के तारे तोड़ना तो सबके लिए और भी कठिन है।

इस प्रवाह की विशेषता इसी में थी कि लाक्षणिक प्रयोग जाने-समझे बोलचाल-रोजमर्रा के न हों, नए हों। नए प्रयोगों के लिए बड़े व्यक्तित्व की अपेक्षा होती है। यही कारण है कि परमार्थतया छायावाद के कृती गिने-चुने कवि ही हो सके। छायावादी कवियों ने जो कुछ कर्तृत्व दिखाया उसके संबंध में विश्लेषण करके किसी ने कहा कि 'उपचारवक्रता के पेटे में इनकी प्रभूत शैलीसंपत्ति आ जाती है। प्राचीन आचार्यों ने सूक्ष्म भेद करने की ऐसी प्रज्ञा का परिचय दिया है कि आधुनिक युग में जो भी नए-नए प्रयोग-विनियोग हो रहे हैं उनकी उपस्थापित विचारणा में प्रायः सबकी समाई हो जाती है।'

छायावाद तक ही लाक्षणिक प्रयोग नहीं रुके। प्रगतिवाद की रूखी-सूखी प्रयोगपद्धति से घबराकर सीधा प्रयोगवाद ही सामने आ खड़ा हुआ। लाक्षणिक प्रयोगों की ओर झुकने का अर्थ ही होता है कि प्रत्येक कर्ता अपने व्यक्तित्व को अधिक से अधिक उभारने का इच्छुक हो। साहित्यिक ही नहीं कोई असाहित्यिक भी यदि लाक्षणिकता का पल्ला पकड़ेगा तो व्यक्तित्व उभरकर रहेगा। कबीर ऐसे संत भी जब उलटबाँसियों में लाक्षणिकता लेकर सामने आते हैं तब उनका व्यक्तित्व उभरकर आता है। भक्ति के संप्रदायों के समानांतर जब नाना प्रकार के निर्गुनिया पंथों का प्रसार हुआ तो वहाँ आचार की नूतनता ही पंथ का स्वरूप स्पष्ट पृथक् करने में सहायक हुई। आचार की नूतनता में साधना की ही नवीन सरणि नहीं थी, कहनी भी नवीन आचरण वाली थी। इसी से प्रत्येक पंथ के कम से कम प्रवर्तक अपनी कहनी से भी नवीन दिखाई पड़ जाते हैं। सबके कहने का ढंग अलग-अलग है। इसी से पंथ में व्यक्तित्व का प्राधान्य है। आचार की पृथक्ता है, कहनी की पृथक्ता है अर्थात् अभिव्यक्ति की शैली की भी नवीनता है, उक्ति की भी पृथक्ता है। भले ही दार्शनिक विचार की संप्रदाय-जैसी नवीनता या पृथक्ता न हो।

प्रयोगवादी छायावादियों से भी आगे बढ़े। व्यक्तित्व का अति उभार उनमें हो गया। उन्होंने 'प्रयोग के लिए प्रयोग का प्रयोग' जो करना आरंभ किया। फल यह हुआ कि साहित्य की सर्वसामान्य परंपरा से भी ये दूर होने

लगे। प्रपद्य के प्रयोग में प्रकाव्य का प्रकर्ष नहीं रहा, पद्य का चाहे जो प्रकर्ष समझा-समझाया जाए। नकेन के हाथ नकेल रह गई, साहित्य की विसंष्ठुलतावाली करवट भर ही दिखाई पड़ी।

नई कविता में व्यक्तित्व की ओर ही अधिक झुकाव है। नवीनता के आग्रह से काव्य की सरसता से भी हट जाने के कारण आलोचक इसकी कड़ी-कटु आलोचना-टीका करते हैं। लक्षणा का स्वरूपलक्षण ही है व्यक्तित्व को उभारना। मध्यकाल में लक्षणा का अधिक सहारा लेनेवाले जो स्वच्छंद प्रेमोमंग के कवि दिखाई देते हैं सबका व्यक्तित्व स्पष्ट पृथक् दिखाई देता है। रसखानि आलम, ठाकुर, घनआनंद, बोधा, द्विजदेव सब पृथक्-पृथक् दिखाई देते हैं। अन्यों से या विजातीयों और सजातीयों दोनों की रचनाओं से, इनमें से प्रत्येक की रचना आसानी से पृथक् की जा सकती है। नई कविता के प्रत्येक कवि की रचना में ऐसी विशिष्ट पद्धति प्रायः दिखाई देती है कि थोड़ा सा ध्यान देने से ही प्रत्येक को पृथक् किया जा सकता है। यही स्थिति छायावादियों की भी है। प्रमुख प्रत्येक छायावादी कवि एक दूसरे से स्पष्ट पृथक् है। चाहे मध्यकालीन स्वच्छंदता-मूलक प्रवृत्तिवाले कवि हों अथवा आधुनिक छायावादी या स्वच्छंदतावादी कवि, रूढ़ि चाहे किसी ने न ग्रहण की हो, पर परंपरा थोड़ी बहुत सबकी रचना में घुली-मिली है। सब कुछ नवीन सहसा सामने नहीं आ गया है। पर नई कविता की स्थिति ही पृथक् है। इसमें 'नई' प्रमुख है, कविता गौण हो चली। व्यक्तित्व के उभार के फेर में ऐसा न हो जाना चाहिए कि विकास की सोपानपरंपरा या पद्धति का एकांत लोप ही हो जाए। ऐसा नहीं है कि प्रयोगवादियों या नई कविता के कर्ताओं में कोई प्रशस्त-साध्य प्रयोगवैशिष्ट्य न हो। स्फुलिंग सभी में मिलते हैं, पर सुषम संदीप्ति की सद्भावना सर्वत्र नहीं मिलती। शक्ति हो तो सब कुछ हो सकता है, निपुणता और अभ्यास के न होने पर भी कुछ करामात दिखाई जा सकती है। पर सभी शक्त कहाँ होते हैं, तब फिर निपुणता या अभ्यास मात्र से भी कुछ हो सकता है। निपुणता से भी मुँह मोड़ लेने का फल अच्छा नहीं हो रहा है। इसी से कटु-तिक्त आलोचना होती है। अस्तु।

लक्षणा मुख्यार्थ का बाध करती है। इसी से उसके चक्कर में पड़ने से मुख्यार्थ या प्रकृत प्रसंग से दूर जा पड़ना पड़ा। पर कहा तद्योग से ही सब

कुछ गया है। घनआनंद की रचना में महास्नेही की स्वभावोक्ति ही नहीं, लाक्षणिक प्रयोग या वक्रोक्ति की भी विशेषता है। चारुत्व की अनुसंधित्सा उनमें बहुत प्रबल है। उन्हें काव्यविषय के रूप में सच पूछिए तो बहुत्र एक ही बात कहनी है, प्रिय की प्रेमी से पराङ्मुखता, प्रेमी की अनन्यता, पराङ्मुखता पर भी उसी के प्रति प्रेम। पर उसको कहा गया है विविध प्रकार से और प्रेमी की विरहानुभूति की विविध वृत्तियाँ भी उसमें दर्शाई गई हैं। विषम प्रेम की अभिव्यक्ति के लिए वैषम्यमूलक अलंकार, विपरीत लक्षणा आदि का सहारा लेना हृद्वृत्ति के अनुरूप ही शब्दवृत्ति का समुचित वर्तन प्रतीत होता है। विषमता न होती तो ऐसा कम होता। यहाँ प्रेमी सारी विषमता अपने और प्रिय के व्यवहार के बीच देखता-दिखाता है। उसकी वाणी भीतरी प्रेरणा से बाहर निकलती है, वाणी उन भीतरी वृत्तियों के कारण सामने आती या स्फुट होती है। ऐसा प्रतीत होता है कि वाणी उन वृत्तियों को पूर्णतया व्यक्त नहीं कर पाती है। संकेत ही अधिक देती है, उसके बहुत से पक्ष फिर भी स्पष्ट नहीं होते। वाणी पुकारकर भी मानो बहुत कुछ मौन ही रहती है। अर्थात् जो कुछ कहा गया है वह थोड़ा कहा गया है। सुननेवाले सहृदय को अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ना पड़ेगा, तब कहीं पूरी मूर्ति उसके समक्ष आ सकेगी।

वाणी की वर्णनशक्ति का उल्लेख स्वयम् कवि ने एक सवैये (१९९) में किया है। जो कुछ देखा जाता है वह नेत्रों से, पर कहना पड़ता है वाणी से। इसलिए 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' कहा जाता है। पर घनआनंद का कहना है कि यह सब कहने भर को है। वाणी दृष्ट का क्या अलेख या अदृष्ट का भी संकेत कर सकती है। इसके लिए उन्होंने अपनी रचना में बिंब-विधान या मूर्तीकरण का अवलंबन किया है। विरह का वर्णन होने से हृदय की जलन, आँखों के आँसू, जगत् का स्वार्थमय स्वरूप, श्वासों की प्रक्रिया और एकांत में आकाश के तारे सामने आते हैं। मूर्तिविधान कहीं अग्नितत्त्व का, कहीं जलतत्त्व का, कहीं पृथ्वीतत्त्व का, कहीं वायुतत्त्व का और कहीं पवन और कहीं आकाश के अवलंबन से बात कही गई है। पर विरह में जलन और आँसू के कारण अधिक बिंब इन्हीं दो के आए हैं। घनआनंद नाम के

कारण घन प्रायः सामने आ जाता है उसके माध्यम से वाणी बहुत कुछ कहती है, घन के साथ चातक के चरित्र भी जुड़े हैं। आग भीतर और पानी बाहर। उनके सांकर्य से भी बहुत अधिक कहा गया है। वियोग को विशिष्ट योग के रूप में उपस्थापित करने से सारे विरोध उसमें समा गए हैं। फिर यहाँ वहाँ जगत् भर में व्याप्त अव्यक्त सत्ता या ईश्वर के प्रति भी इंगित होने से रहस्यात्मक स्थिति या संकेत भी श्लिष्ट पदावली में दिया गया है। प्रेम के क्षेत्र का प्रिय और ज्ञान के क्षेत्र का परमात्मा दोनो प्रेमी और ज्ञाता के लिए लगभग एक ही प्रकार से साध्य हैं। हाँ, उनके मार्ग भिन्न भिन्न हैं। इसी से प्रेमपंथ कठिन बताया गया है। ज्ञानपंथ भी कठिन होता है, पर ज्ञानपंथ में गिरने की संभावना रहती है। प्रेमपंथ में पहुँच जाने पर ऐसा नहीं रहता। ज्ञान में अज्ञान दखल दे सकता है, पर प्रेम में अप्रेम नहीं आता, प्रत्युत लोभ या भोग उसी में विलीन हो जाता है।

अब भाव या मनोवृत्ति का भी थोड़ा सा विचार कर लेना चाहिए। साहित्य में आचार्यों ने अकेले भाव का ही नहीं, उनके सांकर्य का भी विचार किया है। यों 'रस' स्थायी भाव के परिपाक से होता है, रसात्मक बोध स्थायी, संचारी भाव, भावसंधि, भावोदय, भावशांति, भावशबलता आदि सबका होता है। इस प्रकार काव्य में तीसरे प्रकार की उक्ति रसोक्ति कही गई है। इसका क्षेत्र व्यंजना है। वर्ण्य का चित्रण स्वभावोक्ति, वर्णनशैली वक्रोक्ति और मनोवृत्तियों की व्यक्ति रसोक्ति से संबद्ध है। घनआनंद में सौंदर्यभेद ही नहीं, भावनाभेद भी है। भावनाभेद शृंगार के विप्रलंभ की सीमा के भीतर ही हैं और ऐसे हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं। विरह प्रेमी को अंतर्मुख कर देता है। उसका फल यह होता है कि उसके चित्त से जगत् हट जाता है, वह केवल प्रिय को भीतर देखता है। उसकी सत्ता भी प्रिय की सत्ता में लीन हो जाती है।

घनआनंद की रचना में भावनाभेद के सूक्ष्म रूपों के विस्तृत रूप में ग्रहण का हेतु यह है कि प्रिय की प्रवृत्तियों और प्रेमी की प्रवृत्तियों में ३६ की स्थिति है। प्रिय बाहर से अत्यंत रमणीय है, उसके रूप के प्रति आकर्षण स्वाभाविक है। यहाँ प्रेम रूप के कारण ही है, प्रिय में जैसी रमणीयता रूप की है वैसी हृदय की नहीं है। उसने प्रेमा की ओर जब देखा था तब उसमें भी प्रीति की

छटा लक्षित होती थी। पर प्रिय की वह 'हेरनि' प्यार के सपने सी थी। उसमें देखने में तो प्यार था, पर वह वस्तुतः था ही नहीं। प्रिय दूर चले गए। उनकी वास भी नहीं मिलती। पुष्प की गंध स्वतः उड़कर जाती है, निसर्ग में तो यह स्थिति और मनुष्य में इतनी कृत्रिमता आ गई कि उसने जिससे प्यार किया उसी से पराङ्मुख हो गया। प्रेम का यह कृत्रिम रूप वस्तुतः प्रीति के उत्कृष्ट रूप को प्रकाशित करने के लिए है। प्रिय के प्रेम में विषमता है, बहुनिष्ठता है, वह लोभ है। लोभ की गणना तमोगुण में है। वहाँ अंधकार ही अंधकार है।

इधर प्रेमी की स्थिति ठीक इसके विपरीत है। प्रिय दूर देश में जा ही नहीं बसा, उसने वहाँ घर भी बसाया, एक नहीं अनेक घर बसाए। प्रेमी के प्रेम को उसने भुला ही दिया, यदि वह याद रखता तो भी कोई बात थी। अन्यों से प्रेम करने पर भी प्रिय यदि प्रेमी की स्मृति रखता तो भी उसे संतोष की भूमि मिल जाती, पर उसने ऐसा नहीं किया। मानो कभी प्रेमी से उसकी भेंट भी नहीं हुई। इतना सब होने पर भी प्रेमी प्रिय को ही चाहता है। सबको भूला है, प्रिय की ही स्मृति उसमें निरंतर है। प्रेमी अपने लिए ही चिंतित नहीं है प्रिय के लिए भी चिंतित है। संसार यदि उसके प्रिय को हृदय-हीन, प्रेमहीन, कठोर आदि कहे तो भी उसकी चिंता का विषय है यह सब। प्रिय की सत्ता और प्रेमी की सत्ता एक हो गई है। इसलिए प्रिय की अकीर्ति उसे कथमपि सह्य नहीं है। यदि वह इसी का ध्यान करे तो भी प्रेमी को संतोष मिल सकता है। पर वह तो कुछ करता नहीं। इसलिए प्रेमी प्रेम की ऐसी ऊँची भूमिका पर आरूढ़ हो जाता है जहाँ केवल सात्त्विकता है, प्रकाश ही प्रकाश है। लोभ, रंजन और प्रेम ये वस्तुतः क्रमशः उच्च सोपान हैं रति के। लोभ बहुनिष्ठ होता है, रंजन प्रतिदान चाहता है और प्रेम को प्रतिदान से भी प्रयोजन नहीं रह जाता।

इस प्रकार घनआनंद की रचना का केंद्रबिंदु वैषम्य है। वहीं से नाना प्रकार के वृत्त खींचे गए हैं। वही बीज है, उसी के अंकुर फूटते, पल्लवित होते हैं। संसार स्वयम् वैषम्यमूलक है। यहाँ विषमता की ही पीड़ा सर्वत्र है। इसमें समरसता लाना प्रिय के वश में नहीं, प्रेमी के ही वश में है। बिना वैषम्य के

सामरस्य की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। जगत् को साम्य नहीं, सामरस्य चाहिए। साम्य से तो प्रलय की स्थिति आ जाएगी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वैषम्य के विस्तार में ही प्रयत्नशील होना चाहिए। सामरस्य वह वृत्ति है जिसमें वैषम्य और साम्य दोनो का लोप हो जाता है। साम्य प्रलय लाता है तो सामरस्य केवल लय। परम प्रेम की सत्ता में व्यक्तिगत प्रेम का लय। घनआनंद के जीवनवृत्त के अनुसार सुजान एक वेश्या थी, उसके प्रति प्रेम शास्त्रीय दृष्टि से निकृष्ट कोटि का ही प्रेम है, फिर भी क्या कारण है कि रीतिबद्ध कवियों के प्रेम की तो कुत्सा की जाती है, पर घनआनंद के प्रेम के संबंध में कोई ऐसा नहीं कहता। शास्त्र के समक्ष सामाजिक औचित्य है, पर इस सामाजिक औचित्य से ऊपर भी कोई औचित्य है। वह औचित्य इतना विशाल और सात्त्विक है कि उसमें सामाजिक अनौचित्य भी समा जाता है। अपनी माता कैकेयी के प्रति भरत ने जो दुर्वचन कहे उनमें साहित्यशास्त्रीय और सामाजिक दृष्टि से अनौचित्य है, पर वह अनौचिन्य नहीं माना जाता क्योंकि वह किसी बड़े औचित्य का अंग है। जहाँ कोई अनौचित्य किसी बड़े औचित्य का अंग होता है अर्थात् औचित्य अंगी और अनौचित्य अंग रहता है वहाँ अनौचित्य पर ध्यान नहीं जाता या ध्यान जाने पर भी वह औचित्य नहीं माना जाता।

घनआनंद का प्रेम इसी प्रकार का है। वेश्या के प्रति प्रेम होने पर भी वह प्रेम सात्त्विक है और प्रेम की परमसत्ता के भीतर है। घनआनंद का कहना है कि प्रेम महासागर है। उसमें श्रीकृष्ण और राधा स्नान करते हैं। उस स्नान के जो छींटे संसार में गिरे उसका कण है सुजान से मेरा प्रेम। भगवत्संबंध के कारण यह प्रेम पवित्र धरातल पर स्थित है। प्रत्युत यह कहना चाहिए कि वह प्रेम साधना के कारण उस उच्च धरातल पर पहुँच गया है। उसकी ज्वाला कल्याणी ज्वाला है। 'आँसू' में 'प्रसाद' ने भी व्यक्तिगत प्रेम को विश्वप्रेम में परिणत कराते हुए उसी कल्याणी ज्वाला का कीर्तन किया है। सूफीमत में भौतिक धरातल पर होनेवाला चरम प्रेम ही सीमा पारकर अभौतिक दिव्य धरातल पर पहुँच जाता है। इश्कमजाजी से इश्कहकीकी हो जाता है। यह भौतिक प्रेम किसी से हो सकता है, अपने परिवार से भी, परकीय

व्यक्ति से भी और सामान्या से भी। जिस प्रेम में प्रेम ही प्रेम हो, प्रिय के भौतिक शरीर से भौतिक संबंध की लिप्सा न हो वह दिव्य हो जाता है। यह दिव्य प्रेम ज्ञान से भी ऊँचा है।

ज्ञान और प्रेम में से प्रेम की ऊँचाई का हेतु स्पष्ट है। ज्ञान बोधस्वरूप है। यह ज्ञान हो जाना कि मैं ही ब्रह्म हूँ कठिन नहीं है, पर उस ज्ञान की अनुभूति कठिन है, सिद्धांत को व्यवहार में लाना दुरूह है। सभी दर्शनशास्त्र-विद् उस ज्ञान को व्यवहार में परिणत करते नहीं देखे जाते। व्यवहार या साधना से उनका लगाव नहीं हो पाता। इस प्रकार कहा जा सकता है कि ज्ञान की अनुभूति में परिणति ही उसकी सार्थकता है। प्रेम स्वयम् अनुभूति है इसलिए प्रेम की उच्च भूमिका पर पहुँचने की संभावना इसमें अधिक है। ज्ञानी संख्या में कम होते हैं और उनमें से भी बहुत कम विज्ञानी होते हैं अर्थात् उस ज्ञान को व्यवहार में उतारकर दिखा पाते हैं। प्रेमी अज्ञान भी होता है, प्रत्युत ज्ञान की दृष्टि से प्रेम अज्ञान ही है। पर प्रेमी अधिक होते हैं और प्रेम को उच्च भूमिका पर पहुँचानेवाले इसी से ज्ञान के माध्यम से उसका आरोहण करनेवालों से कहीं अधिक होते हैं।

इस दृष्टि से यह कहा जा सकता है कि प्रेम ज्ञान से ऊँचा है। पहले ज्ञान हो फिर विज्ञान हो तब कहीं कोई उच्च भूमिका पर आरूढ़ हो और यहाँ अज्ञान रहते भी प्रेम की ऊंची साधना हो जा सकती है। ज्ञान की अनुभूति प्रेम की अनुभूति के समकक्ष ही हो सकती है। ज्ञान की अनुभूति भी रसात्मक होती है, रसो वै सः। पर ज्ञान से होनेवाली अनुभूति से ज्ञान का अहम् रह सकता है। प्रेम की अनुभूति में अहम् का सर्वथा लोप हो जाता है अथवा वह प्रेमास्पद में लीन हो जाता है अथवा वह प्रेमरूप हो जाता है। तुलसीदास ने राम और भरत के मिलन पर कहा है कि दोनो भाई ऐसे मिले कि

कोउ किछु कहइ न कोउ किछु पूछा। प्रेम भरा मन निज गति छूछा।

मन या अंतःकरण के सभी प्रकार उसमें विलीन हो गए—

परम प्रेम पूरन दोउ भाई। मन बुधि चित अहमिति बिसराई।

प्रेम की परा कोटि पर पहुँचकर मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार अंतःकरण के चारो प्रकार समाप्त हो जाते हैं। ज्ञान में अहम् की समाप्ति नहीं हो पाती

या वह पूर्णतया विलीन नहीं हो पाता। इसी से ज्ञान की ऊँची पदवी से स्खलन की संभावना बनी रहती है। पर प्रेम में ऐसा नहीं होता।

ज्ञान हूँ तें आगें जाकी पदवी परम ऊँची रस उपजावै जामैं भोगी भोग जातग्वै।

इस प्रकार घनआनंद की रचना में भावनाभेद तो है ही व्यक्तिगत भावना का परम भावना से अभेद भी है। प्रेम की ऐसी भूमिका पर घनआनंद ने ग्राहक को पहुँचाने का प्रयास जिस रूप में किया है उस रूप में प्रयास हिंदी के श्रृंगारकाल का दूसरा कवि नहीं कर सका। हिंदीकाव्य के भी अन्य कतिपय कवि ही उस दृष्टि से उनकी समानता कर सकते हैं। विश्व के प्रेम-कवियों में भी इस दृष्टि से घनआनंद का ऊँचा और विशिष्ट स्थान है। सचमुच उनकी रचना ने ही उन्हें बनाया है, उसकी साधना में वे भावाविष्ट जो रहा करते थे, उनके लिए प्रेम साधना था, साध्य भी वही था—

लोग हैं लागि कबित्त बनावत मोहिं तौ मेरे कबित्त बनावत।

वाणी-वितान भवन
ब्रह्मनाल, वाराणसी-१
विजया, २०२३ वि०

विश्वनाथप्रसाद मिश्र

प्रतीकानुक्रम

घनआनंद-कबित्त

(भाष्येंदुशेखर)

द्वितीय आनन

घनआनंद-कबित्त

(भाष्येंदुशेखर)

[१०१ से २०० तक]

(छप्पय)

कहियै काहि जनाय हाय जो मो मधि बीतै।
जरनि बुझौं दुखजाल धकौं निसिवासर ही तैं।
दुसह सुजान बियोग बसौं ताही सँजोग नित।
बहुरि पर नहिं समै गमै जियरा जित को तित।
अहौ दई रचना निरखि रीझि खीझि मुरझौ सुमन।
ऐसी बिरचि बिरंचि को कहा सरयौ *आनंदघन*।१०१।

प्रकरण—विरहिणी अपने विरह की विषम स्थिति का उल्लेख दैव को संबोधित करके कर रही है। सृष्टि का निर्माण ब्रह्मा ने सप्रयोजन ही किया होगा। पर यह नहीं पता चल रहा है कि मुझ जैसी विषम परिस्थिति में पड़ी विरहिणी के निर्माण से उसके किस प्रयोजन की सिद्धि हो रही है। मेरे मन में जो संवेदना हो रही है उसे किससे कहूँ—रातदिन जलन और दुःख। वियोग भी है और नित्यसंयोग भी है, न समय बीतता है और न प्राण ही स्थिर रह पाते हैं। ब्रह्मा की यह रचना ऐसी है कि उसकी विलक्षणता से मन खिचता भी है और उससे हटता भी। विरोधी तत्त्वों का एक साथ ऐसा मेल, कैसी बेमेल स्थिति है।

चूर्णिका—*कहियै* = कहूँ। *काहि* = किससे। *जताय* = बताकर, ठीक-ठीक समझाकर। *मो०* = मेरे मन में, अंतःकरण में। *जरनि०* = जलन से बुझती हूँ, ज्यों-ज्यों ज्वाला बढ़ती है शिथिल पड़ती जाती हूँ। *दुख०* = दुख के समूह द्वारा प्रज्वलित होती हूँ, तपती हूँ। *दुसह०* =

असह्य सुजान के वियोग के ही संयोग में रातदिन रहती हूँ। *बहरि०* = समय किसी प्रकार कटता नहीं, समय निकलता नहीं। *गमै०* = चित्त इधर-उधर भटकता ही रहता है। *रीझि* = संयोग में प्रिय के रूप पर मुग्ध होकर। *खीझि०* = वियोग में विरह-दुख से व्याकुल होकर। *मुरझौ* = शिथिल पड़ गया। *बिरंचि* = ब्रह्मा, ईश्वर। *सरयौ* = काम निकला, क्या लाभ हुआ, किस प्रयोजन की सिद्धि हुई।

तिलक—हे दैव, मेरे अंतःकरण में जो बीत रही है, जो विषम स्थिति उत्पन्न हो गई है, उसे किससे समझाकर कहूँ। संसार में कोई समझने-वाला नहीं दिखाई देता। विरोधी स्थिति हो रही है। जलन से प्रज्वलित होना चाहिए, पर मैं बुझती जा रही हूँ। शिथिलता बढ़ती जा रही है। दुखजाल में बँधकर कोई सिमटता है, पर मैं प्रदीप्त हो रही हूँ, फैल रही हूँ। दुखों में पड़ी तप रही हूँ। मुझे प्रिय सुजान का ऐसा वियोग जो कठिनता से सहा जा सके सहना पड़ रहा है। नित्यवियोग है, उसी में स्थित हूँ। पर उस वियोग से भी पार्थक्य नहीं है। वियोग का ही नित्यसंयोग है। प्रिय का नित्यवियोग, वियोग का नित्यसंयोग। सुजान-वियोग का संयोग होने से सुजान का भी नित्यसंयोग है। उन्हीं से वियोग संबद्ध है। उनका ध्यान वियोग में बना ही रहता है। फल यह है कि समय किसी प्रकार कटता नहीं। समय कटने के लिए चित्त की स्थिरता या विश्रांति अपेक्षित होती है और यहाँ चित्त यहाँ-वहाँ भटकता फिरता है। ऐसी विलक्षण रचना देखकर मेरा मन रूपी पुष्प रीझा भी और खीझा भी और मुरझा गया, शिथिल होकर। ब्रह्मा की वह भी रचना है जो प्रिय के अद्भुत सौंदर्य में है और उसी की यह भी रचना है जो मेरी विषम परिस्थिति में दिखती है। जिज्ञासा इतनी ही होती है कि प्रिय के सौंदर्यनिर्माण का तो प्रयोजन हो सकता है। बहुतों के नेत्र उससे सफल होते हैं। पर मेरे निर्माण से, मेरी परिस्थितियों के ऐसे निर्माण से उसके किस प्रयोजन की सिद्धि होती है, मुझे कुछ भी भासित नहीं हो रहा है।

व्याख्या—*कहियै०*—मेरे अंतःकरण की जो स्थिति है वह केवल अनुभवगम्य है। वाणी से कुछ कहा नहीं जा सकता। यदि कहा भी जाए

तो उसे समझनेवाला कोई नहीं है। इस प्रकार का अनुभव किसी को कभी हुआ हो तो वह समझ भी सके। संसार में तो कोई है नहीं जो इसे समझे। अतः दैव ही इसे समझे, अनुभव करे तो करे। *जरनि०* = जलन से बुझने की प्रक्रिया न होनी चाहिए। बुझाना कार्य तो जल का होता है। जलन स्वयम् नहीं बुझती, बुझानी मुझे है। जलाती तो है ही, बुझाती भी है। जलना भी और बुझना भी। विरह की आग भी सहना और उसकी प्रचंडता से दिन प्रतिदिन शिथिल होना। दुःख के जाल में कसी हूँ, पर साथ ही प्रदीप्त हो रही हूँ। जाल का कार्य किसी को कसकर विवश करने का होता है, पर यहाँ मैं विवश व्यक्ति की भाँति सिमट नहीं रही हूँ और भी फैलती जा रही हूँ। शरीर नहीं फैल रहा है, मन से फैल रही हूँ। मन एक स्थान पर न रुककर न जाने कहाँ-कहाँ मारा-मारा फिर रहा है। दुख से उसकी चंचलता कम न होकर बढ़ती ही जा रही है। यह प्रक्रिया रात-दिन हो रही है, निरंतर हो रही है। प्रिय का वियोग एक तो दुस्सह है, दूसरे नित्य है। उस वियोग से छुटकारा होता ही नहीं। प्रत्युत अब तो उसी वियोग में बस रही हूँ। प्रिय का संयोग भी मिला है, प्रिय के वियोग का संयोग भी मिला है। प्रिय अजान भी नहीं है सुजान है। मैं तो स्वयम् वियोग को दूर करने में असमर्थ हूँ, पर प्रिय सुजान होने से उसे आकर, दर्शन देकर दूर कर सकता है पर वह भी ऐसा नहीं करता। कोई कहीं बसता है सुख-सुविधा के लिए। यहाँ दुःख-दुविधा के लिए ही बसना पड़ रहा है। *बहरि०*— समय निकलता नहीं। जो समय सामने आ गया है, वेदना की विवृति लिए वह सामने से हटता नहीं, वहीं डटा हुआ है। ऐसे समय के कारण चित्त को भारी वेदना होती है। जब समय नहीं हटता तो फिर चित्त ही हट जाए। इसलिए उस समय से अपने को बचाकर वह कभी यहाँ और कभी वहाँ हट जाया करता है *अहो०*—हाय दैव की इस रचना को बहुत ध्यान से देखा। प्रिय के सौंदर्य में उसकी रचना के दर्शन किए। उस पर रीझी। फिर अपनी विरहवेदना या अपने मन की रचना पर ध्यान दिया। उस पर खीझी। जैसे कोई पुष्प खिलता और मुरझाता है वैसे ही मेरे सुमन (पुष्प-स्वमन) की स्थिति है। वह प्रिय दर्शन से प्रसन्न हुआ और आत्मदर्शन

से अब एक हो गया। *ऐसी०*—प्रफुल्ल मन के मुरझाने का कारण मेरी रचना है। सुना है कि ब्रह्म आनंदस्वरूप है वह आनंदघन है, पर उसने मेरी रचना द्वारा किस आनंदघनत्व की सिद्धि की, समझ में नहीं आता। उसका प्रयोजन तो आनंद की वृद्धि, उसकी उपलब्धि ही होनी चाहिए। तो क्या यह माना जाए कि अपने मनोरंजन के लिए, अपने हास के लिए मेरे दुःख की, मेरे दुःखमय जीवन की सृष्टि की है। क्या दूसरों के दुःखों से आनंदित होना यही उसका आनंदघनत्व है।

पाठांतर—*काहि* = कहा। *जरनि* = जरिन।

(सवैया)

प्यार को सो सपनो हँसि हेरनि ऐसी चितौनि कहौ कहाँ पाई।
बंक महा बिष भोवन प्रान सुधाई सनी मुसक्यानि सुधाई।
यों घनआनँद चेटक मूरति लै जब अंतरज्वाल बसाई।
कैसें दुराइहैं जान अमोही मिलाप मैं एतियौ ऊखिलताई।१०२।

प्रकरण—विरहिणी अपनी विरहव्यथा और प्रिय की असहृदयता का विवरण दे रही है। उसका कहना है कि प्रिय की चितवन से ही मैं आकृष्ट हुई। उसमें मुझे प्यार के दर्शन हुए। पर उस प्यार का आवरण अब नहीं दिखता। भूमंडल में ऐसी चितवन जिसमें देखनेवाले को प्यार का भ्रम हो पर वहाँ प्यार न हो, कहीं नहीं मिलती। चितवन टेढ़ी थी, जहर से भरी थी, पर मुसकुराहट में सीधेपन का अमृत था। दृश्य मुसकुराहट में बाहर कुछ था और चितवन में भीतर कुछ था। फिर भी उनकी वह जादूभरी मूर्ति मैंने ज्वालादग्ध हृदय में स्थापित कर रखी है। क्या यह संभव है कि मैंने उन्हें तो हृदय में बसा रखा है पर वे ऐसे गहरे मिलाप में भी अपने अजनबीपन को बनाए रख सकेंगे।

चूर्णिका—*प्यार०* = प्यार के स्वप्न की भाँति, जिसमें प्रेम का लेश भी नहीं, केवल उसका भ्रम है। *बंक* = वक्र, टेढ़ी। *बिष०* = (प्राणों में) विष मिला देनेवाली। *सुधाई०* = अमृत से सनी हुई। *सुधाई* = सीधापन, भोलापन। *चेटक* = जादूभरी, मायाविनी। *अंतर* = अंतःकरण, मन।

चेटक० = उनकी मायाविनी मूर्ति का ध्यान क्या किया मन में ज्वाला ही समा गई। *दुराइहैं* = छिपा रखेंगे। *मिलाप* = मेल, संयोग। *ऊखिलताई* = अमेल, अमिलाप। 'ऊखिल' व्रज का खास शब्द है जिसका अर्थ अजनबी होता है। *कैसें०* = मिलाप में अमिलाप (अजनबीपन) कब तक बनाए रहेंगे। जब मैं निरंतर उनका ध्यान करती हूँ और उनके विरहताप में तप रही हूँ तब उन्हें अपनी उदासीनता हटानी ही पड़ेगी।

तिलक—विरहिणी किसी से या अपने आप प्रिय के विषम चरित के विषय में और अपने विश्वास के संबंध में कुछ उद्‌गार व्यक्त कर रही है। उसका कहना है कि यह नहीं समझ में आता कि प्रिय ने जिस प्रकार की चितवन प्राप्त की वह उन्हें आखिर कहाँ से मिली। संसार में ऐसी चितवन कहीं देखी सुनी नहीं गई। उस चितवन की विशेषता यह है कि देखने में तो ऐसा जान पड़ा कि उसमें प्रेम की पूर्ण सत्ता है, पर वास्तविकता यह है कि उसमें प्रेम का केवल स्वप्न था। उनके प्रेम की प्रत्यक्ष प्रतीति उनके हँसकर देखने से हो रही थी। पता नहीं वह हँसकर देखने की चेष्टा कैसी थी। क्या वह प्रेम से प्रेरित नहीं थी। तो क्या हँसकर देखना और किसी प्रेरणा से था। उनकी चितवन और मुसकुराहट में विरोधी तत्त्व के दर्शन इस प्रकार हो रहे थे कि एक ओर तो चितवन में बंकिमा थी और दूसरी ओर मुसकुराहट में सीधापन था। चितवन विष में सनी ही नहीं थी उसमें जी को अत्यंत विष में सान देने की भी शक्ति थी। उधर मुसकुराहट में सीधापन ही सना नहीं था वह जी को अमृत से सानने की भी शक्ति वाली थी। चितवन से जी विषमय होकर मरने-मरने हो गया और मुसकुराहट से वह फिर जीने लगा। इस प्रकार उनकी मूर्ति में विलक्षण जादू दिखाई पड़ा। चितवन में प्रेम की सत् प्रतीति पर हँसने में उसका असत् आभास, एक ओर बिषो-वक्रता और दूसरी ओर अमृत-सरलता। ऐसी आनंदघन (सत्) और जादूभरी मायाविनी (असत्) प्रिय की मूर्ति जब मैंने देखी तब बाहर तो शीतलता का अनुभव किया पर भीतर तो ज्वाला ही समा गई। अमृत का प्रभाव ऊपर रहा और विष का प्रभाव भीतर हो गया। पर मुझे विश्वास है कि जब उनकी मूर्ति हृदय में बसी है तब उनका मुझसे अत्यंत

मिलाप है, नित्यमिलाप है, फिर भी वे किस प्रकार अमिलाप की स्थिति बनाए रहेंगे। यह संभव नहीं है कि भीतरी मिलाप में अमिलाप बना रहे। ऊपरी मिलाप, शारीरिक सांनिध्य होकर ही रहेगा।

व्याख्या—*प्यार*०—उनकी चितवन में सत्तात्मक स्थिति होने पर भी प्रेम की असत्ता का आभास समझ में नहीं आता। दर्शन का सिद्धांत है कि 'नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः', जिसकी सत्ता होती है उसका अभाव नहीं होता, जिसकी असत्ता होती है उसका सद्भाव नहीं होता। दोनों एक साथ नहीं हो सकते। सत्ता और असत्ता की एक साथ स्थिति संभव नहीं। बिना किसी प्रकार की सत्ता के उस सत्ता का आभास भी नहीं हो सकता। पर विलक्षणता यही है कि इन दोनों विरोधी तत्त्वों का एक साथ होना असंभव होते हुए भी उनकी चितवन ने उसे संभव कर दिया। यह कैसे संभव हुआ। घनआनंद निंबार्क-संप्रदाय में थे उसके अनुसार सिद्धांत पक्ष में द्वैताद्वैत माना जाता है। द्वैत भी और अद्वैत भी। द्वैत (असत्) और अद्वैत (सत्) दोनों की साथ स्थिति विलक्षण है। प्रिय की स्थिति, उसके स्वरूप का आभास इसी प्रकार उभयात्मक, अतः विलक्षण है। *बंक*०—विरोधात्मक स्थिति का प्रत्यक्षीकरण चितवन की वक्रता और मुसकुराहट के सीधेपन में भी है। अथवा पहली पंक्ति में केवल चितवन की विरोधात्मक स्थिति का निरूपण है और यहाँ मुसकुराहट की विरोधात्मक स्थिति का। यह मुसकुराहट है तो सीधेपन की और अमृतमय पर यह बड़ी पैनी है तथा प्राणों को विषमय कर देनेवाली है। महा का अन्वय चाहे बंक से करें चाहे विष से। महा विष में, हालाहल में लीन कर देनेवाली मुसकुराहट। जब कोई वस्तु किसी रस में सनती है तब उसमें रसमयता बाहर से भीतर की ओर होती है। इसलिए जो वस्तु सनती है उसका कण-कण सिक्त नहीं भी होता। पर जो वस्तु किसी रस से भो जाती है उसका अंतस भींग जाता है। आटा जल से सनता है और चने जल में भोए जाते हैं। विष प्राणों की रगरग में पहुँच गया है। *यौं घनआनँद*०—यहाँ भी विरोधात्मक स्थिति है। मूर्ति घनआनंद भी है चेटक भी। आनंदघनत्व और मायामयत्व में विरोध है। प्रिय की ऐसी विरोधी तत्त्वों से युक्त मूर्ति मैंने हृदय की

ज्वाला में बसाई है। बसती नहीं थी वह मूर्ति, वह उखड़ जाना चाहती थी, उसमें बसने की वृत्ति नहीं थी। वह स्वयम् कहाँ बसी, मैंने जबर्दस्ती उसे बसाया। इसी से बसाया कि देखें यदि उसमें मिलाप की वृत्ति नहीं है तो कदाचित् मेरी मिलापवृत्ति से उसमें परिवर्तन हो जाए। कैसें०—अब देखना है कि मेरे मिलाप में जहाँ अनमिलाप का नाम तक नहीं है वे अपने अमिलाप को कैसे छिपाए रखेंगे। उसका उद्घाटन होकर रहेगा। वे स्वयम् देख लेंगे कि प्रेमिका में कितना मिलाप है और मुझमें कितना अमिलाप। उन्हें भी प्रतीति होगी और अन्यों को भी प्रतीति हो जाएगी। विरोधात्मक स्थिति यहाँ भी है। प्रिय सुजान होकर भी अमोही है। भला कोई सुजान अमोही होकर रह सकता है। मिलाप में भी अमिलाप होने से भी विरोध है। मेरी अंतरज्वाला का क्या कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ेगा। उस ऊष्मा को वे भी छिपा नहीं रख सकते। मेरा मिलाप उनके अमिलाप से कहीं अधिक है, मेरी विरहज्वाला में प्रेम की सर्वत्र स्थिति है, उसमें अप्रेम टिक नहीं सकता। प्रिय को भी प्रेम के लिए विवश होना पड़ेगा।

पाठा०—जब = जल।

(कबित्त, ~~मुक्तक~~)

मिलत न क्यौं हूँ भरे रावरी अमिलताई
हिये मैं किये बिसाल जे बिछोह छत हैं।
प्रीतम अनेरे मेरे घूमत घनेरे प्रान
बिष-भोए बिषम बिसास बान हत हैं।
प्यार मैं परम पूरो सुन्यौ हू न हो सु देख्यौ
जान परी जान ये अमोहिन के मत हैं।
पौन को प्रबेस हो न जहाँ घनआनँद पै
तहाँ लै कहाँ तें बीच पारे परबत हैं।१०३।

प्रकरण—प्रिय के प्रवास की दूरी पर वियोगिनी आश्चर्य प्रकट कर रही है। प्रिय में कितनी विषमता और अमिलाप है। कितना अंतर महदंतर है। इसी पर वह पश्चात्ताप कर रही है और एकांत भाषण में प्रिय को ही संबोध्य करके

अपने उद्‌गार कर रही है। वियोग प्रिय का है, प्रिय में अमिलाप है। इसी से उनके विरह के कारण हुए घाव में भी अमिलाप है। घाव मिलते नहीं, भरते नहीं। उनके विश्वास में विषमता है। इससे प्राणों में स्थिरता नहीं है। वे भी बुझे छोड़कर, मुझसे पृथक् होकर, न जाने कहाँ-कहाँ चक्कर काटते हैं। जो सुना भी नहीं उसे देखना पड़ा इसमें भी अमिलाप, असंगति है। जहाँ वायु का भी प्रवेश नहीं था वहाँ पर्वत बीच में आ गए। यह भी अमिलाप, परम अमिलाप की स्थिति है।

चूर्णिका—*मिलत०* = मिलते नहीं, नहीं पूजते, नहीं भरते। *अमिलताई०*=अमेल रहने की बान से युक्त; अम्ल (खटाई) अर्थात् कपट से भरे हुए हैं। *छत*=(क्षत)। *मिलत०*=विरह ने जो बड़े-बड़े घाव छाती में कर रखे हैं वे अपनी अनमेल बान से युक्त होकर भरते ही नहीं। *अनेरे*=दूर या विलक्षण। *घूमत*=गहरे चक्कर में पड़े हैं। *बिष०*= विष में डुबोए हुए; विष में बुझे हुए। *बिसास०*=विश्वासघात के बाणों के प्रहार से घायल होकर। *प्यार०*=प्रेम में तो आप खूब ही प्रवीण निकले। जो देखने को मिला वह प्यार में कैसा परिपूर्ण रूप देखने को मिला। *सु*= सो, वह। *जान परी*=समझ में आ गया। *जान*=सुजान; प्रिय। *मत*=रंग-ढंग, सिद्धांत। *हो*=था। *पारे*=डाल दिए। *पौन०*=जहाँ (हम दोनों के बीच) वायु का भी प्रवेश नहीं हो सकता था वहाँ आपने पर्वत डाल दिए। (इतनी दूर जा बसे कि बीच में पर्वत पार करके जाने की स्थिति आ गई)।

तिलक—आपके अमेल की व्याप्ति इतनी अधिक हो गई है कि वह आप तक ही न रहकर आपके वियोग के साथ भी लग गया और उस वियोग ने जो घाव कर रखे हैं उनमें भी वह अमिलाप आ डटा है। कितना ही प्रयत्न किया कि ये घाव मिल जाएँ, भर जाएँ, पर मेरे हृदय में एक नहीं अनेक घाव हो गए हैं और बड़े हो गए हैं। जो घटने का नाम नहीं लेते, बढ़ते ही रहते हैं, विशाल होते जाते हैं। कारण भी स्पष्ट है। किसी घाव में 'अम्ल' पड़ता रहे तो वह बढ़ता है। आपके कपट की अम्लता से ये भरते नहीं। पूजने का नाम नहीं लेते। ये भरें कैसे, इनमें तो अम्लता ही भर गई है। इस अम्लता से इनमें अमिल स्थिति बन गई है, चिर हो गई है।

घाव भरने में एक स्थिति यह भी सहायक होती है जिससे उसमें फिर किसी प्रकार का आघात न हो। यहाँ स्थिति यह है कि विश्वासघात के भीषण बाणों से, विष में बुझे बाणों से ये घाव हुए हैं। विसैले बाण के घाव जल्दी भरते नहीं, घाव में घाव होने से घाव पूजते नहीं। घाव में जो स्थिति है सो तो है ही मेरे प्रवासी विलक्षण प्रिय के इन बाणों के कारण मेरा जी भी चक्कर काटता रहता है। विष का असर घाव में ही नहीं जी पर भी है, रक्त के माध्यम से वह प्राणों तक पहुँच गया है। प्रिय ने मेरे प्रति जो आचरण किया है वह प्यार में 'पट' है (विपरीत लक्षणा से-प्यार से रहित)। परम या पटम दोनों से एक ही स्थिति का बोध होगा। पटम, पटम्, पट=पट पड़ा हुआ। पूरा पट पड़ा हुआ। परम=परं, परं पूर्ण, शून्य। जिसके सुनने का कभी संयोग नहीं हुआ उसे देख लिया। हे सुजान, अब समझ में आया कि अमोहियों का रंग-ढंग या सिद्धांत ही ऐसा है। जिनमें मोह का ममत्व होता है वे पृथक् होने पर भी निकट आते हैं। पर जिनमें ममत्व या अपनत्व नहीं होता वे अति निकट रहकर भी दूर रहते हैं या दूर हो जाते हैं। ज्ञानी के लिए, सुजान के लिए, प्रेम अज्ञान है, मोह है, भ्रम है। इसलिए ज्ञानी हुए अमोही। इसी से उनके व्यापार में सहृदयता होती ही नहीं। प्रिय और मेरे बीच इतना सांनिध्य था कि साधारण अंतराल में भी जिस वायु का प्रवेश हो सकता है वह भी हमारे बीच नहीं थी। पर प्रिय के अमोह, अमिलाप और विश्वासघात ने हम दोनों के बीच पर्वत लाकर खड़े कर दिए हैं।

व्याख्या—*मिलत*०—सब प्रकार के उपाय कर लिए गए। एक भी नहीं शेष है। औषध लगाने का स्थान नहीं है। घावों पर तो अमिलताई, अम्लता का आवरण है, उनमें घुसी हुई, फँसी हुई है वह। स्थान मिले तो कुछ उपचार भी हो सके। किसी घाव के पुजने में कई तत्त्व काम करते हैं। घाव पर औषध लग सके, उसमें जो विकार है वह दूर होता रहे, वे ऐसे स्थान पर हों जहाँ घाव शीघ्र अच्छे हो सकते हैं। कहते हैं कि जो घाव नेत्रों से अदृष्ट होते हैं वे शीघ्र अच्छे नहीं होते। जैसे पीठ पर के घाव।

शरीर के भीतर के घाव तो और भी विकट होते हैं, भीतर के घाव यदि मर्मस्थान पर हों तो फिर क्या कहना है। हृदय के घाव सबसे अधिक भीषण होते हैं। 'बिसाल' बड़े ही नहीं विष+आलय भी बने जा रहे हैं। *प्रीतम*०—प्रियतम मेरे अ+नेरे (निकट नहीं हैं), विलक्षण भी हैं। प्रिय के निकट न होने पर उन्हें पाने के लिए प्राण छटपटाते हैं। यदि कहीं किसी को ऐसी चोट लगे कि वह समझे कि अब मेरे प्राण नहीं बचेंगे तो फिर प्रिय की सुध उसे और भी अधिक आने लगती है। विष में डुबोए और तीखे विश्वासघात के बाण से तो और भी चक्कर आने लगा है। चारों ओर विष ही विष है, 'बिसाल' में विष+आल (आलय)। बिसास में विष+आस (स्थिति, निरंतर निवास) विष का निरंतर निवास है। विषम=विषं, केवल 'विष' है। *प्यार*०—प्रिय प्यार में पूरा पट है, प्यार से रहित है। संसार में आज से पूर्व किसी के प्रिय ने कहीं, कभी ऐसा विश्वासघात नहीं किया। ऐसा परम पूर्ण (शून्य) प्यार जैसा प्रिय ने मुझसे किया वह अश्रुतपूर्व था। ऐसे मतवाले केवल अमोही होते हैं। सुजानों का, ज्ञानमार्गियों का मत ऐसा ही है। यहाँ ज्ञानमार्ग की निंदा भी प्रयोजनीय है। *पौन*०—पवन सूक्ष्म तत्त्व है, उससे स्थूल जल है, सबसे स्थूल पृथ्वी तत्त्व है। पर्वत पृथ्वी तत्त्व है। आनंदघन में सूक्ष्मता ही होनी चाहिए, पर बीच में वह स्थूलता आई तो कहाँ से। बीच पड़ना, अंतर डालना भी है। दुःख से पहाड़ बीच में आ खड़े हुए।

पाठा०—*बिसाल*=बिलास। *परम*=पटम।

आनाकानी आरसी निहारिबो करौगे कौ लौं
कहा मो चकित दसा त्यों न दीठि डोलिहै।
मौन हूँ सों देखिहो कितेक पन पारिहौ जू
कूक भरी मूकता बुलाय आप बोलिहै।
जान *घनआनँद* यौं मोहिं तुम्हें पैज परी
जानियेगी टेक टरें कौन धौं मलोलिहै।

रूई दियें रहौगे कहा लौं बहराइबे कौं
कबहूँ तो मेरियै पुकार कान खोलिहै।१०४।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय की उदासीनता के संबंध में अपना मत दे रही है। उसे विश्वास है कि प्रिय की उदासीनता टिक न सकेगी। प्रिय के मौन का भी भंग होकर रहेगा, उसका विश्वास है। प्रिय का मौन और प्रेमिका के मौन में होड़ लगी है। प्रिय की मूकता में कोई पुकार अर्थात् वेदना नहीं है, प्रेमिका की मूकता में वेदना है। इस वेदना का प्रभाव भी प्रिय पर होकर रहेगा। यदि प्रिय ने उदासीनता और मौन की टेक ली है तो प्रेमिका में भी न कहने की टेक है। टेक प्रिय की ही रहेगी। पाँच ज्ञानेंद्रियों में से प्राण और त्वचा का संबंध नैकट्य से है। दूर पर रहने से तीन ही ज्ञानेंद्रियाँ प्रभावित हो सकती हैं नेत्र, वाणी और श्रवण तीनों को प्रभावित करके वह रहेगी ऐसा उसे विश्वास है। नेत्र पर प्रभाव शीघ्र पड़ सकता है। उसकी अपेक्षा वाणी में देर लगती है। सबसे अधिक देर श्रवण पर प्रभाव डालने में लगती है। उत्तरोत्तर काठिन्य को भी वह दूर कर सकने का विश्वास लिए कह रही है।

चूर्णिका—*आनाकानी*=(अनाकर्णन) सुनी अनसुनी करना। *आरसी*=(आदर्श) दर्पण। *आनाकानी०*=आनाकानी का [या से] दर्पण कब तक देखते रहेंगे। (सुनी अनसुनी करते रहेंगे)। *कौ*=कब। *कहा*=क्या। *मो*=मेरी। *चकित*=चकित कर देनेवाली। *त्यों*=ओर। *न दीठि०*=क्या दृष्टि घूमेगी ही नहीं। *मौन हू०* =मौन रह कर देखूँगी। *कितेक०*=कब तक प्रतिज्ञा पालन करते रहेंगे। आपने मुझसे विमुख रहने की जो प्रतिज्ञा कर ली है, देखूँ वह कबतक निभती हैं। *कूक*=पुकार। *मूकता*=मौन। *छाप*=स्वयम्, खुद। *कूक०*=मौन से भरी (मौन में होनेवाली) मेरी पुकार या पुकार से भरी मेरी मूकता आपको बुलाकर तब कहीं स्वयम् बोलेगी। (मौन की मेरी पुकार से आपको अपनी प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ेगी)। *पैज०*=प्रतिज्ञा अर्थात् होड़। *जानियैगी*=जानूँगी, समझूँगी, देखूँगी, मुझे देखना है। *टेक*=प्रतिज्ञा। *मलोलिहैं*=पछताएगा। *बहराइबे कौं*=बहलाने को, बधिर बने रहने की। *मेरियैं*=मेरी ही।

तिलक—आनाकानी करने या टालने के दर्पण को आप कबतक देखेंगे। जब कोई किसी को टालना चाहता है, उसकी ओर उन्मुख नहीं होना चाहता तब वह किसी दर्पण में अपने को ही देखने लगता है, जिसे देखना है उसकी ओर से दृष्टि फेर लेता है। आप मेरी ओर से दृष्टि फेरकर केवल टालने को, विमुखता को ही देख रहे हैं। पर कबतक उधर देखेंगे। इधर न देखें यह हो नहीं सकता। क्योंकि दर्पण में आप जो कुछ देखते होंगे वह किसी आकर्षक अपने रूप को ही देखते होंगे। मेरी विरहदशा भी आकर्षक है, चकित कर देनेवाली है, इधर खिचना ही होगा। आप इधर न देखें ऐसा हो नहीं सकता। आपकी दर्पण पर टिकी दृष्टि एक बार इधर देखकर ही रहेगी, वहीं टिकी रह नहीं सकती। ऐसा मेरा विश्वास है। आपने मुझे न देखने का व्रत तो लिया ही है, मुझसे न बोलने का भी व्रत ले रखा है। आपके इस व्रत के संबंध में भी देखना है कि आप अपनी मौन रहने की प्रतिज्ञा का पालन कितना करेंगे। यदि आपने मौन का व्रत ले रखा है तो मेरी विरहवेदना को सहने की वृत्ति भी मौनवाली ही है, चाहे जितनी वेदना हो पर वह प्रकट नहीं कही जा रही है, उसे चुपचाप सहा जा रहा है। पर प्रत्येक वेदना अभिव्यक्ति की वाणी लिए उठती है, इसलिए वेदना की वह वाणी मेरे मौन में पुकार बनकर भरी हुई है। यह वाणी या पुकार इतनी प्रबल है कि पहले आपको बुलाएगी, फिर वह स्वयम् बोलेगी। मेरी वेदना की आह निकले इसके पहले ही आपको मेरी वेदना के संबंध में सहानुभूति की वाणी बोलनी ही पड़ेगी। हे सुजान आनंदघन यदि आपने प्रतिज्ञा कर ली है तो मेरी भी प्रतिज्ञा है। इसकी होड़ लग गई है। देखना है कि अपनी प्रतिज्ञा के टलने पर पहले न जाने कौन पछताए—आप या मैं। आपने न बोलने का ही नहीं, न सुनने का भी व्रत ले रखा है। बहरे बने रहने या न सुनकर बहला देने की रूई से आपके कान कबतक बंद रह सकेंगे। मेरी मौन में की पुकार आपके कानों की यह रूई हटा देगी। आपके कान खुलकर रहेंगे। मेरी दशा आपके नेत्रों को, मेरी मौन-वृत्ति आपकी वाणी को और मेरी मौन में की पुकार आपके कानों को निश्चित ही प्रभावित करेगी।

व्याख्या—आनाकानी०—जो किसी को टालकर दूसरी ओर या दर्पण

में देखता है वह अपने ही रूप को देखता है, अपने ही स्वार्थ से संबद्ध रहता है, परार्थ की ओर उन्मुख नहीं होता। आप इस प्रकार अपने को ही कबतक देखेंगे। अपने को देखने में तभी चकित होने की स्थिति आती है जब कोई बहुत बड़ा परिवर्तन हो जाए। पर ऐसा प्रायः नहीं होता। अपना रूप देखने-वाले दूसरों को चकित कर देनेवाले अपने रूप को सँवारते-सजाते रहते हैं। पर जो दूसरों को चकित करना चाहता है उसे भी चकित होना पड़ता है। आप चाहे मेरी वेदना से संस्पर्श न भी कर सकें, पर इतना तो करना ही पड़ेगा कि मेरी अजीब वेदना को देखने के लिए ही अपनी दृष्टि इधर फेरें। आप और कुछ नहीं तो मेरी वेदना का तमाशा देखने के लिए ही तमाशबीन की भाँति इधर दृष्टि करें, इधर देखना तो पड़ेगा ही। आप यदि समझते हों कि ऐसा न होगा तो ऐसा संभव नहीं। आपके टालने में कृत्रिमता है, बनावट है। विरहदशा में वास्तविकता है। इस घोर सत्य के संमुख वह बनावट असत् नहीं टिका रह सकता। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' का सिद्धांत अटल है। *मौन*०—हो सकता है कि किसी प्रकार तमाशा देखने के लिए ही सही आपकी दृष्टि इधर फिरे, फिर भी आप मौन ही साधे रहें कुछ न कहें तो यह प्रतिज्ञा भी नहीं रह सकती। मैंने भी व्रत ले लिया है कि चाहे वेदना कितनी ही तीव्र हो उसे बाहर प्रकट नहीं करना है। वेदना की पुकार भीतर ही होती रहती है और संचित होती रहती है। मेरे मौन में जो पुकारें भरती जा रही हैं वे आपके मौन में नैसर्गिक रूप में व्यक्ति चाहनेवाली वाणियों को संवादी स्वर की भाँति प्रेरित करेंगी। मैंने तो पुकारों को व्यक्त न करने का अभ्यास कर लिया है, पर आप उसके अभ्यस्त नहीं हैं। इसलिए आप अनजाने ही बोल बैठेंगे। आपके बोल बैठने पर मेरी आहें भी उभर पड़ेंगी, बाँध टूट जाएगा। प्रतिज्ञा पहले आपकी टलेगी, न देखने की भी और न बोलने की भी। *जान*०—आप सुजान हैं तो मैं अजान हूँ, आप आनंदघन हैं तो मैं निरानंद हूँ। होड़ में एक ओर ज्ञानी, आनंदी जीव है, दूसरी ओर मूर्ख और दुःखी है। प्रतिज्ञा ज्ञान का निर्णय करने में, तर्क-न्याय में भी होती है। पर कभी-कभी हेत्वाभास के कारण वह घटित नहीं होती। तब ज्ञानी को पछताना पड़ता है। इधर अज्ञान व्यक्ति केवल अपनी भावुकता में रहता है

वह उसका भारी संबल होता है। ज्ञान में सहनशक्ति नहीं होती। अज्ञान में सहनशक्ति प्रबल होती है। इससे पहले आपको पछताना होगा कि मुझे प्रतिज्ञा तोड़नी पड़ी। रूई०—न सुनने की भी आपने प्रतिज्ञा कर रखी है। सुनकर भी आप वधिर बने हैं। वधिरता की रूई ऊपरी है, बाहरी है उसे हटाना ही पड़ता है। आपकी वधिरता मेरी पुकार की तीव्रता से दूर हो जाएगी। वधिर के लिए ऊँची आवाज अपेक्षित होती है। मेरी पुकार इतनी तीव्र है कि वज्रवधिर के कान भी उसे सुन ले सकते हैं। इसलिए आपकी वधिरता इन ऊँची पुकारों के कारण बेकार होकर रहेगी। दूसरे किसी की पुकार से तो आपके कानों पर न कभी प्रभाव पड़ा है न पड़ेगा, पर मेरी ही पुकार ऐसी है जो आपकी वधिरता दूर कर दे।

पाठा०—*आनाकानी* = अनाकनी। *जानियैगी* = देखियैगी। *मेरियै* = मेरियौ।

(सवैया)

घनआनँद जान सुनौ चित दै हितरीति दई तुम तौ तजिकै।
इत साहस सों घन संकट कोटिक आए समाजन कों सजि कै।
मन के पन पूरन पूरि रह्यौ सु भजै कित या बिधि सों भजि कै।
यह देखि सनेह बिदेहदसा अति हीन ह्वै दीन गए तजि कै।१०५।

प्रकरण—विरहिणी विरहदशा की उस पराकाष्ठा का निवेदन कर रही है जिसके कारण घोर संकट भी उसके निकट आकर विवशतापूर्वक लौट जाते हैं। उन संकटों के आने का कारण यह था कि जब उन्होंने देखा कि इसका प्रिय ही इसे त्याग बैठा है तब यह अकेली है और इसी से उन्हें साहस हुआ की ठाट-बाट के साथ आक्रमण किया जाए। पर मन उनसे सामना करने को प्रस्तुत था। फल यह हुआ कि प्रेम की शरीरसंज्ञाशून्य स्थिति के कारण उन संकटों की एक न चली। उनका अनुभव ही नहीं हुआ।

चूर्णिका—*हित०* = प्रेम की रीति आपने त्याग ही दी। *साहस सों* =

साहसपूर्वक। *समाजन०* = समाजों (सेना आदि) को सजाकर आए। *मन०* = मन भी अपनी प्रतिज्ञा पूर्ण करने में डटा रहा। *सु भजै०* = वह (मन) इस प्रकार आपको भजकर (आपसे प्रीति करके) भला भागे भी तो कैसे भागे। वह तो अपनी प्रतिज्ञा से परिपूर्ण है उसे त्याग नहीं सकता। *सनेह०* = प्रेम से मन की विदेहदशा देखकर वे बेचारे (संकट) हार मानकर और लज्जित होकर लौट गए। *अति०* = अर्थात् हार मानकर। *दीन* = बेचारे। तात्पर्य यह कि प्रेम के कारण अपने को ही भूले रहने से मन संकट का अनुभव ही नहीं करता।

तिलक—हे सुजान आनंदघन, चित्त लगाकर एक विचित्र घटना सुनिए। आपने प्रेम का मार्ग एकदम परित्यक्त कर दिया है। इसी से मेरी ओर उन्मुख नहीं होते। जब संकटों को पता चला कि इसकी सहायता करनेवाला इसका प्रिय तक नहीं है तब उन्होंने अपना घोर रूप बनाकर अत्यंत साहसपूर्वक करोड़ों की संख्या में लाव-लश्कर से लैस होकर मुझपर चढ़ाई कर दी। मन ने जब देखा कि बहुत बड़ी सेना सहसा चढ़ाई के लिए चली आ रही है तब उसने भी डटकर सामना करने की सोची। जिस मन ने आपको भजा भला वह भागे भी तो भागकर कहाँ जाएगा। उसकी भागने की दौड़ भी तो आपही तक है। मन ने प्रेम की विदेहमुक्ति की स्थिति में उनसे सामना किया। जब संकटों की सेना ने देखा कि यह मन मेरे प्रहारों का कोई अनुभव ही नहीं करता है और न इसके ऊपर मेरा प्रभाव ही पड़ता है तब वे आक्रमणजन्य श्रम से स्वयम् थक गए और विवश होकर अपना-सा मुँह लिए लौट गए। विरह की देहज्ञानरहित स्थिति के कारण संकटों का कुछ भी अनुभव नहीं होता।

व्याख्या—*घनआनँद०*—आप आनंदस्वरूप हैं आपको संकटों से लेना देना ही क्या। आपके निकट सुखों का समाज है और सुखों की वह सेना इतनी बड़ी है कि संकट उसी में पिस मरें। आपको खेल-तमाशा, चाकचिक्य, कुतूहल से प्रेम है। आप कुतूहल (अनुसंधान) वाले चित्त से ही इसे सुनें (अनुसंधानात्मकवृत्तिमदन्तःकरणं चित्तम्)। आपने ऐसा बढ़िया

खेल कभी देखा न होगा। दूसरे के प्रेम या भलाई का तो आपने मार्ग ही छोड़ दिया है। गुहार करने पर भी आप किसी की रक्षा के लिए कभी नहीं जा सकते। हित देना तो दूर है, हित की रीति (उसका दिखावा) भी नहीं बनाए रहते। यदि वह बनावटी रूप भी होता तो भी संकटों को मेरी ओर आने का साहस न होता। हित की रीति में संकट ही देखकर तो आपने उसका त्याग कर दिया है। इसी से संकट आपकी ओर तो गए नहीं इधर उन्होंने मैदान साफ देखा। *इत०*—इधर आने का साहस पहले तो उनमें था ही नहीं, पर उन्होंने आपकी विमुखता का लाभ उठाया। आप रह गए 'घन-आनंद' और इधर आ गए 'घन संकट'। आप एक हैं वे अनेक हो गए। करोड़ों हो गए। आप सुख-समाज में लीन हैं और वे सब भी अपने समाजों को लेकर आए। कोई अस्त्र-शस्त्र उन्होंने छोड़ा नहीं। सारी सेना सारा हरबा-हथियार लिए दिए फट पड़ी। *मन०*—मन आपको भज रहा था, आपके ध्यान में लीन था, वहाँ था ही नहीं। चढ़ाई किस प्रकार होती। सेना आती देखकर वह और भी आपके ध्यान में लीन हो गया। मन वहाँ डटा भी रहा और प्रहार के लिए अप्राप्त भी रहा। मन जाता भी तो कहाँ जाता, मियाँ की दौड़ मसजिद तक। वह आपके भजन में और लीन हो गया। जिस प्रकार आपसे प्रेम किया गया है उस प्रकार प्रेम करने पर कोई रणक्षेत्र से भागता ही नहीं। आपके कारण मुझे काल का भी सामना करना पड़े तो पड़े। उससे भी डटकर मुकाबला किया जाएगा। *यह०*—मन का पूर्ण पन क्या था प्रिय के प्रेम में लीनता। मन उसी में लीन हो गया। देहाध्यासशून्य हो गया। इससे वे संकट न जाने कितने टकराकर ही मर मिटे। बहुत थोड़े संकट जब बचे तो वे मुँह लटकाए विफलमनोरथ लौट गए। प्रसिद्ध है कि ध्यानमग्न भगवान् बुद्ध के निकट वज्रपात हुआ और उन्होंने उसकी ध्वनि तक नहीं सुनी। मन के संनिकर्ष के बिना इंद्रियजन्य ज्ञान नहीं होता। जब उसकी प्रतीति ही नहीं हुई तब उनका लज्जित होकर लौट जाना स्वाभाविक ही है।

पाठा०—*घन* = धन। *पूरन* = पूरि न।

(कवित्त)

रूप उजियारे जान प्रानन के प्यारे कब
करौगे जुन्हैया दैया बिरह महा तमैं ।
सुखद सुधा तें हँसि हेरनि पिवाय पिय
जियहि जिवाय मारिहौ उदेग से जमैं ।
सुंदर सुदेस आँखैं बहुरचौ बसाय आय
बसिहौ छबीले जैसें हुलसि हियें रमैं ।
ह्वै है सोऊ घरी भाग उघरी अनंदघन
सुरस बरसि लाल देखिहौ हरी हमैं । १०६ ।

प्रकरण—विरहिणी का संदेश या प्रिय के प्रति एकांत-कथन है । उसका कहना है कि मेरे विरह का भीषण अंधकार आपके रूप के प्रकाश से ही ज्योत्स्ना में परिणत हो सकता है । आपकी मुसकान से ही मरते प्राण जी सकते हैं, क्योंकि उसमें अमृत है और उसी से प्राणों का मारनेवाला यम उद्वेग भी दूर हो सकता है । मेरी आँखों में उजाड़ की स्थिति है । हृदय में जिस प्रकार आप बसे हैं उसी प्रकार आँखों में आकर पुन: कब बसेंगे, जिससे इनकी उजड़न दूर होगी । वह समय कब आएगा जब आनंद के घन आप अपना रस-वर्षण कर मुझ सूखती को हरी-भरी करेंगे ।

चूर्णिका—*रूप०* = छवि का प्रकाश करनेवाले । *जुन्हैया* = चाँदनी, प्रकाश । *बिरह०* = बिरहरूपी घोर अंधकार में । *हेरनि* = चितवन । *उदेग०* = उद्वेग ऐसे यम को । *सुखद०* = अमृत से भी बढ़कर अपनी मुसकानवाली चितवन से मेरा जी जिलाएँगे और उद्वेग दूर करेंगे । *सुदेस०* = अच्छी बस्ती । *आँखैं* = आँखों में । *सुंदर* = (इन उजड़ी हुई) आँखों में फिर सुंदर बस्ती बसाकर । *आय०* = इन आँखों में आप आ बसेंगे, दर्शन देंगे । *जैसें०* = जिस प्रकार आप उमंगपूर्वक इस रमे हुए हृदय में बसे हैं । *भाग०* = भाग्य द्वारा उद्घाटित, भाग्य से भरी हुई । *सुरस* = जल, आनंद । *हरी* = हरी-भरी; प्रसन्न ।

तिलक—हे प्राणों के प्यारे सुजान प्रिय, आप छवि का प्रकाश करने-वाले हैं। आपसे मेरा प्रश्न यह है कि विरह का घोर अंधकार सहते बहुत दिन हो गए। अब मेरा धर्म छूट रहा है। आखिर आप कब यहाँ आकर अपने सौंदर्य के प्रकाश से इस अंधकार को दूर करेंगे। केवल अंधकार ही प्रकाश में परिणत न होगा प्रत्युत आपका हँसकर देखना जो अमृत से भी बढ़कर सुखदायक है उसे आप पिलाकर मेरे मरते जी को जिला देंगे और उस जी को जो उद्वेग के ऐसा यमराज नित्य मारने में संलग्न है उसे ही मार डालेंगे। इस प्रकार जिन मेरी आँखों में उजड़न छाई है उनमें सुंदर और सुष्ठु बस्ती फिर से बस जायगी, जब आकर इनमें उसी प्रकार बस जाएँगे (अपने दर्शन देंगे) जिस प्रकार आप उमंगपूर्वक प्रेम में रमे इस हृदय में बसे हैं। क्या मैं आशा करूँ कि वह घड़ी भी होगी जिसे मेरे लिए स्वयम् सौभाग्य ही उद्घाटित करेगा और जिसके आनंद के मेघ आप आकर और आनंदरस की वृष्टि कर मुझे आप भी हरी-भरी देखेंगे, मेरा विरह से सूखते जाना समाप्त होगा और मैं भी दर्शनीय हो जाऊँगी।

व्याख्या—रूप०—'रूप' शब्द सौंदर्य के लिए तो आता ही है 'रूपा' (चाँदी) के लिए भी आता है। सुजान रूपाजीवा की ओर भी ध्यान दें तो इस शब्द का चमत्कार सामने आ जाता है। मेरे प्राणों को आपके रूप का प्रकाश ही प्रिय है। चकोर की वृति जो है मेरी। जिसे प्रतिदिन या प्रतिरात्रि प्रकाश ही चाहिए उसे भीषण अंधकार में ही रहना पड़े और बहुत दिनों तक रहना पड़े इस अतिखेद की व्यंजना 'दैया' शब्द में है। 'रूपउ' जिया' 'रे' खंड करने से केवल आपका सौंदर्य भी मेरे लिए प्राण-स्वरूप ही है। इसलिए उस रूप का प्रिय होना नैसर्गिक है। 'जान' शब्द भी 'प्राण' का पर्याय है। चंद्रमा महीने भर अदृश्य नहीं रहता। आधे महीने उसके दर्शन नहीं होते। पूरी रातभर सो भी नहीं। कुछ समय के लिए वह दृश्य हो ही जाता है। केवल अमावस्या को वह अदृश्य रहता है। तदनंतर प्रतिपदा को कष्टदृश्य रहता है। पर आपके दर्शन न जाने कितने वर्षों से नहीं हुए। दर्शन होंगे इसकी संभावना और आशा ही की जा सकती है। वास्तविकता को दैव ही जाने। 'जान' शब्द 'ज्ञान' का विकास

है। ज्ञान प्रकाशस्वरूप होता है, अज्ञान अंधकारस्वरूप। ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है और भावाच्छन्न होने से जी अज्ञानावृत है। ज्ञान का प्रकाश हो जाने से अज्ञान का अंधकार दूर हो जाएगा। जीव ब्रह्मस्वरूप हो जाएगा। 'दैया' से दैव ब्रह्म का रहस्यात्मक संकेत व्यंजित है। सुखद०—प्रिय का सौंदर्य चंद्र का सौंदर्य है। चंद्र में ज्योत्स्ना ही नहीं होती। वह सुधाधर भी है। प्रिय भी सुधाधर है। उसके अधरों में सुधा है (सुधा + अधर)। इसी से केवल चितवन की नहीं, हँसकर चितवन की चर्चा है। हँसी का वर्ण साहित्य में उज्ज्वल है। उज्ज्वलता के साथ प्रिय में अमृत भी है। प्रेमी केवल अंधकार में ही नहीं पड़ा है, विरह केवल अंधकार ही नहीं है, विष भी है। जिससे प्राण मर रहे हैं। किसी को जहर देकर अँधेरी कोठरी में छोड़ दिया जाए तो वह एक तो निकल ही नहीं सकेगा, दूसरे प्रकाशाभाव से व्याकुलता की और अधिकता होगी। यदि प्रकाश रहता तो विष का प्रभाव दूर करने के प्रयास भी हो सकते हैं। कहीं अंधकार भी दूर हो और अमृत भी मिल जाए तो फिर क्या कहना। अमृत से बढ़कर हँसी मिले। हँसीयुक्त चितवन में अमृत से अधिकता है। अमृत किसी को जिला तो सकता है पर मार नहीं सकता। उसकी प्रकृति मारने की नहीं है। मुसकानयुक्त चितवन जी को जिलाती भी है और उद्वेग को मारती भी है। 'प्रिय' शब्द के 'पी' में पीने या पिलाने का भाव भी छिपा है। 'जी' में जीने का भाव भी है। 'पी' में पिलाने की वृत्ति होने पर भी वह पिलाता नहीं है और 'जी' में जीने की वृत्ति होने पर भी वह जी नहीं रहा है। जब 'प्राण' किसी को स्वतः प्रिय होते हैं तब जो प्राणों को प्रिय हो उसकी प्रियता अत्यधिक हुई। 'जी' में जीने की वृत्ति होने पर भी वह मर रहा है, उसे जो जिलाए उसमें जिलाने की अतिशयता हुई। 'पिवाय' में यह भी भाव कि केवल झलक से काम न चलेगा। खूब छककर पीने की आवश्यकता है। 'जी' प्यास ही से मर रहा है। खून पीने से ही उसकी पिपासा शांत होगी। उद्वेग यम है। 'से' से उसकी भीषणता का संकेत है। साधारण यम यह नहीं है। उत् + वेग = विशेष वेग (बल) वाला है। ऐसे असाधारण यम को भी हँसती चितवन मारेगी। उसमें संजीवनी के साथ मारकता भी अतिशय है। सुंदर०—'सुंदर' और 'सुदेश' में शोभा का ही अर्थ है। पुनरुक्तवदाभास

का चमत्कार दिखाता है। आँखें फिर से बसेंगी, वे सुष्ठु या उत्कृष्ट देश हो जाएँगी, उनकी उपयोगिता बढ़ेगी। वे सुंदर भी हो जाएँगी, उनमें लालित्य भी आ जाएगा। अभी न उनकी उपयोगिता ही है और न उनमें लालित्य ही है। जब आकर बसेंगे तभी ये फिर से बसेंगी। आप छबीले हैं इसलिए इनकी भी छवि हो जाएगी आपका बसना उपयोग बढ़ा देगा। आप जैसे उमंगपूर्वक प्रेम में रमे हृदय में बसे हैं वैसे ही। केवल भीतर बसे रहने से काम नहीं चलता। अंतर्यामी (निर्गुण) ब्रह्म काम का नहीं होता, बहिर्यामी (सगुण) ब्रह्म ही काम का होता है।* रमणीयता हृदय की वृत्ति है अवश्य पर जब तक नेत्रों से बाह्य दर्शन न मिले तबतक वह काम नहीं आती। ह्वै है०—वह घड़ी भाग्य के द्वारा उद्घाटित होगी। स्वयम् 'घटी' है अवश्य पर अभी बंद है, उद्घाटित होने की आवश्यकता है। जब आनंद के घन छाएँगे तो घड़ा उघड़ी (खुली) होगी। सुरस में सुष्ठु रस और स्वरस दोनों का भाव है। आप लाल हैं, लाल रंग के हैं, सुर्खरू हैं। मैं भी हरी हो जाऊँगी। मुझमें जो विरह की श्यामता (नीलिमा) है वह आपकी ललाई पाकर हरिमा में परिणत हो जाएगी। नीले रंग में लाल रंग मिलने से हरा रंग हो ही जाता है।

पाठा०—*हियँ* = हियो। *सुरस* = रसहि।

(सवैया)

किंसुक पुंज से फूलि रहे सु लगी उर दौ जु बियोग तिहारें।
मातो फिरै न घिरै अबलानि पै जान मनोज यों डारत मारें।
ह्वै अभिलाषनि पात निपात कढ़े हिय सूल उसासनि डारें।
है पतझार बसंत दुहूँ घनआनँद एक ही बार हमारें।१०७।

प्रकरण—विरहिणी का संदेश या एकांत-कथन है। वह कह रही है कि आपके वियोग में पतझर और वसंत दोनों की बहार एक साथ है। वसंत में किंशुक (पलाश) फूलता है। आपके बियोग की आग पलाश के पुष्पों

---

* अंतरजामिहु तें बड़ बाहिरजामि है राम जो नाम लिए तें।
पैज परे प्रहलादहु के प्रगटे प्रभु पाहन तें न हिए तें॥
—कबित्तावली (तुलसीदास)

की भाँति दिखती है। वसंत में हाथी का भी वर्णन होता है। सो मनोज (काम) ही मतवाला हाथी होकर घूम रहा है। वसंत में हाथी की कनपटी से मद झरता है; वह मदमत्त रहता है। एक ओर तो यह वसंत की छटा है और दूसरी ओर अभिलाष का गिरना (न पूर्ण होना) पत्तों का गिरना है। उसासों की शाखा में हृदय के शूल (वेदना और काँटे) निकले हैं।

चूर्णिका—*किंसुक* = किंशुक, पलाश। *दौ* = दावाग्नि, आग। *किंसुक०* = आपके वियोग से जो अंतःकरण में आग लगी है वही पलाश के फूल फूले हैं। *मातो* = मत्त, मतवाला। *न घिरै* = घिरता नहीं, पकड़ा नहीं जाता (वश में नहीं होता)। *पै* = से, द्वारा। *मनोज* = काम (रूपी हाथी)। *अभिलाषनि०* = अभिलाषरूपी पत्ते झड़ गए। *सूल* = (शूल) वेदना; काँटा। *उसासनि०* = उछ्वास रूपी डाल में। *कढ़े* = उछ्वास निकलने पर हृदय की वेदना व्यक्त हो जाती है। *पतझार* = अर्थात् शिशिर। *एक ही बार* = एक साथ।

तिलक—हे आनंद के घन प्रिय, मेरी कैसी विरोधात्मक स्थिति है कि आपके वियोग के कारण वसंत और पतझड़ दोनों मुझमें एक साथ दिखाई देते हैं। वसंत में पलाश के पुंज के पुंज फूलते हैं। आपके वियोग में हृदय में जो आग लगी है सो पलाश के पुंज के रूप में दिखाई देती है। वसंत में हाथी के मतवाले होने का भी कविपरंपरा में वर्णन होता है। यह भी यहाँ है। काम हाथी की भाँति मतवाला घूम रहा है मगर अबलाओं से वह पकड़ा भी कैसे जा सकता है। इसलिए वह मतवाला होने के कारण कुछ सुनता नहीं, मारे डाल रहा है। विरह में अभिलाष की पूर्ति नहीं होती। वे एक पर एक आते और गिरते हैं। पतझड़ में भी एक के बाद एक पत्ता गिरता है। उछ्वासों की शाखा में हृदय के काँटे दिखाई देने लगे हैं। पत्ते यदि शाखाओं में होते तो वे उन्हें ढके रहते। पर पत्ते गिर गए इसलिए वे अब स्पष्ट गोचर हो गए हैं। मेरी वेदना अब प्रकट होने लगी है। पहले इस प्रकार प्रकट नहीं थी।

व्याख्या—*किंसुक०*—'दव' शब्द 'दावाग्नि' का घिसा रूप है। 'दाव' का अर्थ वन है। वन में पलाश फूलते हैं तो उनसे भी ऐसा भ्रम होता है कि वन में आग लग गई है। किंशुक निर्गंध होता है। ऐसा भी नहीं कि उसकी गंध

से 'सुगंधि पुष्टिवर्धनम्' की ही प्राप्ति हो। गंध न हो, पर उतना कष्टद यह नहीं जितना मतवाला हाथी। पलाश अच्छा न लगे तो आँख मूँदी जा सकती है। पर मतवाले हाथी का क्या किया जाए जो मतवाला तो है ही। इधर उधर घूम भी रहा है और जिसे पा गया उसे सूँड़ में लपेटकर और पैर से दबाकर चीरे डाल रहा है *माती०*—प्रबल पुरुष होते तो कदाचित् घिर भी जाता, किसी प्रकार बाँध भी लिया जाता, पर अबलाएँ और वे भी विरहिणी क्या करें। उससे बचने के लिए दौड़ते ही बीतता है। मन में आग लगी और उससे उत्पन्न हुआ हाथी। आग से धूआँ निकलता ही है, हाथी का आकार भी बन जाता है। रंग उसका हाथी से मिलता ही है। *है०*—अभिलाषों का पत्तों की भाँति निपात नितराम् पात हो गया है एक भी नहीं बचे। बचे हैं केवल काँटे। पत्ते झड़ गए काँटे फूट निकले। काँटे न निकलते तो भी बचत थी। पर वे भी बाहर आ गए। *है पतझार०*—पहले पतझड़ फिर वसंत का क्रम है। यहाँ पहले वसंत फिर पतझड़ का क्रम है। जो क्रम से नहीं एक साथ देखते हैं। सब हृदय में ही है—आग, मनोज, सूल। यदि एक ही बार ऐसा न होता, सहसा और साथ ही ऐसा न होता तो कष्ट न होता।

पाठा०—*तिहारें* = निहारें। 'त' और 'न' में लिखावट कभी-कभी मिलती सी होती है। अतः तिहारें को निहारें पढ़ लेना सरल है। अर्थ खींचतान से लग जाएगा। वियोग में आपकी प्रतीक्षा करते रहने से। *कढ़े* = कटे। 'ढ' और 'ट' की लिखावट भी मिलती होती है। 'ढ' के नीचे बिंदी लगाने का नियम प्राचीन हस्तलेखों की लेखनप्रणाली में नहीं है। इसलिए पाठ 'कढ़े' ही भ्रम से 'कटे' हो गया या पढ़ा गया है।

जीवनि मूरति जान सुनौ गति जौ जिय रावरो प्यार न पावतौ।
संगम रंग अनंग उमंगनि भूमि न *आनँदअंबुद* छावतौ।
लाड़िलो जोबन त्यौं अधरासव चोपनि लोभी मनै नहि भावतौ।
तौ उरदाहक प्राननि गाहक रूखे भए को परेखो न आवतौ।१०८।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय को इस प्रश्न का उत्तर दे रही है कि मुझे पछतावा क्यों है। इस पछतावे का कारण यह है कि एक तो इस जी को आपका प्यार मिला, दूसरे संयोग के कारण काम की उमंगें हुईं, जिनसे

आनंद के मेघ मुझपर मड़राने लगे, तीसरे आपका मनोहर यौवन और साथ ही अधर का आसव मन को भा गया। अब हृदयजले प्राणों के जाने की नौबत आ गई है, पर पछतावा तो बना ही है।

चूर्णिका—*जीवनि* = संजीवनी। *सुनौ* =मेरी दशा सुनो। *संगम* = संयोग। *रंग* = उत्सव। *आनँद०* = आनंद के मेघ; आनंदघन। *लाड़िलो*= प्यारा, मनोहर। *अधरासव* = होंठ का आसव (शराब)। *चोप*=लालसा। *मनै* = मन को। *भावतौ* = अच्छा लगता। *तौ०* = तो हृदय को अब जलानेवाले और प्राण लेनेवाले के रूखे होने का पछतावा न होता। *परेखो* = पछतावा।

तिलक—हे संजीवनी मूर्तिवाले सुजान, मेरे पछतावे की स्थिति सुनो कि वह क्यों हुआ। यदि मेरे जी को आपका प्यार मिला ही न होता और संयोगसुख के उत्सव में यदि काम की उमंगों से झूमता हुआ आनंद का मेघ मुझपर न छा जाता, यही क्यों यदि आपका मनोहर यौवन और साथ ही अधर का आसव (शराब) लालसाओं के खड़े होने से इस लोभी मन को कहीं अच्छे न लगते तो भला जो हृदय को जला रहा हो और प्राणों को ले रहा हो उसके रूखे होने, उसके पराङ्मुख होने का फिर पछतावा ही क्यों होता।

व्याख्या—*जीवनि०*—आपकी मूर्ति संजीवनी है, मुझ मरते को भी इसने जिला दिया। आपका प्यार मिला अर्थात् प्यार करने की प्रवृत्ति आपमें प्रत्यक्ष दिखाई पड़ी। मैं ही प्यार करती, आप न करते होते ऐसी स्थिति नहीं थी। यदि प्यार की प्रवृत्ति के दर्शनमात्र होते आपके संयोग के सुखोत्सव से कामनाओं की उमंगें न उठतीं और फिर उनके उठने से झूमता हुआ आनंद का बादल न छाता तो भी कोई बात होती। प्यार भी मिला, संयोग का सुखोत्सव भी हुआ और काम की उमंगों से आनंद भी यहाँ से वहाँ तक छा गया, सारा हृदयप्रदेश उससे ढक गया। बड़ी मस्तानी गति से बादल उठा और छाया। मन में लालसाएँ आईं, उस लोभी को आपका मनोहर यौवन और अधर का आसव रुच गया। उसी का परिणाम है कि अब भले ही आप हृदय जलाते हों, प्राणों के ग्राहक बन बैठे हों आपके इस

प्रकार रूखे होने का पछतावा सकारण है। यदि वैसा न हुआ होता तो ऐसा पछतावा भी न होता। *संगम*०—प्यार की प्राप्ति मात्र होती तो भी कदाचित् ऐसा न होता। संयोग ने उसे और बढ़ाया। प्राप्ति 'योग' थी और यह 'संयोग' हुआ। संयोग ऐसा कि सर्वत्र आनंद ही आनंद छा गया। कोई अंश नहीं बचा। आनंद भी सहसा नहीं, बड़ी मस्तानी मंथर गति से आया। रोम-रोम में भिन गया। निकले भी तो कैसे निकले। साथ ही यौवन ने भी उस संयोग में यौवन ला दिया। अधरासव ने तो बेहोश ही कर दिया। शराब की लत भी कभी छूटती है! उसके पीने से उरदाह हो, प्राण निकलने की नौबत आ जाए पर वह छूटे कैसे। कहाँ तो आनंदाबुंद की वह सरसता और कहाँ यह रुखाई। पछतावा इसी का है। असाधारण स्थिति पर प्रेम पहुँच गया था और उससे अब यह रुखाई की प्रेमशून्यता की स्थिति का रूप सामने आया।

पाठा०—*प्यार* = पार। *भावतौ* = प्यावतौ (इसका अर्थ भी लग सकता है। आप का यौवन ही मनोहर नहीं था अधरासव भी रुचिकारी था, जायकेदार शराब थी। यौवन ने वही शराब इस लोभी मन को बड़े चाव से पिला दी)।

(कबित्त)

तेरी बाट हेरत हिराने औ पिराने पल
थाके ये बिकल नैना ताहि नपि नपि रे।
हिये मैं उदेग आगि लागि रही रातद्यौस
तोहि कों अराधौं जोग साधौं तपि तपि रे।
जान *घनआनँद* यौं दुसह दुहेली दसा
बीच परि परि प्रान पिसे चपि चपि रे।
जीबे तें भइ उदास तऊ है मिलन आस
जीवहि जिवाऊँ नाम तेरो जपि जपि रे। १०९।

प्रकरण—विरहिणी वियोग में जिस प्रकार की साधना कर रही है उसका बखान कर रही है। संबोध्य प्रिय है। उसका कहना है कि आपका मार्ग देखते पलकें खो गईं, पीड़ा करने लगीं, नेत्र विकल होकर स्तंभित हो

गए, रुक गए, थक गए। हृदय में निरंतर आग लगी है। केवल प्रेमयोग की साधना कर रही हूँ। दुस्सह दशा में प्राण चपकर पिस गए। जीने से नैराश्य हो गया है, पर मिलने की आशा है। तेरा नाम जपकर प्राणों को जिला रही हूँ।

टिप्पणी—*बाट* = मार्ग। *हेरत* = देखते हुए। *हिराने* = खो गए। *पिराने* = दुखने लगे। *पल* = पलकें। *थाके* = थक गए। *ताहि०* = उसे नापते-नापते। *अराधौं* = आराधना करती हूँ। *दुहेली* = दुःखवाली। *जीबे तें* = जीने से। *उदास* = अर्थात् निराश।

तिलक—हे सुजान आनंदघन प्रिय, आप जिस मार्ग से गए थे उसी मार्ग से लौटेंगे इस संभावना से आपके उस मार्ग को देखते हुए मेरी पलकें उसी में खो गईं और पीड़ा भी करने लगीं। पलकें ही नहीं ये व्याकुल नेत्र उस मार्ग को नापते-नापते थक गए, पर आप नहीं लौटे। यह तो बाह्य अंगों की स्थिति है। उधर आभ्यंतर अंग हृदय में उद्वेग की आग रात-दिन लगी है। उसी आग में तप-तपकर मैं प्रेमयोग की साधना कर रही हूँ और आपकी आराधना में लीन हूँ। प्राणों की स्थिति यह है कि दुःसह दुःखवाली दशाओं के मध्य पड़कर और उनसे दब-दबकर ये पिस उठे हैं। ऐसी विभीषिका में मैं अपने जीने से यद्यपि निराश हो गई हूँ फिर भी आपसे मिलने की आशा बनी है। इसी से आपका नाम जप-जपकर इस जी को जिलाती चल रही हूँ कि कभी न कभी आप अवश्य मिलेंगे।

व्याख्या—*तेरी०*—'हेरते' हुए देखते हुए और उसमें आपको खोजते हुए ये स्वयम् खो गए। पलकें खो गई हैं केवल उनमें देखने-खोजने की वेदना की अनुभूति ही शेष रह गई है। ये पलकें अस्तित्व खो बैठी हैं। ये आपके दर्शनों के बिना निरर्थक हो गई हैं। नेत्र आपके दर्शन न पाकर और आपके मार्ग को नापते-नापते थक गए, स्तंभित हो गए। उनकी गति भी समाप्त हो गई। आपके दर्शन ही उनकी गति है। दर्शन नहीं तो उनमें गति भी नहीं। पलकें तो मार्ग में बिछी थीं आपके उस मार्ग पर न जाने कितने जीव-जंतु आते-जाते रहे। इसलिए मार्ग की धूल में वे न जाने कहाँ विलीन हो गईं। दबती हुई पीड़ित भी बहुत हुईं।

नेत्र किसी को दूर से आते देखते तो समझते कि आप ही आ रहे हैं और निकट आने पर आपको न पाकर फिर दिखते मार्ग के दूरस्थ छोर पर जा लगते। इस प्रकार उस मार्ग को न जाने कितनी बार नापना पड़ा। साथ ही न जाने किननी बार व्याकुल भी होना पड़ा। अब ये उसी छोर को देखते हैं। आना-जाना-नापना सब बंद। पलकें खो गईं। उन्होंने काम करना बंद कर दिया। अतः नेत्र खुले के खुले हैं। उन्होंने गति त्याग दी केवल मार्ग ही उनमें बसा है। प्रिय जिस मार्ग से गया, जब उससे वह नहीं लौटा तब उसके संसर्गजन्य गुण से वह मार्ग ही नेत्रों में टिका हुआ है। *हियें०*—आग उद्वेग की है, उसमें भी प्रवेग है। रातदिन लगी है इससे नैरंतर्य भी है। हठयोगी किसी बिंदु को देखते हैं, त्राटक की साधना करते हैं और पंचाग्नि का सेवन करते हैं। मैं भी वही कर रही हूँ। उनकी साधना में बाहर ही आग होती है। यहाँ भीतर आग है। बाहर की आग सहना सरल है भीतर की आँच भी सहना कठिन है। हठयोग से प्रेमयोग की अग्निसाधना प्रबलतर है। दो बार 'तपि तपि' का प्रयोग सूचित करता है कि हठयोगी बार बार नहीं तपते। यदि कई बार तपते भी हैं तो समयांतर से, यहाँ ऐसा नहीं है, नैरंतर्य है। त्राटक की भी समयसीमा होती है। यहाँ समय की सीमा नहीं है। असीमता है। ब्रह्म की साधना का आभास भी है इसमें। *जान०*—योगी प्राणायाम करते हैं। प्राण (वायु) को रोकते हैं। पर ऐसा नहीं होता कि उनके प्राण दबते-दबते पिस जाएँ। पर यहाँ प्राण पिस गए हैं। पिसते-पिसते वस्तु सूक्ष्म होती जाती है। मेरे प्राण सूक्ष्म हो गए हैं, समाप्त होने की स्थिति में आ रहे हैं। प्राण सभी पिस गए उनमें से कोई नहीं बचा। *जीवे०*—हठयोग में अजपा जाप तो होता ही है, जाप भी होता है। प्रेमयोग में भी प्रिय के नाम का जप होता है। प्रिय के दर्शन न होने से केवल उसका नाम भी जी को जिलाने के लिए पर्याप्त है। योग में योगी जीवन से तटस्थ नहीं होता। उसे जी को जिलाने की युक्ति के रूप में नाम-जप नहीं करना पड़ता। प्रेमी को दो प्रयत्न करने होते हैं। एक प्राणों को जिलाने का प्रयत्न दूसरे साधना का प्रयत्न। योग में एक ही प्रयत्न रहता है। जी ऐसा है कि उसके लिए अधिक प्रयत्न करना पड़ता है। वह जी पा नहीं रहा है। बहुत यत्न से नाम के लोभ से जीता है।

व्याकरण—'पल' शब्द पुंलिंग है। *दुहेली* = दुःख+एल, दुहेल, पुं-प्रत्यय 'आ', स्त्री प्रत्यय 'ई' = दुहेली।

विशेष—'रे' शब्द अत्यंत व्यथाबोधक है। आधुनिक छायावादी कवि भी इसका प्रयोग करके विशेष मानसिक स्थिति का द्योतन करते हैं। जैसे 'श्रीसुमित्रानंदन पंत' ने गुंजन में किया है। द्विरुक्ति या वीप्सा में भी अनुभूति की गंभीरता का द्योतन है।

तोहि सब गावैं एक तोही कों बतावैं बेद
पावैं फल ध्यावैं जैसो भावनानि भरि रे।
जल थल ब्यापी सदा अंतरजामी उदार
जगत मैं नावँ जानराय रह्यौ परि रे।
एते गुन पाय हाय छाय *घनआनँद* यौं
कैधौं मोहिं दीस्यौ निरगुन ही उघरि रे।
जरौं बिरहागिनि मैं करौं हौं पुकार कासों
दई गयौ तूहू निरदई ओर ढरि रे। ११०।

प्रकरण—विरहिणी दैव को उपालंभ दे रही है, क्योंकि प्रिय को उलाहना देने से भी कुछ नहीं सरा। उसका कहना है कि तुझे सभी भजते हैं, वांछित फल के लिए शास्त्र तेरी ही ओर इंगित करते हैं। जैसी भावना से भजते हैं वैसा फल पाते हैं। तू बाह्य जगत् में सर्वत्र है और अंतर्यामी है। उदार है और ज्ञानियों में शिरोमणि ज्ञानस्वरूप है। तूने मेरे जीवन में इतना आनंद दिया, आनंद के बादल छा दिए, पर उन बादलों को तुरंत हटा भी दिया। नाना प्रकार के गुणों से युक्त होकर भी तू निर्गुण का निर्गुण ही रह गया। इसलिए कि मैं तो विरहाग्नि में जल रही हूँ, कोई मेरी पुकार सुननेवाला नहीं है। एक तू था, पर तू भी उस निर्दय प्रिय का ही पक्षपाती हो गया है।

चूर्णिका—*बेद* = अर्थात् शास्त्र। *जैसी०* = कोई जैसी भावना से ध्यान करता है वैसा ही फल पाता है। *जानराय* = सुजानों में श्रेष्ठ। *छाय* = एक बार आनंद के बादलों की छाया करके। *उघरि* = हटकर; खुलकर। *निरगुन* = (१) निर्गुण (ब्रह्म); (२) गुणों से हीन;

(३) आकाश। *कैधौं०* = सब कुछ हटकर क्या मुझे निर्गुण ही दिखाई पड़ना था। *दई* = दैव, ईश्वर। *निरदई* = निर्दय प्रिय:, निर+दई, 'दई' का उलटा, दैव का शासन न माननेवाला। *निरदई०* = तू भी निर्दय (प्रिय) से ही जा मिला।

तिलक—हे ईश्वर, मैं समझती थी कि जब संसार में किसी का सहारा न रह जाएगा तब तेरा सहारा प्राप्त होगा। पर तेरा सहारा भी मुझे नहीं मिला। मेरे विश्वास का कारण यह था कि मैंने संसार में सभी को तेरे गीत गाते देखा। यही नहीं शास्त्र भी कहते हैं कि जैसी भावना से युक्त होकर कोई भगवान् को भजता-ध्याता है वैसा ही फल उसे मिलता है। तुझे खोजने में श्रम करने की भी अपेक्षा नहीं रहती। तू जल और स्थल में सर्वत्र व्याप्त है। यही नहीं हृदय में भी बैठा है। केवल बहिर्यामी नहीं अंतर्यामी भी है। ऐसा भी नहीं है कि तू किसी के प्रति उदारता का व्यवहार न करता हो, किसी की पुकार-प्रार्थना समझ में न आती हो सो भी नहीं है। संसार में तेरा नाम 'ज्ञानराय' है, सुजानराय है, ज्ञानशिरोमणि है, तू सबकी जानता-समझता भी है। संसार की क्यों कहूँ तूने आनंद के बादलों की छाया मेरे सामने भी की। इतने गुण होते हुए भी, ऐसे करतब करते हुए भी तूने आनंद के घन दूर कर दिए। केवल शून्य आकाश ही सामने रह गया, मुझे तो तू निर्गुण (गुणरहित) ही भली भाँति दिखा। मैं विरहाग्नि में जल रही हूँ यदि आनंदघन की वृष्टि होती तो उसके बुझने की संभावना थी, पर आनंद के बादल हटाकर तूने उस संभावना को भी दूर कर दिया। एक तू ही ऐसा था जिस तक मेरी पुकार पहुँच सकती थी। संसार में मेरी पुकार समझनेवाला और उसे समझकर मेरे लिए कुछ करने की सामर्थ रखनेवाला कोई रह नहीं गया था। पर दिखता यह है कि तू भी उस निर्दय की ओर ही ढल गया है, ऐसे निर्दय की ओर जो तेरे शासन को भी माननेवाला नहीं है। जिसकी ओर द्रवीभूत होना चाहिए था उसकी ओर तू नहीं ढला।

व्याख्या— *तोहि०*—सब तुझे गाते हैं। इससे स्पष्ट है कि तुझमें भेदभाव नहीं है। तू समदर्शी है। तेरी बड़ाई भी करते हैं। तभी तो तेरी ही गाते हैं। उधर शास्त्र भी यही कहते हैं कि तेरे यहाँ न्याय है—दूध का

दूध, पानी का पानी । भावना के अनुरूप फल भी तू देता है। पर क्या जाने क्या कारण है कि मेरी भावना के अनुरूप फल मुझे नहीं मिल रहा है। *जल०*--जल में, स्थल में, खड्ग-खंभ में तू ही व्याप्त है। वह भी सदैव। ऐसा नहीं है कि कभी तू व्याप्त हो, कभी नहीं। बाहर भी तू ही व्याप्त है और भीतर भी तू ही व्याप्त है। समता ही नहीं उदारता भी तुझमें है, किसी को अधिक अपेक्षित हो तो उसे अधिक भी देता है। संसार में यह भी विख्यात है कि किसी की बातें समझने-बूझने में भी तू बढ़ा-चढ़ा है। तू ज्ञानिशिरोमणि है, ऐसा नाम बिना तदनुकूल आचरण किए न पड़ा होगा। तू सर्वशक्तिमान्, सर्वदर्शी, समदर्शी, सर्वव्याप्त, करुणावरुणालय, कर्मफलदाता आदि विविध उत्कृष्ट गुणों से युक्त है। *एते०*—इतने गुणों से युक्त होने पर भी तेरी सगुणता नहीं दिखाई पड़ी। तूने आनंद के बादलों की छाया तो की पर उन्हें उद्घाटित भी कर दिया। तेरा घनश्याम रूप दिखा, पर तुरंत हट गया। वही रूप छाया रहता तो मेरा काम विशेष सरता। तेरा छाना जैसा झटिति उद्घाटित होना भी वैसा ही झटिति हुआ किंतु बादलों को मैं भर आँख देख भी नहीं पाई। अब केवल महाकाश दिख रहा है, शून्य ही शून्य दृश्य आ रहा है। तू तो खुल्लमखुल्ला निर्गुण ही रह गया। मुझे तो ऐसा ही प्रतीत हुआ। *जरौं०*--मेरी विरहाग्नि को तेरे वे बादल बुझा सकते थे। पर वे भी नहीं रह गए। अब किस का गुहार करूँ। तू अशरणशरण था, दीनानाथ था। पर देखती हूँ कि दई होकर भी 'निरदई' का पक्ष ले रहा है। उसके प्रति तू दयालु है पर मेरी एक नहीं सुनता।

पाठा०—*ध्यावैं* = धावैं (जिस भावना से तेरी ओर दौड़ते हैं, तेरी ओर प्रवृत्त होते हैं)। *कैधौं* = क्यौं धौं (न जाने क्यों मुझे तू ऐसा ही दिखा)

चंदहि चकोर कर सोऊ ससि देह धरै
मनसाहू ररै एक देखिबे कों रहै द्वै।
ज्ञानहू तें आगें जाकी पदवी परम ऊँची
रस उपजावै तामैं भोगी भोग जात ग्वै।
जान घनआनँद अनोखो यह प्रेमपंथ
भूले ते चलत रहैं सुधि के थकित ह्वै।

बुरो जिन मानौ जौ न जानौ कहूँ सीखि लेहु
रसना कैं छाले परैं प्यारे नेह नावँ छ्वै। १११।

प्रकरण—विरहिणी निर्दय प्रिय को प्रेमपथ की विशेषता बता रही है और उस पंथ को ज्ञानपंथ से ऊँचा दिखा रही है। उसका कहना है कि प्रेम में प्रिय प्रेमी का रूप धारण करता है प्रेमी प्रिय का। ऐसा ज्ञानमार्ग में नहीं होता। उसमें भोगी या विषयी का भोग या विषय विलीन नहीं होता, वह स्वयम् भले ही विलीन हो जाए। प्रेम का यह निराला पंथ है। इसमें भूले (ज्ञान का परित्याग करनेवाले) चलते हैं, चलते रहते हैं, पर जो ज्ञान का ग्रहण किए रहते हैं (होश में रहते हैं) वे रुक जाते हैं। यह मार्ग ऐसा है कि जीभ पर स्नेह आया और उसमें छाले पड़ जाते हैं, स्नेह के स्पर्श से ही ऐसा होता है, प्रेम करने पर क्या होगा कहा नहीं जा सकता, अतः इसे सीखकर ही इस मार्ग पर आना चाहिए।

चूर्णिका—*सोऊ* = वह चकोर भी। *ससि०* = चंद्रमा का रूप धारण करता है, प्रियरूप बन जाता है। *मनसाहू* = मन से भी (केवल तन से ही नहीं)। *ररै* = रटता है। *एक* = एक; केवल। *चंदहि०* = प्रेम की चरमावस्था में पहुँचकर चंद्रमा चकोर और चकोर चंद्रमा हो जाता है। (चंद्रमा चकोर बनकर) मन से अपने प्रिय को देखने की रट (धुन) लगाता है। *एक०* = केवल देखने में प्रेमी और प्रिय दो होते हैं, हैं वे एक ही। प्रेम की चरमावस्था में प्रिय और प्रेमी वैसे ही एक हो जाते हैं जैसे ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञान की चरम स्थिति में। *आगें* = बढ़कर। *जाको* = जिस प्रेम की। *भोग०* = सारे भोग-विलास लीन हो जाते हैं। *जात ग्वै* = छिप जाते हैं, विलीन हो जाते हैं। *रस०* = ऐसा आनंद उत्पन्न होता है कि उसमें लीन होकर भोगियों के सारे भोग तिरोहित हो जाते हैं। *भूले* = अपने को भूले हुए, जो तन-मन की सुध खो बैठे हैं। *सुधि के* = सतर्क होकर चलनेवाले, जिनको अपनी सुध बनी रहती है। *रहैं थकित ह्वै* = रुक जाते हैं (इस मार्ग पर चल नहीं सकते। *जिन* = मत। *रसना०* = प्रेम में इतना ताप होता है कि उसके नाम को छूने (लेने) से जीभ में छाले पड़ जाते हैं (जो इतना ताप सहने का साहस करे वह इस मार्ग पर पैर रखे)।

तिलक—हे सुजान घनआनंद प्रिय, यह प्रेमपंथ अनोखा (नया, निराला) है। इसकी विशेषता यह है कि इस मार्ग पर चलनेवाले प्रेमी की साधना के परिणामस्वरूप प्रिय स्वयम् प्रेमी बन जाता है। चंद्रमा चकोर हो जाता है और चकोर चंद्रमा का रूप धारण करता है। चंद्रमा चकोर का रूपमात्र धारण नहीं करता, आचरण भी वैसा ही करने लगता है। चकोर से चंद्रमा बने प्रिय के लिए केवल जीभ से नहीं मन से भी रटन करने लगता है। इस मार्ग में प्रेम की साधना के लिए ही प्रिय और प्रेमी का भेद करना पड़ता है। वस्तुतः दोनों एक ही तत्त्व हैं। प्रिय, प्रिय भी है प्रेमी भी। प्रेमी, प्रेमी भी है और प्रिय भी। प्रेम की चरमावस्था पर पहुँचकर प्रेमी प्रिय ही हो जाता है। जैसे ज्ञान के क्षेत्र में ज्ञाता-ज्ञेय की एकता है वैसे ही प्रेम के क्षेत्र में प्रेमी और प्रिय की एकता है। देखा जाए तो प्रेम से ज्ञान की पदवी बहुत ऊँची है। क्योंकि ज्ञान की ऊँची साधना में पहुँचकर भी रागात्मक वृत्तियों से आकृष्ट होकर कोई स्खलित हो जा सकता है। पर प्रेम की साधना में ऊँची स्थिति पर पहुँचकर ऐसा नहीं होता। परम विषयी जब प्रेम की साधना की ऊँची भूमिका में पहुँचते हैं तब उनका विषय-विलास उस प्रेम के महोदधि में डूब जाता है, उन्हें परानुरक्ति में ऐसा आनंद आने लगता है कि वे लोकरस का एकांत परित्याग कर देते हैं। ज्ञान में अहंता का विसर्ज़न या तो होता नहीं और यदि होता भी है तो पुनः अहंता के जगने की संभावना रहती है। पर प्रेम में अहंता का विसर्जन हो जाता है। प्रज्ञात्मक अहंता का परित्याग करनेवाले ही इस रागात्मक मार्ग में चलते हैं। वे अपनत्व को भूले रहते हैं। जिनमें अपनत्व का बोध रहता है वे इस मार्ग में रुक जाते हैं। आगे बढ़ ही नहीं सकते। मेरे कहने पर बुरा मत मानिएगा। क्योंकि ज्ञानी यह समझता है कि मैंने इतनी ज्ञानराशि संचित कर ली है कि मुझे अब सीखना-समझना कुछ भी नहीं है। हो सकता है कि आप जानते हों कि प्रेमपंथ ऐसा होता है। पर केवल प्रेममार्ग के स्वरूप का ज्ञान होने से ही कोई उस पर चल नहीं सकता। उसे चलना सीखना होगा। आचार की व्यवस्था के बिना इस मार्ग में चलना संभव नहीं। ज्ञानी को अपना देहाध्यास त्यागने का अभ्यास होता है। पर आरंभ में उसे ऐसी

प्रचंड वेदना नहीं होती जैसी प्रेम में होती है। इसमें इतना ताप होता है कि स्नेह करना तो दूर, केवल स्नेह का नाम लेने पर जीभ में छाले पड़ जाते हैं। उन छालों का कष्ट तो भोगना ही पड़ता है, जीभ न बोल पाती है और न कोई आस्वाद ही ले पाती है। प्रेम के मार्ग की कल्पना करते ही, उस पर चलने की व्यवस्था करते ही, अत्यधिक कष्ट का अनुभव होता है। बस, इस कष्ट को जिसने अँगेज लिया, सह लिया, सहने का अभ्यास डाल लिया उसका काम बन गया। वाक्साधना, जगन्निर्वेद तो इसमें आप से आप हो जाता है।

व्याख्या—*चंदहि*०—चंद्रमा आकाश में रहता है चकोर पृथ्वी पर, प्रेमी की साधना के कारण वह धरातल पर अवतरित होता है। चकोर आकाश का परमपद प्राप्त करता है। भक्तों का विश्वास है कि भगवान् भक्तों के लिए ही भूमंडल पर अवतरित होते हैं (सो केवल भगतन हित लागी)। भक्तों की चरम मुक्ति सारूप्य मुक्ति होती है। प्रिय का रूप उन्हें प्राप्त हो जाता है, पर वे स्वयम् भगवान् नहीं हो जाते। इसी से 'ससि होइ' नहीं कहा, 'ससि देह धरै' कहा। भक्तों की धारणा है कि भगवान् ने अपनी इच्छा से सारी सृष्टि की। 'न स एकाकी रमते' अकेले मन नहीं लगता था, इसी से वह एक से दो हो गया। 'मनसाहू' कहने में भाव यही है कि कोई दिखावटी वृत्ति नहीं रहती। वास्तविक रूप में प्रिय प्रेमी का रूप धारण करता है। तुलसीदास ने भगवल्लीला के इस रूप को अन्यों के लिए अगम कहा है—सुगम अगम नाना चरित सुनि मुनिमन भ्रम होइ। भगवान् भक्तों के यहाँ सर्वशक्तिमान् है। जीव अशक्त है। जहाँ अपनी लीला में भगवान् सर्वशक्तिमत्ता का प्रदर्शन करते हैं, वहाँ उसे समझने में कठिनाई नहीं होती। वह 'चरित' 'आचरित' सुगम होता है। सप्ततालवेध समझने में कठिनाई नहीं है। नारिविरह और नागपाश समझने में ही कठिनाई है। नरलीला ही कठिन है। कहीं ललित नरलीला हो तो और कठिन—मैं कछु करब ललित नरलीला। पार्वती और गरुड़ को इसी अगम चरित में भ्रांति हुई थी। भक्तों के यहाँ सुगम चरित को ऐश्वर्यरूप और अगम चरित को रसरूप मानते हैं। *ज्ञानहूँ*०—प्रेम ज्ञान से ऊँचा इसलिए माना जाता है कि ज्ञान की साधना

से रागात्मक साधना की पूर्ति नहीं होती। पर रागात्मक साधना से ज्ञानात्मक साधना के साध्य की प्राप्ति हो जाती है। भक्तों की धारणा के अनुसार भगवान् में 'महाभाव' है, परमभाव है, परमसत्ता है। इस परमसत्ता में ज्ञानात्मक और रागात्मक दोनों ही सत्ताएँ हैं। रागात्मक सत्ता इसलिए सर्वोपरि मानी जाती है कि उसमें सारी अन्य रागात्मक और ज्ञानात्मक सत्ताएँ तिरोहित हो जाती हैं। ज्ञानात्मक सत्ता में यह विशेषता नहीं होती। ज्ञान से जो आनंद होता है वह अनुभूति का विषय है। ज्ञान स्वयम् आनंद नहीं है, आनंद का कारण या प्रेरक हो सकता है। पर प्रेम या राग स्वयम् आनंद है और आनंद का कारण और प्रेरक भी है। भोगियों का भोग तक जब उस आनंद या रस में विलीन हो जाता है तब अन्यों की क्या कथा। *जान*०–आप सुजान हैं, ज्ञानमार्गी हैं और यह प्रेमपंथ घनआनंदवाला है, अनोखा भी है। अनोखा का मूल, व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ 'नया' है (नवक=नोक=नोख=नोखा=अनोखा)। इस नए मार्ग में आप कभी चले न होंगे। 'पंथ' नया नया हुआ करता है, संप्रदाय पुराना होता है। 'अनादि अविच्छिन्न परंपरा' संप्रदाय की होती है। पंथ व्यक्ति के नाम से ख्यात होता है–कबीर-पंथ, नानक पंथ, दादूपंथ आदि। यह प्रेमपंथ 'घनआनंद-पंथ' है। ऐसा 'पंथ' पहले नहीं था। नया चला है। पंथ में 'गुरु' का माहात्म्य अधिक होता है। उसे 'गुरु'-पंथ भी कह सकते हैं। किसी पंथ का प्रवर्तक जो आचार की नई व्यवस्था करता है वह पूर्वगामी पंथों की आचार-संहिता से भिन्न व्यवस्था होती है। इस 'घनानंद-पंथ' की भी 'रहनी' पृथक् है। इसमें विशेषता यह है कि स्नेह की साधना उस चरमावस्था पर पहुँची हुई होती है कि स्नेह की साधना करने पर तो न जाने क्या होगा, केवल उसकी जीभ से नाम लिया कि उसमें छाले पड़े। अपना बिस्मरण किए इसके पथिक चलते हैं और जिन्हें आत्मबोध रहता है वे एक डग नहीं चल पाते। ज्ञानमार्गी निर्गुणपंथ से यह प्रेममार्गी सगुणपंथ एकदम पृथक् है। इसमें सूफियों की प्रेमसाधना और सगुणवादियों की भक्तिसाधना दोनो का मेल है। *बुरो*०–'पंथ' में निगुरा रहना अनुचित, अनुपयोगी होता है। ज्ञानी से 'गुरु' करने की बात कही जाए तो वह बुरा मानता है। वह अपने को जगद्गुरु मानता है, इसी से बुरा मानने का वर्जन किया गया है। 'कहूँ सीखि लेहु' का

तात्पर्य यह कि आप मेरे ही यहाँ सीखने आएँ इसकी अपेक्षा नहीं है। वहाँ भी इस पंथ के गुरु मिल जाएँगे। प्रेमपंथ में विरहसाधना होती है। विरह में अग्नि होती है, वह विरही के अंतःकरण में छाई रहती है। ज्यों ही जीभ पर स्नेह आता है भीतर की आग उसे भक से जला देती है. फिर इसमें छाले पड़ जाते हैं।

पाठा०—द्वै=रवै (केवल प्रिय के दर्शनों के लिए रोता रहता है)। *भोग*०=भोगलात (विषयी उसमें विलीन होकर विस्मरण की स्थिति को प्राप्त होता है और उसके भोग का निरसन हो जाता है)।

(सवैया)

घनआनँद जीवन रूप सुजान ह्वै पावत क्यौं दृगप्यास नहीं।
अरु फूलि रहे कुसुमाकर से सु कहूँ पहचान की बास नहीं।
रसिकाई भरे अपने मन पै सपने रस आस हू पास नहीं।
पचि कौने बिरंचि रचे हौ कहौ जु हितूनि हतौ हिय त्रास नहीं।११२।

प्रकरण—विरहिणी का निर्दय प्रिय को उलाहना। वह प्रिय को जीवन रूप, प्रफुल्ल रूप और रसिक रूप में इंगित करती हुई विरोधात्मक स्थिति का संकेत करती है। जो आनंद का बादल हो, जीवन (जल; जिंदगी) रूप हो, साथ ही सुजान भी हो उसे किसी के नेत्रों की प्यास न समझ में आए, कैसी विलक्षणता है। एक नहीं अनेक पुष्पों का समूह फूला हो और उनमें कहीं भी गंध न हो ऐसा कहाँ होता है। भीतर तो रसिकता हो, रसमयता हो और बाहर रस का कहीं पता न हो। संसार में विख्यात ब्रह्मा ऐसा निर्माण नहीं करता। निर्भय अपने प्रेमियों का घात करनेवाले प्रिय को किसी अन्य ब्रह्मा ने बनाया होगा।

चूर्णिका—*जीवन*=जल; प्राण। *पावत*=मेरे नेत्रों की प्यास का अनुभव क्यों नहीं करते। 'पीर पाना' किसी की पीड़ा अनुभव करना, उसी ढर्रे पर 'प्यास पाना' किसी की प्यास का अनुभव करना, प्यास समझना। यह प्रयोग कवि ने गढ़ा है ऐसा जान पड़ता है। *कुसुमाकर*=फुलवाड़ी; वसंत। *बास* = गंध; स्पर्शमात्र, लेशमात्र। *पहचान*० = पहचान की गंध भी नहीं है, पहचानते तक नहीं। *रसिकाई*०=स्वयम् तो मन में

रसिकता (विलासिता; रसमयता) से भरे हैं। पै = परंतु या से। *सपने*०= स्वप्न में भी उस मन के आसपास या स्वयम् आपके आसपास 'रस' नहीं है, नीरसता ही नीरसता है। *पचि*० = न जाने किस ब्रह्मा ने आपको परेशान होकर बनाया है। (जिस ब्रह्मा ने आपको बनाया, वह उस सामान्य ब्रह्मा से भिन्न कोई असामान्य ब्रह्मा है और उसे भी आपको बनाने में परेशान होना पडा होगा)। जू = जो, कि। *हितूनि* = प्रेमियों को मारते हृदय में भय भी नहीं होता।

तिलक—हे सुजान प्रिय, आप आनंद के घन हैं, जीवन-(जल; प्राण) स्वरूप हैं, फिर भी आपके स्वरूप को देखनेवाले (चातक) के नेत्रों में जो प्यास है वह आपको नहीं प्राप्त हुई। आप उस प्यास की तीव्रता नहीं समझते। यदि समझते होते तो प्यासे के पास पहुँचने में क्षण भर का भी विलंब न करते। यही नहीं, आप वसंतकालीन फुलवाड़ी के पुष्पों की भाँति सर्वतोभावेन प्रफुल्ल हैं, पर विलक्षणता यह है कि आपमें पहचान की गंध तक नहीं है अपने प्रेमियों को पहचाना तक नहीं है। आपने अपना मन रसिकता से भर रखा है पर उस मन के भी चतुर्दिक् रस का कहीं पता नहीं है, स्वप्न में भी कभी उसकी बाहरी परिधि में रस नहीं दिखाई देता। रस का एकांत अभाव है, पूरी नीरसता ही है। यह पता नहीं चलता कि किस असाधारण ब्रह्मा ने आपको बनाने की परेशानी उठाई कि आप प्रेमियों को मारते हैं पर आपके हृदय में त्रास का नाम नहीं है। वधिक भी अपने शिकार की खोज-खबर लेता है, पर आपने कभी कोई खोज-खबर नहीं ली। ऐसा अनोखा प्रिय इस संसार में कहीं देखा-सुना नहीं गया।

व्याख्या—*घनआनंद*०—आप घन हैं, जीवन (रूप) हैं और प्यास जल से ही बुझती है। (जल) पीने की इच्छा को पिपासा कहते हैं। यदि इस इच्छा का अनुभव आप में होने लगे तो क्या ही अच्छा हो। पर ऐसा होता नहीं है। क्यों नहीं होता, यह भी समझ में नहीं आता। जिस जल से प्यास बुझती है उसका उस प्यास से संबंध तो होता ही है। 'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति' के नियम से प्यास का दोष या गुण जो भी हो कुछ न कुछ जल में भी होना चाहिए। पर देखा यही जाता है कि जल में प्यास नहीं होती, जल

के प्रेमी में ही प्यास होती है। 'पावत' के दोनों अर्थ हैं—'पाना' और 'अनुभव करना' या 'समझना'। ठीक ही है जो स्वयम् आनंदरूप है वह प्यास के 'विषाद' रूप को क्या जाने। जीवन (जल) प्यास को क्या जाने, प्रिय प्रेमी को क्या जाने, सुजान अजान को क्या जाने। 'जीवन-रूप' में 'रूप' का संबंध 'दृग' से है, 'जीवन' का 'प्यास' से। 'रूप' नेत्रों का विषय है। रूप का विषय नेत्र नहीं है। 'पावत' में एक यह भी अर्थ भासित होता है कि आप मेरी प्यास तक पहुँचते क्यों नहीं। मेरे नेत्र आपके रूप तक पहुँच जाते हैं पर आपका रूप मेरे नेत्रों तक नहीं पहुँचता। मेरी प्यास आपके जीवन तक जाती है और वहाँ से लौट आती है। ठीक ही है, कभी कूआँ प्यासे के पास नहीं आता। जैसी प्यास मेरे नेत्रों में है वैसी प्यास आपके नेत्रों में क्यों नहीं हो जाती। अरु०—एक प्रकार का ही पुष्प यदि फूलता हो तो हो सकता है कि वह 'निर्गंधा इव किंशुकाः' हो, पर जहाँ कुसुमों का आकर (समूह) हो उसमें गंध होनी चाहिए। पर नहीं है। पुष्प स्वयम् अपने सौंदर्य में मस्त रहते हैं। जो उनके सौंदर्य के प्रेमी हैं उन्हें नहीं पहचानते। 'कुसुमाकर' शब्द में पुष्पराशि ही अर्थ प्रयोजनीय नहीं है, वसंत अर्थ भी प्रयोजनीय है। प्रिय के यौवन की ओर संकेत है। प्रफुल्लता सुखों की है, सौंदर्य की है, रूपगर्व की है। 'पहचान' शब्द प्रत्यभिज्ञान से बना है। जिसे एक बार देखा है, जिसका देखकर ज्ञान प्राप्त किया है उसे पुनः देखने पर उसके रूप की स्मृति होती है और उस स्मृति के सहारे उसकी पहचान होती है—ज्ञान फिर अभिज्ञान और फिर प्रत्यभिज्ञान। जो पुष्प को देखता है उसे उसकी पहचान होती है पर पुष्प को देखनेवाले की पहचान नहीं होती। यौवन को प्रेमी की पहचान होनी चाहिए, पर उसे इसकी चिंता नहीं रहती। जीवन (जल) पाकर फूल खिलते हैं। फूलों में रस होता है। 'बास' गंध को कहते हैं। बसने को भी कहते हैं। पहचान की स्थिति आपमें नहीं। *रसिकाई*०—मन में रसिकता है। उसके भीतर है पर उसके बाहर नहीं। 'आस' मन से बाहर-बाहर संलग्न। 'पास' निकट तो है पर जिसके निकट है उससे सटा नहीं है। स्वप्न भी मन से ही होता है। अंतरंग मन और बहिरंग मन में से अंतरंग मन में स्वप्न होता है। बहिरंग मन ज्ञानात्मक होता है। आपमें स्वचेतना

बहुत है, परचेतना का एकांत अभाव है। *पचि०*--इतनी विलक्षणताओं या विरोधात्मक स्थितियों से युक्त का निर्माण करना सरल नहीं। इससे परेशानी महज है। प्रेमी को कोई भी नहीं मारता। वधिक भी प्रेमी जीवों को नहीं मारता।

सूने परे दृग भौन सुजान जे ते बहुरयौ कब आय बसायहौ।
सोचनि ह्वौ मुरझ्यौ पिय जो हिय सो सुख सींचि उदेग नसायहौ।
हाय दई घनआनँद ह्वै करि कौलौं बियोग के ताप तसायहौ।
एहो हँसी जिन जानौ हहा हमैं ख्वाय कहौ अब काहि हँसायहौ।११३।

प्रकरण—विरहिणी की अभिलाष-दशा का वर्णन है। साथ ही चिंता भी है। वह प्रिय के प्रति संदेश या 'एकांत कथन' करती हुई कहती है कि आपके दर्शनों के बिना मेरे नेत्रों के भवन सूने हैं। आप पुनः आकर इन्हें कब बसाएँगे। केवल बसेंगे ही नहीं, नेत्रों को ही तृप्ति नहीं देंगे, हृदय का भी उपहार करेंगे। दर्शन ही नहीं, मिलन भी होगा। नेत्र के लिए दर्शन, हृदय के लिए मिलन।

चूर्णिका—*बहुरयौ* = फिर। *सुख०* = सुख के रस से सींचकर। *उदेग* = उद्वेग। *तसायहौ* = तृषित बनाए रहेंगे। *जिन* = मत।

तिलक—हे सुजान प्रिय, आपके दर्शन न मिलने से मेरे ये दृगरूपी भवन सूने पड़ गए हैं। इन उजड़ी आँखों में यहाँ आकर और इन्हें दर्शन देकर आप कब बसाएँगे। आपके दर्शनों के बिना ये आँखें अब सूनी हैं। इन्हें अन्य कोई दृश्य भाता नहीं। आपके आने से ही ये आँखें दर्शन पाकर तृप्त होंगी। नेत्रों की तो यह स्थिति है। उधर आप नहीं आ रहे हैं, मुझसे क्यों खिचे हैं आदि अनेक चिंताओं से यह हृदय मुरझा गया है। चिंता की ज्वाला से झुलस गया है। उसका सारा रस सूख गया है। ऐसे हृदय को आकर आप मिलन के सुख-रस से सींचेंगे तभी यह हरा होगा और उसमें जो व्याकुलता है वह नष्ट होगी। आप कब ऐसा करेंगे। हा दैव, आप आनंद के घन होकर भी न जाने कब तक मुझे वियोग के ताप से बढ़ती हुई तृषा से प्यासी बनाए रहेंगे। मैं जो कुछ कह रही हूँ उसे आप निरर्थक या असत् न मानें। आपसे इतना ही पूछती हूँ कि इस प्रकार मुझे

सताकर अब कहिए किसे हँसाना चाहते हैं। मुझे इस प्रकार विषाद में पडी देखकर किसका मनोरंजन हो रहा है, जिसके लिए आप प्रयत्नशील हैं।

व्याख्या—*सूने*०—न जाने कब से सूने हैं और न जाने कब तक सूने रहेंगे। एक ही नहीं दो दो भवन सूने हैं। इस प्रकार भवन का सूना रहना हानिप्रद है। न आपके किसी अर्थ की सिद्धि, न मेरे किसी अर्थ की सिद्धि। उलटे ये भवन किसी के न बसने से मलिन हो रहे हैं। झोपड़ी भी नहीं, भवन हैं ये और इस प्रकार बेकार हैं। आपके बसने के योग्य इन्हें भवन के रूप में बनाया गया था। आपके समान समृद्ध सौंदर्यशाली के लिए साधारण गृह नहीं भवन प्रस्तुत किया गया। उसमें किसी को बसाया नहीं गया, न कोई बसेगा। आप ही बसेंगे तो बसेंगे। *सोचनि*०—सोच एक नहीं अनेक हैं। आपके न आने का अभावजन्य सोच, आपके पराङ्मुख होने का सोच, लोक की निंदा का सोच, अपनी अशक्ति का सोच। इस प्रकार सौ सोच हैं। इनकी ज्वाला से हृदय दग्ध है, मूर्छित है। सोच हृदय में भी वैसा ही समाया है जैसा आँखों में। केवल खाली स्थान में जैसे अनपेक्षित तत्त्व आकर एकत्र होते हैं वैसी ही इसकी स्थिति है। इसमें उद्वेग ने डेरा डाल दिया है, जनहीन गृह में प्रेत का वास हो जाता है। इसमें उद्वेग रूपी प्रेत-राज ने कब्जा कर रखा है। इसमें आकर सुखों को बसाइए, आपके साथ आपका लाव-लश्कर भी आएगा। वह सुखों का समाज होगा। उसके आने से यह भी भर जाएगा। उद्वेग यम भी भाग खड़ा होगा। *हाय*०—सुजान होकर दृग-भवन की हानि सहते हैं। सुख-स्वरूप होकर दुखों को हृदय में टिकने देते हैं और आनंद के घन होकर इस चातक को वियोग-तापजन्य तृषा से घोर रूप में तृषित करते चले जा रहे हैं। आपके पास नाना प्रकार के योग है—सौंदर्य का योग, सुखों का योग, आनन्द का योग और यहाँ वियोग ही वियोग है। *एहो*०—आप मेरे कहने को हँसी समझते होंगे। आप हँसी में न जाने कितने बड़े-बड़े कांड कर डालते हैं। मैं हँसी या रंजन की बात नहीं करती, अपने रोदन की बात करती हूँ। आप मेरे इस रोदन से स्वयम् अपना मनोरंजन करना चाहते हैं या किसी और का रंजन करना चाहते हैं, या किसी दूसरे प्रेमी के हर्ष के लिए

मुझे रुला रहे हैं। जब मुझे रुला रहे हैं तो और किसी को क्या हँसाएँगे। आपके नाम पर रोनेवाले न जाने कितने प्रेमी होंगे। मुझे तो ऐसा ही लगता है। जब मुझ जैसी अनन्योपासिका की यह स्थिति है तब दूसरों का आपसे क्या भला होगा। मेरी समझ में तो नहीं आता।

पाठा०—*सींचि* = साँचि (संचित करके, एकत्र करके, भरकर)। *तसायहौ* = तपायहौ। *कहि* = सौतैं।

(कवित्त)

नित ही अपूरब सुधाधर बदन आछो
मित्र अंक आए जोतिजालनि जगत है।
अमित कलानि ऐन रैन द्योस एकरस
केस तम संग रंग राचनि पगत है।
सुनि जान प्यारी *घनआनँद* तें दूनो दिपै
लोचनि चकोरनि सों चोपनि खगत है।
नीठि दीठि परें खरकत सो किरकिरी लौं
तेरे आगें चंद्रमा कलंकी सो लगत है। ११४।

प्रकरण—प्रेमिका के रूप का प्रेमी वर्णन कर रहा है। रूप भी केवल वदन का वर्णित है। मुख को सामान्यतया चंद्र कहा जाता है। पर इसमें दिखाया गया है कि मुख में चंद्रमा से अधिक विशेषताएँ हैं। प्रिय के विचार से प्रेयसी के मुख के सामने चंद्र कलंकी दिखाई देता है। यदि किसी के सौंदर्य की कीर्ति हो, पर कोई अधिक कीर्ति वाला आ जाए तो उसे कलंक लग जाता है। उसमें लोगों को अनेक त्रुटियाँ या कमियाँ दिखाई देने लगती हैं। प्रेयसी का मुख देखने पर चंद्रमा की यही स्थिति है। चंद्रमा पूर्व दिशा में उदित होता है। पर मुख 'अपूर्व' है। इसमें 'पूर्व' है ही नहीं। वह मित्र (सूर्य) के समक्ष मलिन हो जाता है यह मित्र (प्रेमी) के साथ अधिक ज्योति संपन्न हो जाता है। उसमें केवल सोलह कलाएँ हैं। इसमें अमित कलाएँ हैं। वह रातदिन एक सा नहीं रहता। यह एकरस रहता है। वह अंधकार के साथ छजता नहीं, यह केशों के अंधकार में छजता है। वह बादल से छिप जाता है, यह आनंदघन से दूना प्रकाशित होता है। वह चकोरों से

मिल नहीं पाता, यह लोचन चकोरों से मिलता है। वह चंद्रमा सदा दिखाई नहीं देता, कठिनाई से जब उसके दर्शन होते भी हैं तब वह नेत्रों में (आपके मुख को जिन्होंने देख रखा है) खटक जाता है। इस प्रकार चंद्रमा कलंकी है, आप निष्कलंक हैं।

चूर्णिका—*नित* = नित्य। *अपूरब* = अपूर्व, अद्वितीय; अ + पूरब, जो नियतरूप में पूर्व दिशा से निकलनेवाला नहीं है, विलक्षण है, किसी दिशा में वह दिखाई पड़ सकता है। *सुधाधर* = चंद्रमा, सुधा + धर अमृत धारण करनेवाला; सुधा + अधर—अमृत से परिपूर्ण होठोंवाला। *बदन* = मुख। *मित्र* = सूर्य; सखा; प्रेमी। *अंक* = (प्रकाशित सूर्य की) सीमा में; गोद में। *जालनि* = समूह से। *जगत* = जगमगाता है। *मित्र०*=आकाश का चंद्रमा मित्र (सूर्य) के अंक में (निकट) पहुँचकर (दिन में) श्रीहीन हो जाता है, पर यह मुख मित्र (प्रेमी) के अंक (गोद) में और भी देदीप्यमान होता है। *ऐन* = अयन, घर। *अमित*=उस चंद्र में १६ ही कलाएँ हैं, इस मुख में असंख्य। *रैन०* = वह चंद्र दिनरात एक सा नहीं रहता, पर वह दिनरात एक सा रहता है। *संग* = साथ। *रंग०* = रंग की रँगाई खिल उठती है, मेल खाती है अर्थात् छजती है। *तम०* = अंधकार के साथ यह छजता है, (वह) चंद्र अंधकार से मेल नहीं रखता। अंधकार भी रहे और चंद्र प्रकाश भी रहे ऐसा नहीं हो सकता। *घन०* = आनंद के घन (बादल, घने आनंदवाले प्रेमी) से मिलकर यह दूना प्रकाश करता है। मेघ के आ जाने से उसका प्रकाश या तो लुप्त हो जाता है या कम पड़ जाता है। *दिपै* = प्रकाश देता है (चंद्र); प्रसन्न होता है (मुख)। *चोपनि* = उत्साहपूर्वक। *खगत०* = हिलमिल जाता है। वह चंद्र चकोर से मिलता नहीं, चकोरों के देखने के प्रति उसकी देखने की प्रक्रिया नहीं होती, पर मुख देखनेवाले नेत्रों की ओर स्वयम् भी देखता है। *नीठि* = कठिनाई से, किसी प्रकार। *नीठि०* = कभी जब वह नाना प्रकार की बाधाओं से युक्त होकर दिखाई पड़ता है। ऐसा नहीं है कि उस चंद्र को जब चाहिए देख लीजिए। *सो०* = वह आकाशवाला चंद्रमा। *नीठि दीठि०*= एक तो वह चंद्रमा जब इच्छा हो तभी नहीं दिखता और यदि कभी सब

कठिनाइयों के न रहने पर दिखाई भी देता है तब नेत्रों को ऐसा खटकता है जैसे किरकिरी। आपका मुख देख लेने पर वह चंद्रमा नेत्रों को भाता नहीं। इस प्रकार प्रेयसी के मुख के सामने उसमें अनेक कलंक हैं, केवल उसके शरीर पर का लांछन ही नहीं। वह निष्कलंक है नहीं। कलंकी का मुख फीका रहता है, निस्तेज हो जाता है, आपके मुख के सामने उसकी वैसी ही स्थिति है (आपके मुख में निष्कलंकता है और उसमें आपका कलंक है)।

तिलक—हे प्रेयसी सुजान, आपके सुधाधर (सुधाधारी अधरों वाले) मुख के सामने जब आकाशवाले सुधाधर (अमृतधारी चंद्र) को देखता हूँ तब उसमें अच्छाइयाँ कम और बुराइयाँ अधिक दिखाई देती हैं। वह चंद्रमा पूर्व दिशा से उदित होता है। यही उसका नित्य का नियम है। पर यह नित्य अपूर्व (अद्वितीय और पूर्व दिशा से ही उदित होने के नियम से रहित) दिखाई देता है। वह जब मित्र (सूर्य) के प्रकाशित रहने पर उसकी प्रकाशसीमा के भीतर दृग्गोचर होता है तब श्रीहत दिखता है। उसकी जितनी ज्योति रहती है वह कम हो जाती है और यह मुख सुधाधर ऐसा है कि मित्र (प्रेमी) के अंक (गोद) में इसकी ज्योति ज्योतिसमूह के रूप में प्रदीप्त होती है और यह और भी अधिक जगमगाने लगता है। उसमें गिनी चुनी केवल १६ कलाएँ हैं। इसमें कला (गुण) असंख्य हैं। ये कलाएँ ऐसी बसी हैं जैसे घर में बसी हों। वह चंद्रमा रात में तो दूसरी स्थिति में रहता है, ज्योतिष्क दिखता है पर दिन में ज्योति मंद पड़ जाती है। यह रातदिन एकरस (एक सा) रहता है, इसकी ज्योति में कोई विकार या परिवर्तन नहीं होता। वह चंद्रमा अंधकार के साथ नहीं रह सकता। वह रहेगा तो अंधकार को हटाता रहेगा। पर इसमें ऐसा है कि यह अपेक्षा होने पर अंधकार दूर भी करता है और अंधकार के साथ रहता भी है। रंग की रँगाई में जो विशेषता रहती है उसको प्राप्त होता है। उजले रंग को उभारने के लिए उसके निकट काला रंग रँग देते हैं इससे श्वेतता और भी खिल उठती है। मुख में केश काले-काले हैं, उनके साथ इसका रंग और भी खिलता है। इसके कारण केशों का रंग भी अच्छा उभरता है। वह चंद्रमा बादलों के आने पर या तो उनमें छिप जाता है या यदि हलके बादल हुए तो उसका प्रकाश छनकर

हलका आता है। इस प्रकार बादल के कारण उसके प्रकाश की दीप्ति कम हो जाती है। पर इसमें विशेषता है कि आनंदघन से यह दूना दीप्त होता है। वह चंद्रमा चकोरों से आकर कभी नहीं मिलता, पर वह चंद्रमा नेत्र-चकोरों से मिलता है। उत्साहपूर्वक मिलता है। इतना ही नहीं, यह चंद्रमा पहले तो प्रतिदिन दिखता ही नहीं। यदि दिखता भी है तो नेत्रों में करकता है। वैसे ही जैसे कोई किरकिरी नेत्रों में करकती है। सब स्थितियों पर विचार कर यही कह सकते हैं कि आपके मुख के प्रकाश के सामने आकाश-वाला चंद्रमा कलंकी लगता है। उसमें इतने अवगुण हैं कि उसकी वही कीर्ति नहीं हो सकती जैसी आपकी है।

व्याख्या—*नित*०—आकाश के चंद्रमा में सौंदर्य स्थिर है, प्रिय के मुख में गतिशील है। उसका जो नियम बना है उसके बाहर वह नहीं जा सकता। चंद्रमा का मुख अच्छा नहीं है, उसमें कलंक है, अंक पहले से ही है। पर इसमें पहले से कोई अंक नहीं। यदि आता भी है तो 'मित्रांक'। पर इस 'मित्रांक' से उसकी ज्योति बढ़ती है। आकाश के चंद्र में 'मृगांक' न हो तो कदाचित् उसका प्रकाश कुछ अधिक हो जाए। यहाँ 'अंक' से ही प्रकाश बढ़ता है। उस चंद्र से 'जगत्' जागता नहीं (सोता है रात्रि में उसके निकलने से) यह जगत् को जगत् कर देता है। जगाता है, प्रबुद्ध करता है। *अमित*०—उसमें जो कलाएँ हैं वे सबकी सब एक साथ नहीं प्रकट होतीं। उसकी बढ़ती कला के साथ वे प्रकट होती हैं और घटती के साथ घटती हैं। सारी कलाएँ सदा नहीं रहतीं। यहाँ सारी असंख्य कलाएँ सदा रहती हैं। वह चंद्रमा रात में और दिन में कभी एक सा नही रहता। रात में तो वह घटा बढ़ा दिखाई देना है। दिन में श्रीहीन हो जाता है। केशों की श्यामता में यह और भी खिलता है। यह प्रकाश के साथ निष्प्रभ नहीं होता, अंधकार को साथ रखकर न उसे मिटाता है और न उससे प्रभावित होकर मंदप्रभ होता है। प्रत्युन वर्णसमन्वय (कलर कांबिनेशन) की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। एक दूसरे के साहचर्य से दोनों ही अधिकाधिक प्रस्फुट होते हैं। 'राचनि' का अर्थ रचना, रंजित होना है। जैसे 'मेहँदी रची है' में उसका रंग प्रस्फुटित हुआ है, उभरा है अर्थ होता है। वह चंद्रमा तत्त्वतः कर्तृत्वहीन है। कुछ स्वयम्

नहीं करता। यह सप्राण है, उस प्रकार का वर्णसमन्वय करने में प्रवृत्त हो जाता है। फल यह होता है कि 'ज्यों-ज्यों निहारियै नेरे ह्वै नैननि त्यों-त्यों खरी निखरै सी निकाई'। 'क्षणे- क्षणे यन्नवतामुपैति' की स्थिति होती रहती है। *सुनि०* —प्रेयसी को सुनाने की आवश्यकता इसलिए है कि उसे स्वयम् ऐसे प्रभाव का बोध नहीं है। सुजान होने पर भी उसमें भोलापन है। आनंदघन के संसर्ग से इसमें जो दुगनी ज्योति जगती है वह उसमें नहीं। आनंददायी सुजान मेघ उसे आच्छादित जो कर देते हैं। 'दूनो दिपै' में यह भाव भी है कि उसकी दीप्ति क्रमशः दूनी, चौगुनी, अठगुनी होती जाती है, केवल दूनी होकर नहीं रह जाती। वह चंद्रमा उमंग कभी दिखाता नहीं, इसमें उमंग नहीं उमंगें होती हैं। वह एक चकोर के प्रति भी आकृष्ट नहीं होता, उन सा मिलना तो दूर, वह अनेक लोचनों से मिलता है। वह चंद्रमा खग के साथ खगवत् नहीं बनता, वह 'खग' के साथ खगवत् हो जाता है (खगना = खगवत् आचरण करना)। *नीठि०* = वह ऐसा है कि कोई उसे सप्रयोजन ही देखता है, ऐसा नहीं कि सब उसे देखने को लालायित रहें। यह ऐसा है कि इसे देखने को उत्कंठित रहते हैं। सब चाहते हैं कि वह चंद्रमा कब नेत्रों से हटे। माना जाता है कि चंद्रमा को निरंतर देखते रहने से बुद्धिमांद्य होता है। केशवदास की कड़ी आलोचना इसलिए की गई कि उन्होंने कहा कि चंद्रमा और कमल जबतक देखे नहीं जाते तभी तक अच्छे लगते हैं। देखने पर भाते नहीं। घनआनंद भी कुछ वैसा ही कह रहे हैं। चंद्रमा नेत्रों को पड़ता नहीं, उनके अनुकूल नहीं पड़ता। पर तेरे मुख में ऐसा नहीं। एक तो उसमें कलंक है, दूसरे उसमें अवगुण है। इसमें न कलंक है न अवगुण।

पाठा०—*कलंकी*=कलंक (इस पाठ में अर्थ यह होगा कि वह कलंक की भाँति श्याम ही दिखता है, तेरे मुख में प्रकाश इतना अधिक है कि चंद्र का प्रकाश अंधकार सा प्रतीत होता है)।

उघरि नचे हैं लोकलाज तें बचे हैं पूरी
चोपनि रचे हैं सुदरस लोभी रावरे।
जके हैं थके हैं मोह मादिक छके हैं
अनबोले पै बके हैं दसा चौतैं चित चाव रे।

औसर न सोचैं घनआनँद बिमोचैं जल
लोचैं वही मूरति अरबरानि आवरे।
देखि देखि फूलैं ओट भ्रमन ही भूलैं देखौ
बिन देखें भए ये बियोगी दृग बावरे ॥११५॥

प्रकरण—पूर्वराग की स्थिति का वर्णन है। प्रिय को न देखने पर नेत्रों की क्या स्थिति होती है इसी का विरहिणी के द्वारा कथन है। उसका कहना है कि मेरे नेत्रों ने आपके दर्शन के अभाव के समय जो नीति अपनाई वह यह है कि ये खुल्लमखुल्ला आपका रूप देखते हैं, लोकलज्जा की चिंता भी छोड़ दी, उमंग में लीन हैं। आपके दर्शन के भारी लोभी हैं। ये नेत्र नशे में लीन व्यक्ति की भाँति हो गए हैं। ये अवसर अनवसर का विचार त्याग कर आँसू बरसाते हैं। आपकी ही मूर्ति ध्यान में रखते हैं। आपको ध्यान में देखते हैं तो प्रसन्न होते हैं, आपके ओझल हो जाने पर भ्रांति में पड़े रहते हैं। इनकी पागलों की सी स्थिति है।

चूर्णिका—*उघरि*० = खुलकर नाच रहे हैं (खुल्लमखुल्ला प्रिय को देखा करते हैं, किसी की चिंता नहीं करते) *लोक*० = लोकलज्जा से बचे (अर्थात् दूर ही रहते) हैं, लोकलज्जा भी त्याग दी है। *पूरी*० = पूरे चाव के रंग में रँगे हुए हैं। *सुदरस*० = आपके सुष्ठु दर्शन के लोभी हैं। *जके*० = चकपकाए रहते हैं। *थके*० = शिथिल हो रहे हैं, स्थकित हो रहे हैं। *मोह*० = प्रेम की मदिरा पीकर छक गए हैं, प्रेम के नशे में चूर रहते हैं। *अनबोलें*० = बोलते तो नहीं पर इनकी स्थिति बकनेवालों की सी है। *चीतैं*० = चित्त में निरंतर उत्साह ही लाया करते हैं। *औसर*० = समय का विचार नहीं करते। *बिमोचैं* = आँसू गिराते रहते हैं। *लोचैं*० = आपकी उस मूर्ति की कामना किया करते हैं। *अरबरानि*० = लड़खड़ाहट। *आवरे* = शिथिल, दीन। *अरबरानि*० = व्याकुलता से दीन होकर। *फूलैं* = प्रसन्न होते हैं। *देखि*० = प्रिय को मानो देख रहे हैं और इसी से प्रसन्न होते रहते हैं। *ओट* = प्रिय के कहीं ओट में छिपे होने के भ्रम में ही मग्न रहते हैं। समझते हैं कि प्रिय कहीं छिपा है, अब निकला तब निकला।

तिलक—विरहिणी अपने नेत्रों को पागलों का सा आचरण करते हुए बता रही है। हे प्रिय, आपके सुष्ठु दर्शन के लोभी मेरे इन नेत्रों की आपके न दिखाई पड़ने से क्या स्थिति है देखिए। आपको न देखकर ये वियोगी नेत्र पागल हो गए हैं। पागल कपड़े लत्ते की परवा नहीं करते, जो मन में आया तो नाचने लगते हैं। ये नेत्र आपके दर्शनों के लिए खुले हैं और इनमें पुतलियाँ नाच रही हैं। पागल को लोकलज्जा नहीं रह जाती। ये भी लोकलज्जा को परित्यक्त कर बैठे हैं। पागल जिस कार्य में लगते हैं बड़े उमंग से लगे दिखाई देते हैं, ये भी उमंगपूर्वक आपके रूप दर्शन में अनुरक्त हैं। ये आपके सुष्ठु दर्शन के लोभी हैं। ये चकपकाए हुए हैं, स्थकित हैं, नशे में छके हैं। पागल कभी चकपंकाते हैं, कभी स्तंभित होते हैं, कभी नशे में चूर से होते हैं। इन्होंने प्रेम की मदिरा पी है। पागल कभी तो नहीं बोलता, कभी बोलता है, बहुत बोलता है। वह प्रायः चुपचाप रहता है, पर जब धुन सवार होती है तब फिर बकता ही रहता है। यद्यपि ये नेत्र कुछ बोलते नहीं, पर इनकी दशा कथित की भाँति स्पष्ट है। मौन में इनकी दशा की पुकार है। पागल कभी शांत रहते हैं कभी अत्यंत उत्साहित। ये भी नशे में पड़े या पागल की भाँति जब उत्साहित होते हैं तब अत्यधिक। ये अवसर का विचार नहीं करते। निरंतर नेत्रों से आँसू बहता है। ये व्याकुलता से दीन होकर आपकी मूर्ति की कामना करते हैं, जिससे इन्हें उसके दर्शन हों। ये पागलों की भाँति कभी तो ऐसा नाट्य करते हैं, कि मानो प्रिय की मूर्ति दिखाई पड़ रही है और ये उसे देखकर प्रसन्न हो रहे हैं। कभी ऐसा नाच करते हैं मानो प्रिय की मूर्ति कहीं ओट में छिपी है वह अभी निकलकर सामने आ रही है। इसमें पहले चरण में पागलों की चेष्टाओं के अतिरिक्त 'लोभी' की चेष्टाएँ भी हैं। लोभी अपने लोभ की वस्तु के लिए खुल पड़ता है, लोक लज्जा त्याग देता है, उसी के लोभ में उमंगों सहित लीन रहता है। ऐसे ही दूसरे चरण में नशे में पड़े व्यक्ति की चेष्टाएँ सामने की गई हैं। तीसरे चरण में व्याकुल-दीन की स्थिति और चेष्टाएँ प्रत्यक्ष हैं।

व्याख्या—*उघरि*०—नंगा-नाच नाच रहे हैं। लोभी हो या पागल दोनो में यही स्थिति। वाक्यावली में विरोधात्मक स्थिति है—नंगा-नाच भी

लोकलज्जा से बचाव भी। नचे भी, बचे भी और रचे भी। तीनों में विरोध। लोभ द्रव्य का प्रसिद्ध है। ये दर्शन को ही संपत्ति समझते हैं। *जके०*—मद में मस्त व्यक्ति और पागल की सी स्थिति एक साथ इनमें है। चकपकाने और स्थकित होने में विरोध है। जके हैं तो अनबोले, थके हैं तो बके। छके हैं तो चीतैं चित चाव। ऊपर से भी यों ही अन्वित करें 'उघरि नचे' तो जके, बचे हैं तो थके हैं, रचे हैं तो छके हैं। तीन स्थितियों का क्रम बराबर चला गया है। *औसर०*—अवसर का विचार नहीं करते। जिस अवसर पर जो करना चाहिए उसे व्यग्र नहीं सोचता, पागल नहीं सोचता, नेत्र नहीं सोचते। 'घनआनँद' भी और 'बिमोचैं जल' भी में विरोध। लोचन हैं इसलिए 'लोचैं'—ध्यान में लाते हैं, देखते हैं, उसकी कामना करते हैं। पागल 'अरबर' बकता है, लड़खड़ाता है। *देख०*—बारंबार देखते हैं, प्रत्येक बार में नई रमणीयता को ध्यान में लाते हैं।

पाठा०—*भ्रमन ही* = भएँ भ्रम भूलै (देखने पर प्रसन्न, न देखने पर भ्रमित होते हैं)।

(सवैया)

कित जोग कथा सु बृथा ही बकौ यह तौ तब ही अनुमानि लई।
अपनेई सनेह ठगी भ्रम दै प्रतिबिंबहि मूरति मान लई।
घनआनँद वेहू सुजान हुते किहि गौं हठ कै सठहानि लई।
ब्रजखेत हो हेल सुमारनि को तजि भाजि बचे हम जानि लई।११६।

प्रकरण—गोपिकाएँ उद्धव से श्रीकृष्ण के व्रज से भाग खड़े होने के संबंध में कह रही है। वे कहती हैं कि आप अब मुझसे योगकथा की चर्चा करने आए हैं और व्यर्थ ही आए हैं। मैंने तो पहले ही श्रीकृष्ण के संबंध में अनुमान कर लिया था। तत्त्वतः अपने प्रेम के ही कारण हमें भ्रम था। हमने प्रतिबिंब को ही बिंब समझ लिया था। श्रीकृष्ण भारी चतुर थे, किस घात से उन्होंने हठपूर्वक पूँजी की हानि की, वह सब स्पष्ट है। वास्तविकता यह है कि यह व्रज प्रेम के आघातों का क्षेत्र था, इससे वे भाग खड़े हुए। इन आघातों से बचने के लिए वे भागे।

चूर्णिका—*कित* = क्यों। *जोग०* = योग की कथा, योग का उपदेश। *वृथा०* = व्यर्थ ही आप बकवाद करते हैं। *भ्रम दैं* = भ्रम से, भ्रम में पड़ जाने के कारण। *प्रतिबिंब* = छाया। *मूरति* = बिंब। *अपनेई०* = अपने प्रेम से धोखा खाकर, छाया (प्रतिबिंब) को ही मूर्ति (बिंब) मान बैठी (प्रिय में प्रेम नहीं, प्रेम की छायामात्र है)। *सुजान०* = चतुर थे। *किहि०* = किस घात से, किस चालाकी से। *हठकै* = बरबस, जानबूझकर *सठहानि* = पूँजी की हानि। *सठहानि०* = यहाँ से जाकर उन्होंने जो हानि उठाई। *खेत* = क्षेत्र, युद्धक्षेत्र। *हेत* = प्रेम। *सुमार* = अच्छी मार, भारी आघात, कड़े-कड़े आक्षेप। *ब्रज०* = उन्होंने देखा कि ब्रज के प्रेमयुद्धक्षेत्र में मुझपर भारी चोटें हो रही हैं, कड़े-कड़े आक्षेप हो रहे हैं, इससे प्राण बचाकर टल गए।

तिलक—हे उद्धव, आप जो हमें योग की वार्ता का उपदेश देने पधारे हैं उसे व्यर्थ ही क्यों बक रहे हैं। उनकी साधना मुझे ज्ञात है। मैंने उसी समय जब श्रीकृष्ण ब्रज में थे उनके रंग ढंग का अनुमान कर लिया था। उनके साथ प्रेम करने में हमें ही भ्रम था। अपने ही प्रेम ने हमें ठग लिया था। इस प्रेम की ही छाया हमने उनमें देखी, उनमें प्रेम था ही कहाँ। उस छाया को ही मैंने प्रेम की मूर्ति समझ लिया। आप जो यह कह रहे हैं कि ब्रज के वियोग से वे दुखी हैं और उन्होंने इस प्रदेश को छोड़कर और अन्यत्र जाकर अपनी पूँजी ही गँवा दी है सो यह पूँजी गँवाना हम भली-भाँति जानती हैं। सुजान श्रीकृष्ण ने किस चालाकी से यह पूजी गँवाई है यह सब हम जानती हैं। ऐसे हानि उठाने में भी उनका लाभ था। लाभ यह था कि यह ब्रज प्रेमसंघर्ष का विशाल क्षेत्र है। इस संघर्ष में अनेक कड़ी चोटें सहनी पड़ती हैं। इन चोटों को सहने में वे असमर्थ थे, इसी से यहाँ से भागकर उन्होंने अपनी जान बचाई। आप कहते हैं कि उन्होंने वहाँ जाकर हानि उठाई, ब्रज के लिए वे तरसते हैं और इधर वास्तविकता यह है कि प्रेम के संकट सहने में अपनी असमर्थता देख वे प्राण लेकर यहाँ से भागे। हमें सब ज्ञात है; आपको कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं। प्रेम की साधना सरल नहीं हैं, उनके से कच्चे प्रेमी इस साधना में सफल हो ही नहीं सकते थे।

और मुझपर बाण चला रहे हैं। आप ओट में रहकर भी चोट कर रहे हैं। छिपकर मारना विश्वासघात है। पर फिर भी मैं आपका मंगल ही चाहती हूँ विलक्षणता यह है कि मेरे जी में, अंतःकरण में, आप बसे हैं इन बेचारे नेत्रों ने ही क्या दोष किया है कि इन्हें दर्शन नहीं देते।

चूर्णिका—चूर = चूर्ण। *परेखनि* = पछतावों से। *अजौं* = अब भी, इतने पर भी (पिस जाने पर भी पीस रहे हो)। *साँस०* = संकोचों के कारण साँस नहीं समाती, मारे संकोचों के कुछ कह नहीं सकती। *बान* = विरह के बाण। *कसीसत* = (फारसी कशिश) खींचते हो, मारते हो। *ओटनि* = ओट से, छिपकर। *नीके* = हम तो रातदिन यही आशीर्वाद देती (मंगलकामना करती) हैं कि आप जहाँ रहें, जैसा भी आचरण करें सुख से रहें। *आँखिन* = मेरी इन आँखों का क्या दोष है जो इन्हें दिखाई नहीं पड़ते।

तिलक—हे प्रिय, आपने कितनी कठोरता धारण कर ली है। मेरा चित्त पछतावों के एक पर एक उसमें भरते रहने से चूर-चूर हो रहा है। ऐसे पिसे जी को अब भी, इतना पिस जाने पर भी, दुःख से क्यों पीस रहे हैं। जो पहले से पिस गया है उसे कठोर से कठोर व्यक्ति और नहीं पीसते, पर आप इतने पर भी ध्यान नही देते। पीस ही रहे हैं। अनेक प्रकार के संकोचों के कारण साँस अंतःकरण में समाती नही है। एक संकोच की गहरी साँस के अनंतर दूसरे की गहरी साँस तो लेते नहीं बनती। इतने पर भी आप विरह के बाणों से मार रहे हैं। उन बाणों से जो गहरी साँस लेनी पड़ेगी उसे सहना भी मेरे लिए कठिन हो रहा है पर आपने इसका कोई विचार नहीं किया। बाण भी आप यदि सामने से चला रहे होते तो उनसे बचने का कोई उपाय किया जा सकता था, पर ये बाण आप छिपकर चला रहे हैं। वे मुझे अचानक आकर लगते हैं, इससे उनकी चोट भी भीषण हो रही है। यदि आप यहाँ रहते हुए, मुझे दर्शन देते हुए भी मुझसे पराङ्मुख ही रहते तो भी आपके दर्शनों के कारण उस पराङ्मुखता का कष्ट उतना न होता। जो किसी को इस प्रकार का कष्ट देता है लोग सामान्यतया उसे कोसते हैं, उसकी अमंगलकामना करते हैं। पर आप चाहे पिसे पर पीसें, चाहे चोट खाए पर चोट करें, चाहे छिपकर आघात करें मैं आपकी मंगलकामना ही करती हूँ। आप चाहे जैसा

अतिचार करें, रातदिन निरंतर मेरी मंगलभावना यही है कि आप सुखपूर्वक रहें। केवल यही नहीं समझ में आ रहा है कि आप मेरे प्राणों में बसे हैं, पर न जाने इन आँखों ने ही कौन अपराध किया है कि आप इन्हें दिखाई नहीं पड़ते। जैसे प्राणों में बसे हैं वैसे ही इन नेत्रों में आकर बस जाते फिर चाहे जो भी मेरे प्रति असद् व्यवहार करते मुझे किसी प्रकार की ग्लानि न होती।

व्याख्या—*चूर०*—पछतावे इतने भारी और बड़े हैं कि पूरे चित्त को घेरकर दबाते-पीसते हैं। वे एक पर एक कई हैं। आपके स्वरूप को मैंने पहले नहीं पहचाना इसका पछतावा, आपने ही पहले आकृष्ट किया फिर आप ही विमुख हो गए इसका पछतावा, सारा संसार आपके प्रति मेरे प्रेम को जान गया; सभी समानुभूति प्रकट करने लगे, फिर भी आप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा इसका पछतावा, इति दिक्। चित्त इतना चूर हो गया है, उसके कण पिसकर इतने छोटे हो गए हैं कि अब और अधिक छोटे होने को नहीं रह गए। जब तक पिसते अन्न के कण बड़े रहते हैं तब तक उसको पीसने से उस अन्न को उतना आघात वैसा कष्टद नहीं हो सकता। पूर्णतया पिस जाने पर अब केवल पिसना ही पिसना रह गया। चित्त में तो इस प्रकार की कोमलता आ गई है कि अब उससे कोमल हो ही नहीं सकता और आपकी कठोरता ऐसी है कि आप समझ रहे हैं कि अन्न अभी खड़ा-कड़ा है इसे और पीसना है। पछतावे ने इस प्रकार चूर्ण किया है जैसे खरल में बट्टे से किसी को कूटकर छोटा करते हैं। पीसना वैसा है जैसा चक्की में। दो पाटों के बीच पिसना। मेरे मन में तो दुःख है ही आपकी ओर से आए दुःख से वह दो पाटों के बीच में पड़े अन्न की स्थिति प्राप्त कर लेता है। आप कठोर हैं इसी कठोरता का मुझमें अनुमान कर रहे हैं। यहाँ चित्त चूर्ण होकर कितना कोमल हो गया है, कुछ कहा नहीं जा सकता। *साँस०*—हृदय में संकोच इतने भर गए हैं कि साँस लेने का भी वहाँ स्थान नहीं है। अब बाण का स्थान उसमें कहाँ है। संकोचों ने ही साँस समाप्त कर दी है। अब साँस निकालने के लिए बाण बेकार हैं। केवल मरते समय कष्ट भर होगा। संकोचों ने ही मार डाला। फिर बाण क्यों चलाए जा रहे हैं। आपकी कठोरता पीसने में नहीं, बाण मारने में भी है। *ओटनि०*—छिपकर

चोट करने से आपको मारने में सुभीता है, लक्ष्य पर बाण ठीक से पहुँचेंगे। यह भी आपकी कठोरता ही है। इन कठोरताओं के होते भी मुझमें कठोरता नहीं। मेरा अंतःकरण पूर्ववत् कोमल है। आपकी मंगलकामना जो करता रहता है। प्रश्न हो सकता है कि इतने कठोर के प्रति ऐसा मृदु व्यवहार क्यों। इसके कई हेतु हैं। एक तो जिसका जो स्वभाव होता है उसी के अनुसार वह आचरण करता है। कोई साधु-महात्मा किसी नदी में स्नान कर रहे थे। ऊपर भिड़ का छत्ता था। भिड़ें वहाँ से निकलतीं तो तेजी से उड़ती जाकर पानी में गिरतीं। उनमें से एक साधु-महात्मा के पास पानी में गिरी। उन्होंने उसे हाथ की अंजली में पानी भरते हुए निकाल दिया। उडते समय उसने महात्मा के हाथ में डंक मार दिया। अभी उसके गए देर नहीं हुई थी कि दूसरी आकर पानी में गिरी। महात्मा ने फिर वही किया। उसने भी तद्वत् हाथ में डंक मार दिया। इसी प्रकार तीसरी ने भी किया। पास स्नान कर रहा एक व्यक्ति यह सब देख रहा था। उससे रहा नहीं गया। उसने महात्माजी से पृच्छा की कि आपको बारंबार डंक मारती है फिर भी आप उसके उद्धार में क्यों लगे हैं। छोड़िए इस कष्टद कार्य को। महात्मा ने कहा—वह अपना कार्य कर रही है और मैं अपना काम कर रहा हूँ। यहाँ भी विरहिणी वही कर रही है। प्रिय कष्ट दे, दे, मैं अपना कार्य क्यों बदलूँ। दूसरे यह कि हो सकता है कि प्रिय के स्वभाव में परिवर्तन हो जाए। आशा-संभावना ऐसा करा रही है। तीसरे प्रिय प्राणों में बसा भी तो है जिससे कुछ शांति मिलती है। *प्राननि०*—प्राणों में बसे हैं और उनमें तथा आँखों में स्थान का भी बहुत अंतर नहीं है। फिर भी आप दिखाई नहीं पड़ते। कोई यह कहे कि आप प्राणों में भी प्रतिक्षण नहीं रहते सो भी नहीं है, आप वहाँ बसे हैं। प्राण तो भीतर हैं उनमें दोष हो तो दिखाई नहीं पड़ सकता, पर नेत्रों में दोष हो तो दिखाई भी देगा।

ज्यौं बहरै न कहूँ ठहरै मन देह सो आहि बिदेह को लेखौ।
देखिति जो दुखिया अखियाँ निति बैरियौ की सुपने सु न देखौ।
हौ तौ सुजान महा *घनआनँद* पै पहचानि की राखौ न रेखौ।
हाय दई यह कौन भई गति प्रीति मिटेहू मिटै न परेखौ।११८।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के प्रति अपने विरह के कष्ट और स्थिति का निवेदन कर रही है। उसका कहना है कि न कहीं जी बहलता है और न मन टिकता है। देह का ज्ञान रहा नहीं। मेरी आँखें जो दुख पा रही हैं वह ऐसा है कि मैं यही मनाऊँगी कि शत्रु की आँखें भी स्वप्न में ऐसा कष्ट न पाएँ। आपने पहचान की एक लकीर भी नहीं रहने दी। मेरी और अपनी प्रीति की रेखाएँ भी मिटा दीं। प्रीति तो मिट गई, पर पछतावा क्यों नहीं मिट रहा है।

चूर्णिका—*ज्यौ* = जी, चित्त। *बहरैं न* = बहलता नहीं, लगता नहीं। *ज्यौ बहरैं०* = न तो चित्त ही कहीं बहलता है, न मन ही कहीं टिकता है। *देह०* = शरीर तो विदेह दशा को प्राप्त हो रहा है, शरीर की सुध ही नहीं रह गई है। *बैरियौ की०* = शत्रु की भी आँखे। *देखति०* = मेरी आँखे जो कुछ देख रही हैं (जो कष्ट भोग रही हैं) उसे शत्रु की भी आँखें स्वप्न में भी न देखें (कष्ट बहुत अधिक जो है)। *पहचानि०* = पहचान की रेखा भी नहीं रखते, लेश मात्र भी नहीं पहचानते। *परेखौ* = पछतावा। *प्रीति०*= प्रिय के द्वारा प्रीति के छूट जाने पर पछतावा नहीं छूटता।

तिलक--हे प्रिय. मेरा जी बहलता नहीं, कहीं लगता नहीं, मन भी कहीं टिकता नहीं। यह तो अंतःकरण की दो वृत्तियों की स्थिति। रही अहंता तो वह भी अपनेपन का बोध नहीं करती। शरीर से बढ़कर अपना और कौन निकट संबंधी होगा पर उसकी स्थिति अब विदेह की हो रही है। देह से विगत देहमुक्ति की स्थिति हो गई है। फिर भी मुझे अपनी बुद्धि यही कहती है कि मैंने, मेरी आँखों ने जो कष्ट सहा सो सहा जैसा नित्य सहती हैं, सहें, दूसरा ऐसा कष्ट न सहे। शत्रु की भी आँखें स्वप्न में भी ऐसा कष्ट न पाएँ, कभी न पाएँ। आप सुजान भी हैं और महा सुजान हैं, आनंद के घन हैं पर अपने पास आप किसी के पहचान की, प्रेमी के पहचान की रेखा भी नहीं रहने देते। एक रेखा भी नहीं रहने देते, मिटा देते हैं। हे दैव, मेरी यह कैसी गति है कि प्रिय ने तो अपनी प्रीति मिटा दी, मेरी पहचान मिटा दी, पर उसके इस कार्य से जो पछतावा मुझे हो रहा है वह नहीं मिट रहा है, पछतावे का आधार प्रेम है। जब प्रेम ही नहीं रहा तो उसका आधार लेकर होनेवाला पछतावा कैसा।

व्याख्या—*ज्यौ०*—अंतकरण चार प्रकार का होता है–मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। चारो की परिस्थिति का संकेत है। जी (चित्त) तो बहलता नहीं। 'अनुसंधानात्मकवृत्तिमदन्तःकरणं चित्तम्'। चित्त में अनुसंधान, जिज्ञासा, कुतूहल होता है। वह जो कुछ खोजता है उसमें बहलता है, लगता है, पर न जाने इसकी क्या स्थिति है कि कहीं लगता ही नहीं। मन संकल्पविकल्पात्मक होता है। पर उसमें रमने की वृत्ति भी होती है। पर वह कहीं नहीं रम रहा है। उसकी चंचलता मानती ही नहीं—चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथी बलवद्-दृढम्। तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्। यह निग्रह में आता नहीं। कहीं टिकना नहीं। 'न कहूँ' देहरीदीप-न्याय से 'ज्यौ' और 'मन' दोनों में लगता है। अहंकार की देहवृत्ति होती है, पर वह देहाध्यासशून्य हो गया है। चित्त, मन, अहंकार तो गए ही, देह भी गई। उसका होना न होना बेकार। प्रिय के दर्शन, स्पर्श, संपर्क आदि से ही उसका अस्तित्व अस्तित्व था। वे तो दूर रहे। यहाँ वियोग के कष्ट ने उसका ज्ञान ही हर लिया। रही बुद्धि। *देखति०*—सो वह बुद्धि यही कहती है कि ऐसा भीषण दुःख मैंने जो सहा या नित्य सहती हूँ सो मैं ही सहूँ। किसी को सहना न पड़े। शत्रु के प्रति प्रायः कठोर होते हैं लोग। पर मैं सोचती हूँ कि इस भीषण कष्ट को देखते किसी की कठोरता शत्रु के प्रति नहीं रह सकती कि मेरा दुख टले और शत्रु को जा लगे। मेरी आँखें जो प्रत्यक्ष देख रही हैं उन्हें शत्रु की आँखें स्वप्न में भी न देखें। स्वप्न में भी और केवल ऐसे दुख का देखना ही इतना भीषण अनुभव उत्पन्न करेगा कि उसका वर्णन नहीं हो सकता। *हौं तौ०*—आप एक तो अत्यन्त सुजान हैं, दूसरे आनंद के घन हैं। पहचान प्रत्यभिज्ञान सज्ञान के लिए उचित और उपयुक्त है। पर उसकी एक रेखा भी नहीं रखी। अपनी प्रीति मिटा दी तो मिटा दी, पर मेरी पहचान बनी रहती तो आपके आनंद में कौन सी कमी आई जा रही थी। *हाय०*—ईश्वर ही निर्माता है, मेरा यह कैसा निर्माण तूने किया। कैसी दुर्गति मेरी हुई। मेरी उनके प्रति जो प्रीति थी वह भी मिट गई और उनकी मेरे प्रति जो प्रीति थी वह भी मिट गई। जब मूल ही नहीं तो फिर शाखा-पल्लव क्यों। प्रेम ही नहीं रह गया तो उसके न रहने का पछतावा कैसा।

पाठा०—*हौं* = हे ('थे' के अर्थ में)।

कवित्त

ह्वै है कौन घरी भाग भरी पुन्यपुंज फरी
खरी अभिलाषनि सुजान पिय भेटिहौं।
अमी ऐन आनन को पान प्यासे नैननि सों
चैननि ही करिकै बियोगताप मेटिहौं।
गाढ़े भुजदंडन के बीच उरमंडन कों
धारि घनआनँद यौं सुखनि समेटिहौं।
मथत मनोज सदा मो मन पै हौं हूँ कब
प्रानपति पास पाय तास मद फेटिहौं। ११६।

प्रकरण—विरहिणी की अभिलाषदशा का वर्णन है। वह इच्छा करती है कि वह समय कब आएगा जब प्रिय से भेंट होगी। उनके मुख के जी भर दर्शन होंगे। उनके आलिंगन का अवसर मिलेगा और कामव्यथा दूर होगी।

चूर्णिका—*भागभरी* = भाग्य से भरी, भाग्यशालिनी। *पुन्य०* = पुण्यों से फली हुई, पुण्य के परिणामस्वरूप मिली हुई, सुखद। *खरी* = तीव्र। *अमी* = अमृत। *ऐन* = अयन घर। *आनन* = मुख। *अमी०* = अर्थात् मुखचंद्र। *चैननि* = सुखपूर्वक। *उरमंडन०* = हृदय को शोभित करनेवाले प्रिय को। *समेटिहौं* = एकत्र करूँगी, लूटूँगी। *मनोज* = काम। *तास*= उसका। *फेटिहौं* = फेट डालूँगी, (मद) मर्दन कर दूँगी।

तिलक—मेरी वह भाग्यशालिनी पुण्यों से फली घड़ी कब आएगी जब मैं तीव्र लालसाओं से युक्त अपने प्रिय सुजान से भेंट करूँगी। भेंट होने पर उनके अमृत के घर मुख की सुधा का पान अपने प्यासे नेत्रों को कराऊँगी। सुखपूर्वक कराऊँगी। जिस शीतल सुधा के प्रभाव से मेरा वियोगताप मिट जाएगा। केवल प्रिय के दर्शनों का ही सौभाग्य न प्राप्त होगा प्रत्युत हृदय को सुशोभित करनेवाले प्रिय को अपने भुजदंडों से उसी प्रकार भली भाँति धारण करूँगी जिस प्रकार कोई लूटी जानेवाली वस्तु को भुजाओं से समेटता है। इस प्रकार का उनका गाढ़ आलिंगन मेरे लिए क्या होगा, मैं उन्हें भुजपाश में बाँधती हुई यह अनुभव करूँगी कि सुखों की गठरी ही समेट रही हूँ। अभी

तो काम ही निरंतर मेरे मन को मथ रहा है, पर उस समय अपने प्राणपति को निकट पाकर मैं ही उसके मद का मर्दन करूँगी।

व्याख्या—ह्वैहै०—उस घड़ी में भाग्य तो भीतर भरा होगा और बाहर पुण्यों के समूह फले होंगे। किसी के पुण्य कभी फलते ही हैं। उन पुण्यों का फल भोगने का अवसर मिलता ही है। प्रिय की भेंट मेरे लिए परम सौभाग्य होगी और अत्यंत पुण्यों के फलरूप में प्राप्त होगी। मेरे परम सौभाग्य और परम पुण्य से ही उनसे भेंट होगी। मेरी तीखी लालसाएँ उस समय जगेंगी। वह घड़ी केवल भरी और फली ही न होगी, तीखी भी होगी। *अमी*०—प्यास तीव्र है। इससे एक पात्र से नहीं दो दो पात्रों से दोनो नेत्रों से पान करूँगी। वहाँ भी कमी नहीं है। अमृतायन है वह मुख। अमृत वहाँ भरा है, छककर नेत्र उसका पान करेंगे। *गाढ़े*०—कोई दरिद्र जब द्रव्य पाता है तब उसे तन्मनस्क होकर अपने हाथों, बाहों से बटोरता-समेटता है। मेरी दरिद्र की सी वृत्ति होगी। *मथत*०—काम का नाम 'मन्मथ' है। मन को मथना उसका कार्य ही है। मन से उत्पन्न भी है और मन को मथता भी है। मन उसका पिता है। पिता को ही कष्ट देता है। ऐसे के मद को नष्ट करना आवश्यक है। प्राणपति का पास 'पाश' का भी काम करेगा।

पाठा०—*तास* = ताप।

सोए बहुतेरो मेरो सोचहू निबेरो हेरौ
हौं न जानौं कब धौं उनीदे भाग जगौगे।
पीर भरे लोचन अधीर हौ पै जानत जू
कौन घरी रूप के रसोत जगमगौगे।
अंग अंग तुम्हैं कौ लौं दहैगो अनंग कहूँ
रंग भरी देह जान प्यारे संग खगौगे।
चलौ प्रान पलौ परे दूरि यौं कलमलौ क्यौं
बिना घनआनँद कितेक दुख दगौगे। १२०।

प्रकरण—विरहिणी अपने भाग्य, नेत्र, अंग और प्राण को संबोधित कर प्रिय के पुनर्दर्शन के अभिलाष और वियोगव्यथा की चर्चा कर रही है। भाग्य को वह संप्रति निद्रालसयुक्त कहती है। सोए भाग्य तुम कब जगोगे।

तुम्हारे जगने पर ही मेरा सोच भी दूर होगा। हे नेत्र, तुम अधीर तो हो, पर प्रिय के रूप के दर्शन तुम्हें कब होंगे, कुछ पता है? हे मेरे प्रत्येक अंग, तुम्हें काम (अनंग) कब तक जलाएगा। प्रिय की आनंदमयी मूर्ति तुम्हें कब मिलेगी। हे प्राण, इस प्रकार व्याकुल होते हो, पर बिना आनंदघन प्रिय के न जाने कितने दुख भोगने होंगे।

चूर्णिका—*बहुतेरो* = बहुत अधिक, आवश्यकता से अधिक। *निबेरौ* = दूर करो। *हेरौ* = मेरी ओर देखो। *उनींदे* = नींद में अलसाए हुए। *रसोत* = एक औषध जो दारुहल्दी से बनती है और आँख के रोग तथा घाव में काम आती है; रसवत्, रसमयता, आनंददायकता। *अनंग* = काम; अंगहीन। *कहूँ* = कभी। *रंग* = वर्ण; आनंद। *रंगभरी०* = रंगभरी देह वाले प्रिय। *खगोगे* = मिलोगे। *पलौ* = पलते रहो। *परे०* = शरीर से (निकलकर) दूर पड़े और प्रिय से दूर पड़े। *कलमलौ* = व्याकुलता से छटपटाते क्यों हो। *दगौगे* = जलोगे, (दुख) सहोगे।

तिलक—विरहिणी पहले अपने भाग्य को संबोधित करके कहती है कि हे मेरे नींद से अलसाए भाग्य तुम बहुत अधिक (सीमा से परे) सो चुके, मैं नहीं जानती कि तुम कब जगोगे। जागो, मेरी दशा को देखो और मेरा सोच भी दूर करो। मुझे वियोग का जो भी कष्ट है वह तुम्हारे जगे बिना दूर नहीं हो सकता। सूक्ष्म होने से भाग्य का प्रभाव सबसे दूरगामी और गहरा है। भाग्य ही सो रहा है तो स्थूल अंगों के जगने का प्रश्न ही नहीं उठता। वे और भी शिथिल होंगे। भाग्य और माथे का अटूट संबंध है। भाल पर ही यह भाग्यरेखा लिखी रहती है। अब उस भाल पर भाग्य से निवेदन करने के अनंतर नेत्रों पर ध्यान जाता है। नेत्रों को संबोधित कर विरहिणी कह रही है कि हे नेत्र, तुम पीड़ा से भरे हो और साथ ही अधीर भी हो रहे हो। क्या तुम्हें पता है कि प्रिय के सौंदर्य की रसमयता से तुम कब पीड़ा के कारण जो अंधकार का अनुभव कर रहे हो रूपज्योति से जगमगा उठोगे। नेत्रों के अनंतर प्रत्येक अंग को संबोधन करके कहा जा रहा है कि हे अंग, तुम्हें अनंग (जिसके अंग है ही नहीं) जला

रहा है। इस जलन को दूर करने के लिए एक तो जल की आवश्यकता है दूसरे निरंग से सांग की अपेक्षा है। सुजान प्रिय का शरीर निरंग (अनंग) नहीं रंग से भरा है। सरस है। उसी में लीन हो जाओगे तभी तुम्हारा कष्ट दूर होगा, पर कब ? प्राण अंगों को छोड़कर बाहर व्याकुल हो रहे हैं। अभी इस प्रकार व्याकुल होने से तो दुःख ही दुःख बढ़ेंगे। इसलिए अभी इस आशा में जीते रहो कि प्रिय से भेंट होगी।

व्याख्या—*सोए०*—प्रायः निश्चिंत सोनेवाला देर तक सोता है। 'घोड़ा बेचकर सोना' प्रयोग ही चलता है। जब तक घोड़ा बिका नहीं था तब तक चिंता थी। घोड़ा बिका, सोच गया। निद्रा गहरी, दीर्घकालव्यापिनी हुई। भाग्य के सोने से, अधिक सोने से स्पष्ट है कि उसको कोई सोच, चिंता, फिकर नहीं है। तभी तो वह खूब सो रहा है। उसका सोच किसी प्रकार दूर हो गया होगा। यह सोच भी दूर हुआ होगा जब वह जगता रहा होगा अतः यदि किसी दूसरे का सोच उसे दूर करना हो तो पहले उसका जगना आवश्यक है। जैसे अपना सोच दूर किया, उसी प्रकार मेरा भी सोच दूर करो। निबेरो कहने में आत्यंतिक निवृत्ति प्रयोजनीय है। सोच ऐसा दूर हो जाए कि फिर उसके निकट आने की संभावना ही न रहे। कोई व्यक्ति जब सोता रहता है और उनींदा रहता है तब जागने पर वह आँखें खोल देता है, फिर जहाँ जगानेवाले ने उसे हिलाना-डुलाना बंद किया, वह पुनः आँखें बंद कर लेता है। भाग्य भी इसी प्रकार कर रहा है। इसी से उससे हेरने अर्थात् सचेत स्थिति में आकर ध्यानपूर्वक देखने को कहा जा रहा है। बिना सचेत हुए किसी का सोच दूर करने की प्रवृत्ति ही कहाँ से होगी। इतना जगाया, फिर भी नहीं जगे। अतः नैराश्य हो रहा है कि शीघ्र जगने की संभावना नहीं है। पर जगना तो पड़ेगा ही। नैराश्य चरम परिणति नहीं है। आशा में ही पर्यवसान होगा। देर चाहे जितनी लगे भाग्य जगकर रहेगा, पर कब ? यही अनिश्चित है। *पीर०*—भाग्य सूक्ष्म है, दिखाई नहीं देता, नेत्र दिखाई देते हैं इससे उसी को संबोधित किया जा रहा है। भाग्य समझदार नहीं है। उसमें स्वकीयभाव अधिक है। अपना काम बन गया तो फिर दूसरे का बने या न बने। पर 'लोचन' तो 'लोचन' विचार करनेवाला है।

सोचने-विचारनेवाला है। भाग्य तो सोच से रहित होकर सो गया, पर लोचन तो स्वयम् सोच में, पीड़ा में पड़े हैं। इससे समझदारी से परदुःखकातरता की भावना से युक्त होनेवाले हैं। अतः विरहिणी इन्हीं से पूछती है। यह नहीं कि मेरा सोच दूर करो। प्रत्युत यह पूछती है कि भई, तुम्हारा सोच कब दूर होगा। तुम्हारा सोच दूर होना मेरा सोच दूर होना एक ही है। भाग्य के साथ यह बात नहीं थी। 'पीर भरे' लोचन स्वयम् अपनी पीड़ा से तो भरे हैं ही उनमें दूसरों की पीड़ा भी भरी है। भाग्य तो धीर-शांत गंभीर होकर सो रहा है, पर नेत्र तो अधीर हैं। अधैर्य केवल पीड़ा का नहीं है, नेत्र अपना कार्य देखने का कार्य नहीं कर पा रहे हैं। जब देखने का कार्य नहीं होता तब सोचने-विचारने का कैसे होगा। अतः यदि नेत्र किसी प्रकार देखने के योग्य हो जाएँ तो काम बन सके। नेत्रों की पीड़ा 'रसौत' से दूर होती है। दारु-हल्दी से बनी औषध किसी पात्र (घरिया-घरी) में रखकर निरंतर उसका प्रयोग करते रहते हैं। चाँदी (रूप) की कटोरी में रखें तो और भी अच्छा। प्रिय के रसमय रूपदर्शन से नेत्र जगमगा उठेंगे। उनकी 'कौन घरी' 'भागभरी घरी' हो जाएगी। 'पीर भरी' नहीं रहेगी। 'लोचन' विचारनेवाला है इसी से तो उसे 'जानते हो' कहा गया है। पीड़ा के आधिक्य से उसकी ज्ञानशक्ति कम हो गयी है। अन्यथा पूछने की आवश्यकता न पड़ती। *अंग०*—नेत्रों के अनंतर प्रत्येक अंग की पीड़ा की अनुभूति होती है। केवल नेत्रों में पीड़ा नहीं है। सभी अंगों में है। नेत्रों की पीड़ा अधिक है। प्रेमी प्रिय की उन्मुखता, सुमुखता भर चाहता है। यदि प्रिय सुमुख हो जाए तो कभी न कभी संमुख भी हो सकता है। सुमुख होने मात्र से उसे संतोष हो जाएगा संमुख हो जाए तो अधिक संतोष होगा। यदि प्रिय सुमुख है तो बहुत न करे तो केवल दर्शन दे दे। इससे अधिक की आवश्यकता नहीं है। पर उससे भी अधिक हो तो यही कि प्रिय के अंग का सांनिध्य प्रेमी के अंगों को मिले। यह तीसरी 'परम संतोष' की सीढ़ी है। इससे इसका उल्लेख पीछे किया गया है। अंगों में जलन है। जलन तभी दूर हो सकती है जब उसके लिए शीतोपचार हो और अंगों में कोई शीतल लेप लगे। नेत्रों में यदि पीड़ा होती है तो प्रकाश में न रहने से, आँखें 'बंद' किए रहने से भी पीड़ा में कमी हो जाया करती है।

पर जलन के लिए अंग से लेप का स्पर्श आवश्यक होता है। नेत्र केवल रूप देख लें तो उसका काम बन गया, पर अंग तो तभी आप्यायित हो सकते हैं जब प्रिय के अंग का, शरीर का स्पर्श प्राप्त हो। प्रिय के दूर रहने से प्रिय की अंगता का सुख कहाँ, अनंगता का दुःख अवश्य है। निरंगता का क्लेश निश्चित है। प्रिय के अंग (देह) के रंग (आनंद-रस-सुवर्णता) का संग होना ही उनके लिए अनिवार्य है। खग जाना, लीन हो जाना है। चलौ०— अब प्राण अर्थात् जीव से कहा जा रहा है। भाग्य, नेत्र और अंग सभी शरीर में रहे, चाहे जैसे रहे हों। पर प्राण ने तो शरीर का परित्याग कर दिया है। जिस शरीर से प्रिय की प्राप्ति नहीं हुई उसमें क्या रहना। पर प्रिय मिलेगा तो शरीर को ही मिलेगा, नेत्र या भाग्य को न मिलेगा। इसलिए यदि जी शरीर को ही त्याग दे और व्याकुल रहे तो उसकी व्याकुलता कथमपि दूर नहीं हो सकती। अतः जी से कहा जा रहा है कि अभी अपने को बचाए रखो, इसी शरीर में रहो, बिना प्रिय के तो दुःख ही दुःख है। प्रिय मिलेंगे, यह निःसंदिग्ध है। जी को तो केवल आनंद से प्रयोजन है, घने आनंद से प्रयोजन है। उसके मिले बिना शरीर छोड़कर चल देना उन्हें व्यर्थ गवा बैठना है। प्रिय की प्राप्ति के लिए ही जीना है।

सवैया

दृगनीर सों दीठिहि देहुँ बहाय पै वा मुख कों अभिलाखि रही।
रसना बिष बोरि गिराहि गसौं वह नाम सुधानिधि भाखि रही।
घनआनँद जान सुबैननि त्यों रचि कान बचे रुचि साखि रही।
निज जीवन पाय पलै कबहूँ पिय कारन यौं जिय राखि रही।१२१।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के वियोग में भी, भीषण विरह में भी नेत्रों की दृष्टि, वाणी, कानों की श्रवणशक्ति और प्राणों को कैसे बचा पा रही है: इसी का विवरण है। दृष्टि के बचने का कारण है प्रिय के मुखदर्शन की लालसा। वाणी के न समाप्त होने का कारण है प्रिय के अमृतमय वचन का उच्चारण। कानों की श्रवणशक्ति इसलिए रक्षित है कि प्रिय के वचनों के सुनने का अभिलाष है उन्हें। जी भी इसी से बचा है कि वह प्रिय की संजीवनी को पाना चाहता है।

चूर्णिका—*दृग०* = आँसू बहाकर (उसी के साथ) दृष्टि (नेत्रज्योति) को बहा दूँ (समाप्त कर दूँ)। *अभिलाखि* = अभिलाष करके, (प्रिय के) उस मुख को देखने की आशा में। *रही* = रुक गई, दृष्टि को बचा रखा। *गिरा* = वाणी। *गसौं* = ग्रस्त कर दूँ, स्तब्ध कर दूँ। *बैन* = वचन। *त्यों* = ओर *रचि*=अनुरक्त होकर। *रुचि०* = मेरी रुचि ही साक्षी है, बचने का प्रमाण मेरी रुचि ही देगी, मेरी रुचि ही कानों को बचाने का कारण है। *पलै* = पले (भली भाँति पुष्ट हो) *राखि०* = रखनी हूँ, बचाए हुए हूँ।

तिलक—विरहिणी अपनी किसी सखी से या उसके विरह के संबंध में विविध आंगिक शक्तियों के भीषण विरह में भी बच जाने पर आश्चर्य व्यक्त करनेवाले से कह रही है। यदि कोई कहता है कि इतने आँसू बह रहे हैं, पर दृष्टि फिर भी बची है तो उसका कारण यह है कि दृष्टि प्रिय के उस रमणीय मुख के दर्शन के अभिलाष के कारण बची है अन्यथा यह दृष्टि ऐसी हो गई है कि बहा देने ही योग्य है। अश्रुप्रवाह में मैं तो इसे बहाती ही रहती हूँ, पर यह लालसा से ही बची है। जीभ से वाणी निकलने में कष्ट ही है, इच्छा यही होती है, प्रयत्न यही रहता है कि जीभ को विष में डुबो दिया जाए जिससे वह बोलना बंद कर दे। पर उस सबका कोई प्रभाव जीभ पर पड़ता ही नहीं। वह तो प्रिय के अमृतमय नाम का उच्चारण करती है इसी से वाणी ज्यों की त्यों है, जीभ चाहे कितनी भी अशक्त क्यों न हो गई हो। रह गए कान। इन्होंने प्रिय के ललित वचनों को सुना है उनमें अनुरक्त हुए हैं इसी से बचे हैं, उन वचनों को पुनः सुनना चाहते हैं। उनकी यह रुचि ही उन्हें बचाए हुए है। कानों में शक्ति नहीं है पर वचनों के अमृत से वे बचे और उस अमृत को सुनने की ही रुचि से वे जी रहे हैं। रहा जी। वह भी मैं इसी से बचाए हुए हूँ कि अपने अमृत-जीवन प्रिय को पाकर वह भी एक बार पुष्ट हो ले अन्यथा यह भी बचाने योग्य थोड़े ही रह गया है।

व्याख्या—*दृग०*—नेत्रों से ही जब पानी निकल रहा है और उन्हीं में दृष्टि भी है तब उस पानी के साथ उस दृष्टि का भी निकल आना या उसके साथ बह जाना कोई कठिन काम नहीं है। किसी की आँखों में पानी

नहीं रह जाता इससे तात्पर्य यही होता है कि जिसे उसे दृष्टि लगाकर देखना चाहिए उसे वह देखता ही नहीं। मरते समय नेत्रों की ज्योति समाप्त होती है आँखों से पानी ढरक जाने से ही। अर्थात् नेत्रों की दृष्टि और कुछ नहीं एक प्रकार का पानी है। फिर आँसू और उसमें सजातीयता हो ही गई। पानी के साथ पानी का बह जाना ठीक है, सरल है, कोई कठिनाई नहीं है। प्रत्युत कहना यह चाहिए कि मेरे आँसू तो उस दृष्टि को निरंतर बहाते ही रहते हैं पर उन नेत्र चकोरों को प्रिय के मुख सुधाधर से जो सुधा मिलती है उससे उनमें फिर पानी आ जाता है, ऐसा अमर पानी कि क्या बहाए बहेगा वह। इन नेत्रों में अभिलषित है प्रिय दर्शन ही इसी से ये अभिलषित तो हो जाते हैं। फिर से ज्यों के त्यों हो जाते हैं। *रसना०*—जीभ का नाम रसना है, रसमय। इसे भी यदि किसी तरल पदार्थ में डुबो दें तो वह उसमें डूब जाएगी और पदार्थ इसमें प्रविष्ट हो जाएगा। इसकी वाणी को मैं उसी प्रकार ग्रस्त कर देती हूँ जैसे चंद्रमा राहु से ग्रस्त हो जाता है। पर यह क्यों ग्रस्त होने लगी। इसने तो सुधानिधि नाम का भाषण आरंभ कर रखा है। जो भी विष इसे ग्रस्त करता है वह उस सुधा के खजाने के कारण निष्प्रभाव हो जाता है। विष उस सुधा के सामने टिकता ही नहीं। 'भाष' का प्रभाव 'भास' हो जाता है। वह तो और भी चमक उठती है, वाणी क्षीण होने के बदले प्रखर हो जाती है। *घन०*—आनंदघन सुजान के लसित वचनों में अनुरक्त होकर कान इसलिए बचे कि वे वचन अमृत थे। कान मरणासन्न थे। उनके वचन आनंद के वचन थे क्योंकि वे स्वयम् आनंदघन, आनंद के बादल जो हैं। उन कानों के बचने को जानने समझनेवाला और कोई नहीं था केवल उनकी रुचि ही समझती और जानती है कि ये कैसे बच गए। कानों पर प्राकृतिक प्रखरता का प्रभाव बहुत पड़ता है। गरमी में लू और जाड़े में ठंढक से कानों को बचाने के लिए उन्हें ढक लेते हैं। रुचि ही वह आवरण है जिससे ये कान प्रिय के वचनों के अतिरिक्त अन्य किसी की बातें सुनते नहीं। *निज०*—प्राणों के लिए प्रिय ही जीवन है उसकी प्राप्ति ही जीवन है। जी बिना प्रिय के, बिना जीवन का है। प्रिय ही तत्त्वतः प्राण है।

(कबित्त)

तुम दीनी पीठि दीठि कीनी सनमुख याने
तुम पैंड़े परे राखि रह्यौ यह प्रान कों।
तुम बसौ न्यारे यह नेकहू न हातो होय
तुम दुखदाई यह करै सुखदान कों।
सुनौ घनआनँद सुजान हौ अमोही तुम
याको महा मोह मो बिना न जानै आन कों।
और सबै सहौं कछू कहौं न कहा है बस
तुम्हैं बदौं तौ पै जौ बरजि राखौ ध्यान कों। १२२।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के और प्रिय के ध्यान के व्यवहार का अंतर स्वयम् प्रिय को संबोधित करके कह रही है। प्रिय के प्रति कथन दूती के माध्यम से या पत्रिका से या एकांत भाषण के रूप में हो सकता है। प्रिय के और उसके ध्यान के व्यवहार में परस्पर विरोधी स्थिति है। प्रिय पराङ्मुख है और यह संमुख है। प्रिय प्राणों के पीछे पड़ा है, यह प्राणों की रक्षा कर रहा है। प्रिय दूर है यह निकट से दूर जाता ही नहीं। प्रिय दुःख देते हैं यह सुख देता है। प्रिय अमोही हैं, वह परम मोही है। यद्यपि ध्यान प्रिय का ही है। पर प्रिय चाहें भी तो उसे हटा नहीं सकते।

चूर्णिका—*दीनी०* = विमुख हो गए। *दीठि०* = इस (ध्यान) ने संमुखता दिखाई (ध्यान आपके विमुख हो जाने पर बढ़ गया है)। *पैंड़े०* = आप (प्राणों के) पीछे पड़े हैं। *राखि०* = यह (ध्यान) प्राणों को बचा रहा है। *न्यारे०* = अलग, दूर। *न हातो०* = दूर नहीं होता। *आन कों०* = किसी दूसरे को। *बदौं* = समझूँ। *तौ पै* = तब तो। *बरजि०* = रोक लो।

तिलक—विरहिणी प्रिय को उसकी तथा उसके ध्यान की करनी में अंतर बता रही है। आपने तो मेरी ओर पीठ की, मुझसे विमुख हो गए। पर यह ध्यान मेरे भी संमुख है और आप के भी संमुख है। प्रिय तो प्राणों के पीछे पड़ गया है। उन्हें ले ही लेना चाहता है। पर यह ध्यान ही ऐसा है कि प्राणों को बचा रहा है। प्रिय न जाने कितनी दूर काले कोसों पर जा बसा है, पर यह

तो थोड़ा भी पृथक् नहीं होता। प्रिय का ध्यान निरंतर बना रहता है। आपसे केवल दुख ही दुख मिलता है, पर ध्यान सुख ही सुख देता है, हे प्रिय, आप घनआनंद होकर भी मोहरहित हैं, पर ध्यान में तो इतना मोह है कि मेरे अतिरिक्त वह किसी दूसरे को जानता ही नहीं। आपके द्वारा किए सभी आचरण सह रही हूँ, कुछ भी नहीं कहती कि आप ऐसा क्यों कर रहे हैं। आप मुझसे तो इतने विमुख हैं कि मुझे प्रतिकूल ही प्रतिकूल दिखाई देते हैं, अनुकूलता का नाम नहीं। मैं आपकी प्रेमिका हूँ पर आप सब कुछ मुझसे सहा रहे हैं। पर यह ध्यान आप ही का है। आपको मैं समझूँ कि आप बहुत शक्तिशाली हैं यदि इस ध्यान को जो आपका ही है रोक दीजिए।

व्याख्या—*तुम०*—प्रिय ने ज्यों ही पीठ फेरी त्यों ही ध्यान ने दृष्टि की अनुकूलता दिखाई। प्रिय ने मेरी ओर पीठ की, तो ध्यान ने उस पीठ को ही देखना आरंभ किया। उसने विमुखता, प्रतिकूलता में भी अनुकूलता निकाल ली। प्रिय ने मेरी ओर पीठ करके प्राणों का पीछा किया। प्राणों को पीठ नहीं दिखाई, उसी की पीठ देखने लगे। पर ध्यान ने ऐसा अभेद्य कवच बना दिया कि प्राणों की रक्षा हो गई। *तुम०*—मेरे प्राणों का पीछा करते हुए भी आप मेरे निकट नहीं आ पाते हैं। दूर ही दूर रहते हैं! पर वह निरंतर साथ रहता है हटता ही नहीं। आप निकट आकर भी हटे रहते हैं। प्रत्युत दूर ही बसे है और आप ऐसे 'अनमिल' का होकर भी वह मुझसे मिला रहता है। आप दान भी करने चले तो 'दुख' का—'मरी बछिया बाँभन के नावँ'। दान की जाती है तो अच्छी वस्तु, पर आपने इसका भी विचार नहीं किया। यह सुख का दान करता है जिसमें किसी प्रकार का कोई कष्ट नहीं। *सुनौ०*—आप सुजान और आनंदघन होकर भी अमोही हैं, समझदार होकर भी व्यावहारिकता से दूर हैं अथवा आप ज्ञानी और आनंदघन होने के कारण ही अमोही हैं। ज्ञानी 'मोह' या भ्रम या अज्ञान से दूर ही रहना चाहता है। यह ऐसा मोही है कि मुझे ही जानता है, सुजान है तो मेरे लिए ही, अजान यह औरों के लिए है। आप मेरे लिए अजान औरों के लिए सुजान हैं। औरों के लिए या अपने लिए आनंदघन और मेरे लिए निरानंददायक। *और०*—आप जो

कष्ट देते हैं सभी सहती हूँ, उफ भी नहीं। आपने सारी समझदारी खोकर मेरे लिए केवल वही किया जिससे कष्ट मिले। मुझ पर आपका सब बस चलता है। पर क्या अपने ध्यान पर आपका बस है। आपका लाड़ला आपके बस में नहीं है, उसे मना कर दीजिए कि वह आपका रूप मेरे सामने न लाए। मुझसे तो यह व्यवहार और अपने पर कोई चारा नहीं। मेरी विवशता का कुछ तो अनुभव हो ही आएगा जब आप उसे बस में करने चलेंगे। प्रेमिका अपने प्रेम के अपार्थिव, अलौकिक, सात्त्विक रूप की ओर संकेत कर रही है। आपके आचरण से मुझे कोई सरोकार नहीं। मुझे तो आपके प्रति प्रेम है, वह निरंतर रहेगा। इस सात्त्विक स्वरूप को रोकने का अधिकार किसी प्रिय को कभी नहीं रहता कोई किसी को चाहता है चाहे, कोई रोक नहीं लग सकती। पर रोक तभी लगेगी जब प्रिय के पार्थिव शरीर पर वह अधिकार करना चाहेगा।

पाठा०—*नेक* = भूलि, *याको* = याकैं।

बिरह तपत आछे आँसुन सों च्वाय चोवा
पायनि पखारि सीस धारि छिन छूजिये।
चूमि चूमि चोपनि लगाय लालसानि भाल
मंजन कपोलनि कै प्रानति लै पूजियै।
एहो *घनआनँद* सुजान रावरे जू सुनौ
रावरी सौं और हियें मनसा न दूजियै।
निरमोही महा हौ पै मयाहू बिचारि वारी
हाहा नेकु नैननि अतीत किन हूजियै।१२३।

प्रकरण—प्रिय के प्रति अभिलाष व्यक्त करती विरहिणी कहती है कि यदि आप इन नेत्रों को अतिथि के रूप में भी आकर दर्शन दें तो आपके चरणों को आँसुओं से धोकर और उन्हें सिर पर धारण किए रहना चाहती हूँ केवल क्षणभर को। उन चरणों को चूमकर उन्हें माथे से लगाकर उन पर अपने कपोलों को रगड़कर प्राणों की भेंटसामग्री के रूप में चढ़ा दूँगी। दूसरी कोई कामना नहीं है।

चूर्णिका—*बिरह०*=विरह से, विरह की आग से तपनेवाली। *आछे*= पर्याप्त, परिमाण में अधिक। *च्वाय*=चुलाकर। *चोवा* = एक सुगंधित द्रव्य जो विशेष यंत्र से तैयार किया जाता है। *पखारि* = धोकर । *धारि* = रखकर। *छिन* = एक क्षण के लिए थोड़े समय के लिए। *छूजियै*= छूऊँगी। *चोपनि* = चाव से। *लालसानि* = लालसा से। *मंजन*=माँजना, रगड़ना। *मंजन०* = अपने कपोलों से आपके उन चरणों को रगड़कर स्वच्छ करूँगी। *प्राननि०* = अपने प्राणों को उनपर चढ़ाकर पूजा करूँगी। *रावरी सों* = आपकी शपथ। *मनसा* = इच्छा। *दूजियै* = दूसरी *बिचारि* = विचार करके, ध्यान में लाकर। *वारी* = निछावर होती हूँ। *अतीत* = अतिथि।

तिलक—विरहिणी प्रिय के प्रति संदेश भेज रही है कि मैं केवल आपका दरस-परस चाहती हूँ। बस इतनी ही इच्छा है। यद्यपि आप अमोही हैं, मोह से आप बहुत दूर हैं। पर जिसमें मोह नहीं होता उसमें भी मया तो होती है, हो सकती है। आप मया का ही विचार करके उसी को ध्यान में रखकर अधिक नहीं तो केवल मेरे नेत्रों को अतिथि की भाँति दर्शन भर दे दें, इसके लिए मैं आप पर निछावर हो रही हूँ, आपसे हाहा करके विनय कर रही हूँ। जब आप दर्शन दें तो केवल अपने पैरों का स्पर्श क्षणमात्र के लिए कर लेने दें। पैरों का स्पर्श करते समय उन्हें मुझे धोना है। किसी के पैरों को धोने के लिए, विशेष रूप से जो कहीं से चलकर आता है, गरम जल का प्रयोग करते हैं। मैं अपने विरह से तपे आँसुओं से उन चरणों को धोऊँगी, वे आँसू केवल गरम आँसू न होंगे जैसे नाना सुगंध द्रव्यों से चोवा प्रस्तुत किया जाता हैं, विशेष यंत्र में चुलाकर, उसी प्रकार मेरे आँसू हृदय की नाना प्रकार की उत्कंठाओं से युक्त होकर चोवा की भाँति नेत्रों की नली से बाहर होकर उन चरणों को धोएँगे। आपके उन चरणों को धोकर सिर पर उनको रखकर क्षण भर उनका स्पर्श किए रहना चाहती हूँ। फिर उन चरणों को पृथक् करते समय मैं यह भी चाहूँगी कि चाव से उन्हें बारबार चूम लूँ और लालसा सहित माथे से लगा लूँ, फिर अपने कपोलों को उनपर रगड़ लूँ, उन कपोलों से उन्हें रगड़कर स्वच्छ कर लूँ और अपने प्राणों को का पुजापा उनपर चढ़ाकर

पूजा कर लूँ। बस, इससे अधिक इच्छा नहीं। आप तो स्वयम् सुजान हैं. आनंदघन हैं, मेरे बातों से समझ सकते हैं कि इनमें कोई कपटाचार नहीं है. शुद्ध याचना है, प्रार्थना है। आपकी शपथ लेकर मैं आपसे यह कह रही हूँ।

व्याख्या—*बिरह*०—आँसुओं का नैरंतर्य है, गरम आँसुओं से चोवा बराबर प्रस्तुत होता रहेगा। ऐसा नहीं कि थोड़े जल से आपके चरण पखारे जाएँ। 'आछे' में परिमाण तो है ही, साथ ही इन आँसुओं की सात्विक वृत्ति भी संकेतित है। चोवा केवल सुगंध ही नहीं करता वह पीड़ा, व्यथा आदि भी दूर करता है। पैरों में जो पीड़ा-व्यथा होंगी उसे भी दूर करने में सहायता मिलेगी। पैरों का धोवन सिर पर रखकर और उन चरणों के अल्पकालिक स्पर्श का सुख पाकर मेरी आकांक्षा पूर्ण हो जाएगी। *चूमि*०—आँसुओं का उपयोग हो जाने से नेत्र तृप्त हो गए। पैरों का धोवन, चरणामृत सिर पर रखने से सिर की तृप्ति हो गई। मुख से चूमने से मुख की तृप्ति हो गई। माथे में लगाने से अहोभाग्य की भावना आई। मुख के साथ नासिका की और माथे या कपोल के साथ कानों की तृप्ति हो गई इस प्रकार सभी बहिःकरणों की तृप्ति हो गई। अंतःकरण की तृप्ति प्राणों की भेंट द्वारा पूजा करने से हुई। *एहो*०—प्रिय सुनता नहीं है, इसी से 'एहो', 'रावरे' 'सुनौ' आदि कम से कम त्रिवाचा से उसे तिखारकर सुनने को कहा गया है। प्रिय की शपथ से सत्यता प्रमाणित की गई है। यदि प्रिय को यह खटका हो कि यह अपने प्रेम-पाश में बाँध रखना चाहती है, अन्यत्र जाने से रोक रखना चाहती है तो उसे स्पष्ट कर दिया गया कि आपकी प्राप्तिमात्र मेरे लिए सर्वस्व है। किसी प्रकार लोभाधिक्य की कोई संभावना न की जाए। *निरमोही*०—जिसके लिए मोह होता है उसे परित्याग नहीं किया जाता। यही प्रयास रहता है कि वह पास ही रहे। राम के प्रति दशरथ का मोह था। वे चाहते थे कि राम मेरे पास ही रहें। जब वे पास नही रहे तो प्राणों का भी उन्होंने परित्याग कर दिया। पर 'मया' वह ममत्व है जो दूर रहने पर भी बना रहता है। यदि आप मुझसे दूर ही रहना चाहते हैं तो रहें। यदि आपमें मया भी न आती हो तो मेरी ही 'मया' का विचार करें, उसी पर कुछ ध्यान दें। थोड़े समय के लिए अतिथि की भाँति ही आकर दर्शन दें।

पाठा०—*च्वाय चोवा* = चायनिच्वै । *वारी* = धनी । *नेकु* = इन ।

चोरचौ चित चोपनि चितौनि मैं चिन्हारी करि
चाह सी जनाय हाय मोहिकै मनौ लियौ ।
भोरी भोरी बातनि सुनाय जान, भोरे प्रान
फाँसी तें सरस हाँसी फंद छंद सों दियौ ।
छलनि छबीले आय छाय घनआनँद यौं
उघरे बिसासी अंत निरदै महा हियौ ।
बारी मति हारी गति कहाँ जाहिं नाहिं ठौर
मारत परेखो देखौ हितू ह्वै कहा कियौ । १२४ ।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के उन व्यापारों का उल्लेख कर रही है जिनके द्वारा उसने उसे ठगा । चोर, बटमार, ठग और शत्रु के व्यापारों की ओर संकेत है । उसने पहचान करके, केवल नेत्र की पहचान से चित्त चुराया । मन को मोहित किया, बेहोश कर दिया । विशेषता यह थी कि यह पता नहीं चलने दिया कि चोरी की जा रही है । ऐसे ही हाँसी का फंदा डालकर डाका डाला, राहजनी की । प्रतीति यह हुई कि इनसे छाया रहेगी, पर विश्वासघात करके हट गए । कोई हितू ऐसा नहीं करता शत्रु चाहे करे । वस्त्रामोचन की स्थिति हो गई है । कुछ भी नहीं बचा ।

चूर्णिका—*चिन्हारी* = पहचान । *चाह०* = प्रेम का आभास मात्र देकर । *मनौ०*=मन भी (मोहित कर लिया) । *सरस* = बढ़कर । *हाँसी०* = हँसी का फंदा । *छंद सों* = धोखे से । *दियौ* = गले में डाल दिया । *उघरे* = हट गए । *बिसासी* = विश्वासघाती । *अंत* = अंत में । *निरदै* = निर्दय । *वारी०* = बुद्धि निछावर हो गई । *हारी०* = चाल क्षीण हो गई, शक्ति समाप्त हो गई । *मारत०* = पछतावा मारे डालता है, पछता रही हूँ । *कहा०* = कैसा व्यवहार किया ।

तिलक—प्रिय ने मेरे प्रति कोई भी ऐसा व्यवहार नहीं किया जैसा कोई किसी प्रेमी के प्रति किया करता है । पहले तो उन्होंने मुझसे पहचान की । यह पहचान केवल आँखों की पहचान थी । आँखों के देखने से पता चल रहा था कि ये मुझसे मेल-मिलाप कर रहे हैं । पर वह थी केवल मेरा

चित्त चुराने की घात। पहचान के समय उनमें बड़ी उमंग थी, पर फिर वह नहीं रही। चित्त चोरी न गया होता। पर उन्होंने किया यह कि व्यवहार से प्रकट किया कि उनमें चाह है, इच्छा है। इसी इच्छा या चाह के भ्रम में मन मोहित हो गया, बेहोश हो गया। मन का बेहोश होना था कि चित्त चोरी चला गया। यदि कोई यह कहे कि केवल नेत्र के संकेत से कैसे किसी की अनुकूलता समझी गई तो उत्तर है कि उन्होंने बातें भी तो कीं। यदि बातें भोली-भोली न की होतीं तो मेरा जी उनके फेर में न आता, उनके चक्कर में न पड़ता। उनकी हँसी का फंदा तो ऐसा पड़ा कि वह फाँसी से भी बढ़कर है। यह फंदा भी बटमारों की भाँति धोखे में ही डाला गया है। पता ही नहीं चला कि फंदा डाला जा रहा है। मेरे प्रति केवल बातें करने का भी व्यवहार होता तो भी समझा जाता कि इतने से किसी की अनुकूलता का पर्याप्त प्रमाण नहीं मिलता। उन्होंने तो आनंद के बादल ही छा दिए मेरे लिए। मेरे सुख का जो भी प्रयास हो सकता था सब कर दिया। ऐसा करने में भी छल-कपट ही किया उस छबीले ने। क्योंकि बहुत दिनों तक छाया नहीं रही, अंत में थोड़े ही समय में वह छाया हटी, बादल छँट गए। इस प्रकार मेरे साथ विश्वासघात किया गया। चोर, डाकू, ठग में सदय हृदय कहाँ होता है। चोरनिर्दय हृदय निकला उनका। चोर आदि से भी बढ़कर निर्दय। इस आचरण का परिणाम मेरे प्रति यह हुआ कि बुद्धि तो निछावर हो गई, समाप्त हो गई, चाल या शक्ति भी रुक गई, अवरुद्ध हो गई। अब चलने की शक्ति नहीं तो जाएँ कहाँ, कहीं ठौर ठिकाना हो तब न। हाँ, यहाँ पड़े-पड़े यह अवश्य सोच कर रही हूँ कि देखो तो इन्होंने हितू होकर तो मेरे प्रति यह व्यवहार किया। यदि हितू न होते तो न जाने क्या व्यवहार किया होता। शत्रु भी जो नहीं करता वह हितू ने कर डाला। यही पछतावा है।

व्याख्या—चोरयो०—अंतःकरण चार प्रकार का होता है—मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। प्रिय ने चारो पर प्रहार किया है। चित्त को चुराया, मन को मोहित किया, बुद्धि को समाप्त किया, गति (अहंता) भी अवरुद्ध कर दी। 'चित्त' अनुसंधानात्मक होता है। वह ढूँढ़-खोज में था, प्रिय की अनुकूलता के चक्कर में पड़ गया। पड़ा न होता, पर उनकी चितवन

में पहचान करने की उमंग स्पष्ट थी। 'चित' को चुराने के लिए उसकी सजातीय वस्तु ही आगे की गई—*चितवन*। चित का चितवन की ओर आकृष्ट होना स्वाभाविक हो गया। एक पुरुष दूसरी रमणी। मन के साथ भी ऐसा ही किया 'चाह' उसके लिए सामने आई। संकल्प-विकल्प ही तो मन के धर्म हैं—'चाह' से वह भी आकृष्ट हुआ। हिंदी का 'मन' संस्कृत के 'मन' की भाँति नपुंसक तो है नहीं। रमणीय चाह के प्रति इसे भी आकर्षण हो ही गया। चित्त तो शीघ्र चक्कर में आ गया, पर मन को संकल्प-विकल्प करने में देर लगी। पर वह भी अंततोगत्वा मोहित हो ही गया। जब बेहोश हो गया तब फिर उसका कोई चारा नहीं रह गया। मन ही जब नहीं रहा तब फिर अपना वस भी नहीं रहा। 'चित' के चुरा लिए जाने का उतना क्लेश नहीं था पर 'हाय' मन भी मोहित! 'चित' के पराजित होने में, चित हो जाने में क्या देर लगती, पर दंगल में कभी चित न होनेवाला भारी वजनी पहलवान मन भी चित हो गया। *मोरी०*—प्राणों के लिए भी वही संकट। उनके सामने भी 'बात' ही, वह भी सजातीय। बात केवल वार्ता तो है नहीं, 'हवा' भी तो है और 'प्राण'–प्राण प्राणवायु वायु ही तो है। 'बात' रमणी प्राण पुरुष। बात और प्राण की सजातीयता में सदेह हो तो 'जान' और 'प्राण' की सजातीयता ही देख लीजिए—वहाँ भी 'जान' रमणी है, उर्दूबी है, फारसी हरम की है। बातों के सुनने में कान इतने मग्न हो गए कि सुधबुध खो बैठे। बातों की श्रवणसुखदता में ध्यानावस्थित तद्‌गतेन मनसा हुई कि प्राणों के गले में फाँसी पड़ी। ऐसी फाँसी कि छुटाए न छूटे। बटमार जो फाँसी डालते हैं वह हाथों से जोर लगाने पर यदि हटे न तो ढीली तो हो ही सकती है। पर इसकी तो आहट भी नहीं लगती, हटाएँ तो कैसे। 'सरस' केवल बढ़कर नहीं। यह फंदा ऐसा कि बुरा नहीं लगता, दम चाहे जितना घुटता हो, बटमार का फंदा सरस नहीं, सुरस नहीं, कुरस होता है। *छलनि०*—केवल छंद नहीं, पूरा छल-छंद है। मकड़ी अपने जाले के छंद से मक्खी को फँसाती है। पर मछली आटे के छल में बनसी में जा फँसती है। किसी वस्तु का दिखाई पड़ना कुछ और उसका प्रभाव हो जाना उसके विपरीत छल है। किसी मक्खी को यह नहीं पता चलता

कि जाल पड़ा है वह फँस जाती है, उसमें कोई आकर्षक वस्तु नहीं होती। पर छल में आकर्षक वस्तु खींचती है छले जाने वाले को, फिर वह धोखे में पड़कर मारा जाता है। प्रिय छबीले तो हैं ही छटा का आकर्षण, पुनः आनंद के बादलों की छाया, दुहरा आकर्षण, पर यह क्या बादल कहाँ गए, फिर विरह की लू आ गई। कहाँ आनंद का अमृत और कहाँ 'बिसासी' का 'विष'। 'घन' को 'नीरदै' होना चाहिए सो यह निकला 'निरदै'। गुरुत्व में लघुत्व हो गया। 'उघरे' बादल के पक्ष में 'हटे' 'बिसासी' के पक्ष में उद्घाटित हुए, रहस्य खुला—'उघरे अंत न होइ निबाहू, कालनेमि जिमि रावन राहू।' 'छबीले घन' में 'बिजली वाले बादल' का भी संकेत है। छबि = छनछबि = बिजली। *वारी०*—बुद्धि तो निछावर ही कर दी। जो आकर्षण उत्पन्न हुआ उससे रीझकर बुद्धि नजर कर दी। अथवा 'वारी' निवारित हो गई, किसी काम की नहीं रह गई। जिस स्थान की खोज की जाएगी, शरण पाने के लिए, वह बुद्धि से ही होगी। वह हो गई बेकार। कहीं जाने के लिए 'गति' चाहिए, चलने की शक्ति चाहिए, चला ही नहीं जा सकता। कहीं स्थान नहीं है। जहाँ हूँ वह भी तो रहने का स्थान नहीं रहा। यहाँ यही चिंता खाए जा रही है कि 'हितू' ने वह किया जो शत्रु भी नहीं कर सकता। 'देखौ' में अत्यंत अचरज, आश्चर्य महदाश्चर्य व्यक्त है। 'क्या किया', 'क्या नहीं किया' सब कुछ तो कर ही डाला। न प्रिय की ओर जाया जाता है, न जगत् की ओर, न अपनी ओर। चिंता और चिता में तो बिंदी का ही अंतर है। अब मारने में रहा क्या।

पाठा०—मारत = मानतु (मूल पाठ मारत या मारतु है। पहले 'र' 'न' की भाँति लिखा जाता था। इसी से 'मारतु' ही 'मानतु पढ़ा गया, ऐसा प्रतीत होता है।

(सवैया)

अँसुवानि तिहारे बियोग ही सों बरषा रितु बेलि सी बाल भई।
हिय खोपनि चोपनि कोंपनि झालरि लाज के ऊपर छाय गई।
घनआनँद जान सदा हित भूमनि घूमनि देखियै नित्त नई।
बलि नेकु भया करि हेरौ हहा अबला किधौं फूलि रही तुरई। १२५।

प्रकरण—दूती विरहनिवेदन कर रही है। प्रिय के विरह में विरहिणी की स्थिति ऐसी है कि उसका कष्ट लता की भाँति बढ़ रहा है। तुरई या तरोई के फूल पीले होते हैं। वियोग में वह पीली पड़ गई है।

चूर्णिका—*अँसुवानि०* = आपके विरह के आँसू वर्षा ऋतु के जल की भाँति हैं। *बेलि* = बल्ली, लता। *बाल* = बाला, नायिका, प्रेमिका। *खोप* = छप्पर का कोना। *हिय०* = हृदय रूपी छप्पर के ऊपर उमंगों की कोपलों के निकलने से। *झालरि* = झलराना, फैलना, हरी भरी होना। *लाज०* = लज्जा को भी ढक लिया, लज्जा व्यक्त नहीं रह गई, लोक-लज्जा का भी त्याग कर दिया। *हित०* = प्रेम से मस्त होकर झूमना ही लता का घूमना (फिरना) है। *तुरई* = तरोई, पीले फूलवाली तरकारी साग भाजी के काम आनेवाली। *फूलि०* = नायिका विरह से इतनी पीली हो गई है जैसे तरोई के पीले फूल फूले हों।

तिलक—आपके वियोग के आँसुओं ने वर्षा ऋतु का काम किया और विरहिणी लता की भाँति हो गई। यह लता हृदय रूपी छप्पर के कोने के सहारे बढ़ी, उमंग की कोंपलें उसमें निकलीं। लता हरी-भरी होकर बढ़ती ही गई और उसने लज्जारूपी रस्सी या ठाठ को ढक लिया, विरहिणी ने लोकलज्जा का भी परित्याग कर दिया। उस लता में प्रेम की मस्ती के कारण विस्तार की अधिकता होती जाती है। यह लता का बढ़ना ऐसा है जिसमें नवीन प्रकार के मोड़ दिखाई देते हैं। मैं बलिहारी जाती हूँ आप अधिक नहीं तो कुछ ही ममत्व प्रदर्शित करते हुए इसकी ओर देखिए यह तो अबला नहीं तरोई फूली हुई है। इसमें पीले पीले फूल निकल आए। इसके विरह के लिए न सही, अपने तमाशे के ही लिए इस ओर देख लीजिए।

व्याख्या—*अँसुवानि०*—आपके वियोग में उसके आँसू बहुत अधिक हैं। सावन-भादों की झड़ी लगी रहती है। आपका वियोग न होता तो ऐसी झड़ी भी न लगती। *हिय*—हृदय के ही कारण उसे फैलने का आधार मिला है। उमंगों ने उसे हरी भरी होने का अवसर दिया। किसी वस्तु के या व्यापार के छिपाने के प्रयास में लज्जा होती है। यहाँ स्वयम् लज्जा ही छिप गई। फिर उन व्यापारों को छिपाने का अवसर ही नहीं रहा,

छिपाने के प्रयत्न समाप्त हो गए। *घन०*—प्रेम की नाना वृत्तियाँ उसमें नवता उत्पन्न करती हैं, उसमें रमणीयता बढ़ रही है। इसी से तो आपको देखने को कहा जा रहा है। 'अवसि देखिए देखन जोगू'। *बलि०*—इसे बला न समझें यह अबला है। देखिए कैसी फूली है पीली-पीली तरोई भी एक ओषधि है। ओषध्यः फलपाकान्ताः। ओषधि वह होती है जिसमें फल लगे और पके कि उसका अंत हुआ। यह भी फूल गई बस फली और समाप्त। समाप्ति के निकट यह भी पहुँच रही है। दूसरे इसके बढ़ने का क्रम आप देख लें। यह बढ़ते-बढ़ते कभी आप तक पहुँच कर ही रहेगी। इसका विस्तार नित्य नया और अधिक जो है। इसे ऐसे आयास में डालने से आपके किस प्रयोजन की सिद्धि होगी।

पाठांतर—*खोपनि* = पोषनि।

घनआनँद मीत सुजान हहा सुनियै बिनती कर जोरि करैं।
अरसाहु न नेकु रिसाहु अहो धरि ध्यानहिं दूरि तें पाय परैं।
मन भायौ बियोग मैं जारिबो जौ तौ तिहारी सौं नीके जरैं रु भरैं।
पै तुम्हें मति कोऊ कहै हितहीन सु या दुख बीच अमीच मरैं। १२६।

प्रकरण—विरही प्रिय के वियोग में व्याकुल है और प्रिय के निकट अपना यह संदेश भेज रहा है कि यदि वियोग में आप जलाते ही रहना चाहते हैं तो जलाइए। मैं जलने के लिए प्रस्तुत हूँ और सदा उस दुख को सहती रह सकती हूँ। विरह के दुःख से भी बढ़कर एक दूसरा दुःख है वही अधिक कष्ट दे रहा है। आप मेरी बात से चाहे कितने ही रुष्ट क्यों न हों, मैं इतना ही कहना चाहती हूँ कि आपको कोई प्रेमहीन न कह दे इसी में मैं बिना मृत्यु के मर रही हूँ।

चूर्णिका—*बिनती०* = हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ। *अरसाहु न* = आलस्य न करो। *न नेकु* = और न मेरी धृष्टता (बार बार बिनती) करने पर रोष ही करो। *धरि०* = आपसे इतनी दूर रहकर यहीं से (आपका ध्यान करके) पैरों पड़ती हूँ। *मन०* = यदि आपको वियोग में जलना ही रुचता है तो। *सौं* = शपथ। *नीकें* = भली भाँति, इच्छापूर्वक। *जरैं०* =

जलती रहूँ और दिन काटती रहूँ। *हितहीन* = प्रेमहीन। *अमीच* = बिना मौत के मर रही हूँ।

तिलक—हे मित्र आनंद के घन और सुजान, मैं हाथ जोड़कर आप से विनय करती हूँ। हाय मेरी विनय सुन लें। न तो विनय सुनने में आलस्य करें और न मेरे इस प्रकार विनय करते ही रहने पर कुछ भी रोष ही करें। आप यदि अपने निकट आने से घबराते हैं या मेरे निकट पहुँचने में आपको असमंजस है तो मैं यहीं से आपका ध्यान करके इतनी दूरी से ही आपके पैरों पड़ती हूँ कि आप कम से कम मेरी विनय अवश्य सुन लें। यदि आपको मुझे इस प्रकार वियोग में जलाना ही रुचा है तो इसकी मुझे कोई चिंता नहीं है। आपकी शपथ करके मैं कहती हूँ कि मैं सुखपूर्वक भली भाँति इस वियोग में जलने को प्रस्तुत हूँ और वियोग में जलती हुई अपने ये दिन काट लेने को भी संनद्ध हूँ। पर मुझे केवल इस बात की चिंता सता रही है कि इस प्रकार मुझे वियोग में जलाते रहने से कहीं कोई आपको प्रेम-रहित न कहने लगे; बस इसी दुःख में मैं बिना मृत्यु के मरी जा रही हूँ। यह खटका मेरे लिए सबसे अधिक कष्टद है कि मेरे इस प्रकार आपसे अनन्य भाव से प्रेम करते रहने पर भी आप मुझसे विमुख हैं इसे देखकर कहीं कोई यह न कह बैठे कि आपमें प्रेम ही नहीं है, आप हृदयहीन हैं।

व्याख्या—*घनआनँद०*—जिससे विनय की जाए उसके लिए कई विशेषताएँ अपेक्षित होती हैं। सबसे पहले तो उसमें सरसता होनी चाहिए, सहृदयता होनी चाहिए। अन्यथा वह किसी की विनय सुनेगा ही नहीं। उधर उन्मुख ही न होगा। यदि कोई सहृदय तो हो पर उसमें किसी के प्रति अनुकूल वृत्ति न हो तो फिर उसकी विनय बेकार ही हो जाएगी। इतने से भी काम नहीं चल सकता। विनय की पदावली समझने की भी क्षमता उसमें होनी चाहिए। इस प्रकार मुदिता, मैत्री और सद्बुद्धि तीनों अपेक्षित हैं। विनयी कहता है कि आपमें विनय के लिए ग्राहकता की जितनी वृत्तियाँ अपेक्षित हैं सभी हैं। आप पहले तो घनआनंद हैं। आपमें मुदिता वृत्ति घनी है, परिपूर्ण है। फिर आप मीत हैं। मैत्री की वृत्ति भी है। आप 'सुजान' हैं। सद्बुद्धि भी आपमें है। आप समझ सकते हैं, आप अनुकूल

हो सकते हैं और सहृदयता भी प्रदर्शित कर सकते हैं। अतः आपसे मैं विनय कर रही हूँ। विनय भी 'हहा' द्वारा की जा रही है। 'हाहा' दो बार 'हा' का प्रयोग विनय, दीनता प्रकट करने के लिए होता है। यदि विनय में 'हहा' न हो तो भ्रम हो सकता है कि इसने विनय बनावटी तो नहीं की है। अत: मेरी सच्ची विनय आप सुनें। किसी की विनय में 'हहा' मात्र हो तो भी उसकी पूरी अभिव्यक्ति तब तक नहीं मानी जा सकती जब तक हाथ जोड़कर विनती न की जाए। दैन्य की वाणी के द्वारा वाचिक चेष्टा से ही नहीं, कायिक चेष्टा से भी व्यक्ति होनी चाहिए। इसलिए मैं विनय के बाह्य जितने भी अनुभाव हैं सबसे मुक्त होकर बिनती कर रही हूँ। कहीं से भी उसके सच्चे होने में किसी संदेह का अवकाश नहीं है। *अरसाहु* —आपका अभ्यास आलस्य करने का है और आप रोष भी शीघ्र कर बैठते हैं। सामान्यतया जो बिनती करता है वह छोटा होता है और जिससे बिनती की जाती है वह बड़ा होता है। आप बड़े तो हैं ही, साथ ही आपको अपने बड़ेपन का बोध भी तो प्रत्येक क्षण बना रहता है। कहीं आप यह न समझ लें कि यह बिनती करने के बहाने ही मेरा सांनिध्य न प्राप्त कर ले। मैं आपके निकट आकर आपके आभिजात्य को किसी प्रकार की कोई ठेस नहीं लगने देना चाहती। मैं दूर से ही आपका ध्यान करती हूँ और यहीं से आपके पैरों पड़ती हूँ। कोई विनयी अपने दैन्य की अभिव्यक्ति चेष्टाओं से ही करे और वे चेष्टाएँ उसी तक परिमित रहें जिसके प्रति दैन्य है—उसके पैर पकड़कर या उसे सिर रखकर वह उस अभिव्यक्ति को पूर्णता की सीमा तक न ले जाए तो भी बिनती या दैन्य में कमी रह जाती है। मैं हाथ जोड़कर आपके पैरों पड़ती हूँ, भले ही दूर से ही पैरों पड़ रही होऊँ। इसलिए आप आलस्य न करें, बड़े व्यक्ति छोटी की बिनती सुनी अनसुनी कर देते हैं या ध्यान ही नहीं देते और यह देखकर कि यह तो मेरा सिर चाट रहा है रोष भी करने लगते हैं। आप कुछ भी रोष न करें। मुझे इस बिनती में, अपने संबंध में कुछ भी नहीं कहना है। जो कुछ कहना है वह आपके बड़प्पन के ही संबंध में कहना है। आप यह न सोचें कि मैं अपने वियोग को दूर करने के लिए कोई विनयपत्रिका पेश कर रही हूँ। *मनभायो०*—यदि आप के मन को

मुझे वियोग की आग में जलाना ही भाता है तो मैं उसमें जलने से कुछ भी नहीं हिचकती। यदि आपको विश्वास न हो तो मैं आपकी शपथ लेकर कहती हूँ कि वियोग में जलने के लिए मैं अनिच्छापूर्वक नहीं प्रस्तुत हूँ। सहर्ष उसमें जलने को कटिबद्ध हूँ और ऐसे कष्टदायी दिनों को भी सानंद बिता देने को बद्धपरिकर हूँ। न मुझे इस कष्ट से उबारने का प्रश्न है और न इस कष्ट के न सह सकने का ही प्रश्न है। प्रश्न केवल आपका है। उस बड़प्पन के अनुरूप जो आपमें है आपका प्रेम नहीं दिखाई देता। इससे हो सकता है कि कोई मेरे सतत प्रयत्न को देखकर यह कह बैठे कि यह तो इनसे निरंतर अनन्य प्रेम कर रही है, पर ये कैसे हैं कि उससे प्रेम ही नहीं करते। ऐसा तो नहीं है कि इनसे प्रेम से कभी भेंट न हुई हो। इनके पास प्रेम का ही अभाव तो नहीं है। बस इसी की चिंता है। पै तुम्हैं०—मुझे तो कोई प्रेमहीन न कहता है और न कहेगा ही। प्रत्यक्ष के लिए प्रमाण की अपेक्षा ही नहीं। किंतु परोक्ष के लिए ही प्रमाण की अपेक्षा अधिक होती है। आपमें प्रेम की कोई बाह्य अभिव्यक्ति नहीं है। जिस वस्तु का सद्भाव होता है, जिसकी सत्ता कहीं होती है उसका पता भी किसी न किसी प्रकार चल ही जाता है। यहाँ कोई संकेत नहीं मिल रहा है। स्थिति मेरी यह हो रही है कि जब आपको कोई ऐसा कह बैठेगा तब तो पूरी मृत्यु ही आ जायगी। पर कभी कोई कह नहीं रहा है, केवल मैं संभावना कर रही हूँ। इस संभावना के कारण मृत्यु का अवसर उपस्थित नहीं है फिर भी मैं उसी से मृत्युवत् स्थिति में आ गयी हूँ। हो सकता है कि यदि कोई वैसा कह बैठे तो भी आपके लिए मृत्यु के समान कष्ट न हो, पर मेरी तो पूरी मौत ही आ जाएगी।

हम एक तिहारिये टेक धरैं तुम छल छैल अनेकन सों सरसौ।
हम नाम अधार जिवावत ज्यौ तुम दै बिसवास बिषै बरसौ।
घनआनँद मीत सुजान सुनौ तब गौं गहि क्यौं अब यौं अरसौ।
तकि नेकु दई त्यौं दया ढिग ह्वै सुकहूँ 'किन दूरहूँ तें दरसौ।१२७।

प्रकरण—विरहणी का संदेश था आत्मगत एकांत भाषण इस संदेश या भाषण में वह प्रिय के आचरण और अपने आचरण का विरोध प्रदर्शित

कर रही है। दिखा रही है कि मेरी अनन्यता और आपकी अनेकगत सान्यता है। मैं नाममात्र का आधार लेकर जी रही हूँ और आप मुझपर विष की वृष्टि कर रहे हैं। अपना काम निकल जाने पर मेरी ओर से ऐसी चुप्पी साधी है कि कुछ भी ध्यान नहीं देते। न मेरी ओर देखें, न अपनी ओर देखें। दैव की ओर तो देखें। कहीं दूर से ही दर्शन दे दें।

चूर्णिका—*छैल* = प्राकृत 'छइल्ल' से जिसका अर्थ वहाँ 'चतुर' होता है। *सरसौ* = प्रेम करते हो। *नाम*० = आपके अमृतमय नाम से। *ज्यौ* = जी को। *दै*० = विश्वास देकर विष बरसा हो अथवा विश्वासघात रूपी विष ही बरसते हो। *अरसौ* = आप दर्शन देने में आलस्य करते हैं अथवा अरसौ (अ+रसौ) अर्थात् रसहीन हो जाते हैं। *तकि*० = जरा दैव की ओर देखकर, दैव से डरकर। *दया*० = दया के पास होकर, दया करके। *छिन*० = दूर ही से क्यों नहीं दर्शन देते।

तिलक—हे घनआनंद सुजान मित्र सुनिए। हममें आपमें कैसा विरोध दिखता है। हम तो केवल आपका ही सहारा लेकर रहते हैं और आप ऐसे छैल चिकनिया हैं कि अपनी चतुराई से अनेक प्रेमियों से प्रेम करते हैं। अनेक से प्रेम करने के कारण आप एक की क्या चिंता करें। इधर एक के ही प्रति प्रेम होने से और उसका वह व्यापार देखकर कि वह अनेक से प्रेम कर रहा है मेरी अनन्यता पर कुछ भी ध्यान नहीं दे रहा है मुझ पर क्या बीतती होगी। यही क्यों, आप दूसरों से प्रेम करते हुए भी मेरे प्रति कष्टदायक व्यवहार न करते तो भी कोई बात थी। मैं तो आपके नाम को ही अमृत का आधार मानकर उसी से मरते जी को अब तक जिला रही हूँ और आप विश्वासघात के विष की निरंतर वृष्टि कर रहे हैं। नाम मात्र के आधार से मैं तो जी रही हूँ और आप मारने का पूरा प्रबंध किए बैठे हैं। मेरे जी को विष ही विष दे रहे हैं। प्रेम करते समय अपनी गौं से आप मेरी ओर उन्मुख हुए और अब आप जो इस प्रकार मेरे प्रति आलस्य कर रहे हैं या रसरहित व्यवहार कर रहे हैं यह कथमपि समझ में नहीं आ रहा है। आप चाहे मेरे आचरण पर कुछ भी ध्यान न दें, अपनी ओर भी न ध्यान दें, पर ईश्वर की ओर तो देखें। जगत् में हमीं आप नहीं हैं, हमारे

आपके आचरणों को देखनेवाला उसका विचार करनेवाला दैव तो है ही। उसी की ओर जरा ध्यान दें। आपका ऐसा व्यवहार क्या उसे रुचेगा। यदि ऐसा नहीं है तो आप उधर देखकर दया के निकट जाइए। दया आपके पास आएगी आपको स्वयम् दया नहीं आएगी, पर ईश्वर के नाम पर ही दया दिखाइए और मेरे पास भले ही न आइए, वहीं दूर से ही दर्शन दे दीजिए। जिससे मेरे नेत्र तो तृप्त हो जाएँ।

व्याख्या—*हम०*—अनन्यता के लिए कहा गया है कि केवल आप की ही शरण मेरे लिए रही है, है और रहेगी। यह शरण या सहारा ही अवलंब है, कोई दूसरा अवलंब नहीं है। जिस टेक को धारण किया है वह कभी छुटनेवाली नहीं है। मुझमें किसी प्रकार का चातुर्य नहीं है केवल प्रेम का पन है। उधर आप छैल हैं। एक तो आपमें चातुर्य है दूसरे आप छैल-चिकनिया हैं। अपने स्वार्थ का आप अधिक ध्यान रखते हैं। आप अनेक से प्रेम करते हैं। एक से प्रेम करने पर आपको तृप्ति नहीं हुई, फिर दूसरे से प्रेम किया। आपकी वृत्ति में व्यभिचरण है वह कहीं टिकने वाली नहीं है। मेरी वृत्ति जहाँ टिकी है, वहीं टिकी है आपकी कहीं टिकती नहीं। मेरे लिए आप ही का सहारा है और आपके लिए सहारे सदा बदलते रहते हैं। *हम नाम०*—मैं आपके नाम को अमृत मानकर उसी के आधार पर अपने मरते जी को जिलाती रहती हूँ। पहले चरण में प्रिय को आधार बताया गया है। इसमें अधिक सूक्ष्मता के लिए कहा गया है कि आपका नाम मात्र मेरे लिए आधार है। आपका आधार न जाने मेरे लिए कितना अधिक फल-प्रद होगा। मैं अपने जी को जिलाती हूँ में बताया गया है कि वह जीने की स्थिति में नहीं है पर किसी प्रकार उसे जिलाया जा रहा है। नाम मात्र का आधार भी मेरे लिए बहुत अधिक गुणकारी हो जाता है। पर आप उसमें भी बाधा ही देते हैं। आपके प्रति मेरा विश्वास है पर आपका विश्वास तो विष का वास हो गया है। श्विासघात में परिणत ही नहीं हो गया है, भीषण जहरीला हो गया है। वह विश्वासघात विष बनकर मुझपर बरसता रहता है। आपने मेरे मार डालने के लिए कुछ उठा नहीं रखा है। विष की निरंतर वृष्टि से कोई कब तक बचा रह

सकता है। पर मैं आपके नाम की रट से ही उस विष का पूर्ण निराकरण कर जी रही हूँ। केवल इसीलिए कि आपके दर्शन तो हो जाएँ। आप आनंद के घन हैं पर बरस रहे हैं विष। विष जल को भी कहते हैं और जहर को भी। बादल से जल बरसता है और आनंदघन से जहर की वृष्टि होती है। *घनआनँद*—आप आनंद के घन हैं, आनंद की वृष्टि आपका मूल कार्य है आप मित्र हैं, सूर्य हैं। सूर्य से विष का प्रभाव दूर होता है। पर आप तो उसे ही बढ़ाने में सहायक हो रहे हैं। आप सुजान हैं, विवेक-पूर्वक प्रवृत्त होना आपका लक्षण है पर आप अविवेक का कार्य कर रहे हैं। पहले प्रेम का आरंभ आपने ही किया। अवसर पाकर आपने अपनी सरसता मुझे दिखाई। बड़ी गतिशीलता थी आपके उस प्रयास में पर अब आप आलस्य कर रहे हैं। अगति की स्थिति में पहुँच गए हैं। साथ ही अरस (रसहीन) हो गए हैं। कहाँ वह सरसता और कहाँ यह विरसता। दोनो में आकाश-पाताल का अंतर है। पहले आप मेरी ओर देखते थे, अब आप अपनी ओर देख रहे हैं। स्व और पर को छोड़कर परमात्मा की ओर देखने की अपेक्षा प्रतीत होती है। अपनी ओर भी आप पर्याप्त देख चुके। अब आप दैव की ओर देखिए। अधिक समय तक देखने की भी आवश्यकता नहीं है। थोड़ी ही देर के लिए आप यदि उधर देखें तो वह 'दई' आपको 'दयी' (दयावान्) दिखाई देगा। जब उस 'दयी' की ओर आप देखेंगे तो आप भी 'दया' की ओर अवश्य जाएँगे, आप भी उसे देखते देखते 'दयी' हो जाएँगे। परमात्मा की ओर उन्मुख होकर आत्मा तत्स्वरूप हो ही जाती है। तब आप मुझे अवश्य दर्शन देंगे। आपको परमात्मा के दर्शन हो जाएँगे तो आप दूसरे को दर्शन देने के लिए अवश्य प्रवृत्त होंगे। आप मेरे निकट आकर दर्शन दें यह भी अपेक्षित नहीं है, दूर से ही आप दिखाई पड़ें, बस मेरा कार्य हो जाएगा। होना तो यही चाहिए कि आप मुझे निकट से दर्शन दें। पर आपको कदाचित् इसमें आपत्ति हो, असमंजस हो तो आप दूर से ही दिखाई पड़ जाएँ। मेरा तो काम उतने से ही चल जाएगा। चातक की सी मेरी वृत्ति है। केवल आपके दर्शन की लालसा है।

पर काजहि देह कों धारि फिरौ परजन्य जथारथ ह्वै दरसौ।
निधि नीर सुधा के समान करौ सब ही बिधि सज्जनता सरसौ।
घनआनँद जीवनदायक हौ कछू मेरियौ पीर हियें परसौ।
कबहूँ वा बिसासी सुजान के आँगन मो अँसुवानहि लै बरसौ।१२८।

प्रकरण—विरहिणी मेघ को दूत बनाना चाहती है और उससे कुछ निवेदन कर रही है। हे मेघ, आपका नाम है–'परजन्य'–दूसरे के लिए। इसलिए आपने दूसरे के कार्य को संपन्न करने के ही लिए शरीर धारण किया है यह स्पष्ट है। आप पानी समुद्र से लेकर चलते हैं। समुद्र का पानी खारा होता है, अपेय होता है, पर आप उसे अमृत के समान मीठा कर देते हैं, पेय बना देते हैं। आप जीवन का दान करनेवाले हैं। मेरे आँसू भी खारे हैं उन्हें भी सुजान प्रिय जहाँ रहते हैं वहाँ सुधासदृश करके बरस दो।

चूर्णिका—*परकाजहि* = दूसरे का उपकार करने के हेतु। *परजन्य* = (पर्जन्य) बादल; पर + जन्य दूसरों के उपकार के लिए जो हो वह। *जथारथ०* = यथार्थ (जैसा नाम का अर्थ है वैसे) सच्चे होकर दिखाई दो (अपना नाम सार्थक करो) *निधि०* = (नीरनिधि) समुद्र का खारा पानी। *सुधा०* = अमृत के समान मीठा कर देते हो। *सरसौ* = फैलाते हो, करते हो। *जीवन* = जल; प्राण। *हियें०* = मन में अनुभव करो। *बिसासी* = विश्वासघाती। *अँसुवानहि* = मेरे (खारे) आँसुओं को लेकर (और उन्हें मीठा बनाकर) बरसो।

तिलक—हे घन, आपका नाम है, 'परजन्य' (पर्जन्य) अर्थात् आप दूसरों का उपकार करनेवाले हैं। आपने दूसरों के उपकार के लिए ही जन्म लिया है, शरीर धारण किया है। इससे निवेदन है कि अपने नाम को सार्थक कीजिए, जैसा नाम है उसी के अनुसार उसे फिर एक बार करके दिखाइए। यदि आप कहें कि मेरा नाम ऐसा है, पर मैं वैसा कार्य कहाँ करता हूँ तो उत्तर है कि 'प्रत्यक्षे किं प्रमाणम्' आप पानी लेते हैं समुद्र से। समुद्र का पानी इतना खारा होता है कि कोई उसे पीता नहीं। समुद्र में नाव या जहाज से यात्रा करनेवाले या तो मीठा पानी साथ रखते हैं या यंत्र के द्वारा उसे मीठा बनाते हैं तभी वह पेय होता है। आप सब प्रकार से सज्जनता ही

बरते हैं, दूसरों के प्रति अच्छा ही व्यवहार करते हैं। साधुता ही बरतते हैं। आप आनंद देनेवाले, जीवन देनेवाले बादल हैं। मेरी पीड़ा का भी अनुभव कीजिए, थोड़े समय के लिए। वह कार्य आप कीजिए जो बरतते आए हैं। नया कार्य करने का प्रश्न ही नहीं है। जब कभी आपको अवकाश हो आप उस विश्वासघाती प्रिय सुजान के आँगन में मेरे आँसुओं को (जो समुद्र के जल की ही भाँति खारे हैं उन्हें मीठा करके, पेय बनाकर) बरस दो जिससे वे मेरे प्रति अनुकूल हो जाएँ, विश्वासघात करना छोड़ दें।

व्याख्या—परकाजहि०—पराया कार्य (उपकार) करने के अतिरिक्त आपने किसी और कार्य के लिए, अपने स्वार्थ के लिए भी शरीर नहीं धारण किया है। शरीर धारण करने पर भी यदि कोई अपने स्थान से हट-कर दूसरे के निकट न जाए तो भी दूसरों का कार्य नहीं सध सकता। आप दूसरों के निकट घूमते-फिरते हैं। सच ही अपने नाम परजन्य (पर्जन्य) के अनुरूप ही अर्थ में कार्य करते दिखाई देते हैं। 'फिरौ' के लिए 'रथ' भी तो चाहिए। वैसा ही 'रथ' है–'जथा-रथ' परोपकार के रथ पर ही आप घूमते रहते हैं, उसी पर सदा आरूढ़ दिखाई देते हैं। कहाँ और कब उपकार नहीं करते। *निधि०*—समुद्र जो जल का, खारे पानी का खजाना ही है, उस जल को अमृत के समान कर देते हो। खारे जल का केवल खारापन ही नहीं हटाते उसमें सुधापन भी भर देते हैं। उसकी प्रकृति ही बदल देते हैं। असाधु की प्रकृति बदलती नहीं, पर साधु में ही यह गुण है कि वह असाधु की प्रकृति भी बदल दे। असाधु की असाधुता भर ही वह दूर नहीं करता, उसमें साधुता भी भर देता है। यदि कोई असाधु साधु के साथ अनुचित व्यवहार भी करे तो भी वह उसके साथ अच्छा ही व्यवहार करता है। यदि कोई साधु किसी के प्रति अप्रसन्न भी होता है तो भी कहता है कि 'जा भले-मानस तेरा कल्याण हो, तू ने यह क्या किया'। उसका तात्पर्य चाहे विपरीत लक्षणा से आप जो भी लगाते रहिए, पर वह मुख से अकल्याण की बात नहीं करता। वह सब प्रकार से साधुता ही करता है, अनुकूल रहने पर भी और विपरीत रहने पर भी। क्योंकि वह 'सरस' जो होता है—

साक्षरा विपरीताश्चेत् राक्षसा एव केवलम्।
सरसो विपरीतश्चेत् सरसत्वं न मुञ्चति॥

जो केवल पढ़े लिखे होते हैं अंत:करण से साधु नहीं होते ('साक्षरा' यदि इसी शब्द को दूसरी ओर से 'रा' की ओर से उलटकर पढ़ें तो 'राक्षसा' दिखाई देता है) वे अनुकूल होने पर एक प्रकार का आचरण करते हैं और प्रतिकूल होने पर दूसरे प्रकार का आचरण। पर जो अंत:करण से साधु होते हैं वे 'साक्षरा' नहीं 'सरस' कहलाते हैं। 'सरस' शब्द को अंत के 'स' की ओर से उलटा भी पढ़ें तो वह 'सरस' ही पढ़ा जाएगा। ठीक इसी प्रकार वे सदा साधुता का ही व्यवहार करते हैं। आप भी सरस हैं, आपको सज्जनता ही करनी है। मेरे प्रति अनुकूल रहें चाहे प्रतिकूल आपके व्यवहार और आचरण में कोई अंतर नहीं पड़ेगा। इसलिए आपसे निवेदन करने पर कोई खतरा नहीं, कोई अनुकूल स्थिति होने की संभावना नहीं। *घन०*—आप तत्त्वत: आनंद के घन हैं, सदा, सर्वत्र आनंदमय। अपने लिए ही नहीं दूसरे के लिए भी। फिर और 'जीवन' का दान करनेवाले हैं। मुझमें 'पीड़ा है, मेरा 'जीवन' समाप्त सा हो रहा है। इस 'पीड़ा'—निरानंद को 'आनंद' में परिणत करें। मेरे अजीवन को जीवन में बदल दें। मेरी 'पीडा' को आप अपने सरस हृदय से 'छू' भर दें, यह वांछित रूप में परिणत हो जाएगी। शरीर से स्पर्श न करें, हृदय से स्पर्श करें। हृदय में आपके 'पीड़ा' पीड़ा नहीं रह जाएगी वह 'अनुकंपा' हो जाएगी। 'सहृदय' वही होता है जो दूसरे के हृदय के समान अपना हृदय कर ले। आप सहृदय हैं। आपके हृदय में मेरी 'पीड़ा' जब पहुँचेगी तब उसमें समानुभूति होगी। फल यह होगा कि आपका हृदय वैसे ही कंपन करने लगेगा जैसा मेरा। ज्यों ही आपके हृदय में 'अनुकंपन' हुआ त्यों ही आपने 'अनुकंपा' की, अनुग्रह किया। आपके अनुग्रह से मेरा काम बन जाएगा। *कबहूँ०*—आपको न जाने कितने, न जाने कितनों का परोपकार करना रहता है। सावकाश आप बहुत कम रह पाते होंगे। फिर आपसे काम भी मुझे कुछ अधिक भारी, गुरु लेना है। जहाँ आपको भेजना है वह ऐसा व्यक्ति है कि 'अमृत' को 'विष' बनाकर पीता है—विष + आशी = विषाशी = बिसासी है। खारे पानी को मीठा बनाने से कहीं अधिक आयास करना पड़ेगा। आप ऐसे व्यक्ति के स्वभाव को बदल दें उसे 'विषाशी' से 'सुधाशी' बना दें। मेरा विश्वास है कि उसमें

चेतना की एकदम हानि नहीं है, वह सुजान तो है ही, इसलिए आप यदि मेरे आँसुओं को वहाँ ले जाकर उसके आँगन में अपने सहज औदार्य के अनुसार सुधा के समान करके बरसेंगे तो वह उनसे सिक्त होकर रहेगा। मेरे आँसू बरसते अवश्य हैं, सावन-भादों की भाँति बरसते हैं, वर्षा की झड़ी लगाकर बरसते हैं, पर मेरे आँगन में ही रह जाते हैं उसके आँगन तक ले जानेवाला कोई नहीं। जो समुद्र का पानी कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है उसके लिए यह कार्य क्या कठिन है। आप इन आँसुओं को केवल उसके आँगन तक ले नहीं जाएँगे, बरसेंगे, समुद्र के पानी को जैसे बरसते हैं। परिवर्तित करके बरसेंगे। उसका खारापन यहीं छूट जाएगा। दूसरा मेरे आँसू ले जाता है तो ऐसा कर ही नहीं पाता।

पाठा०— *के* = की। *अँसुवानहिं* = अँसुवानहूँ, अँसुवान कों।

मानस को बन है जग पै बिन मानस के बन सो दरसै सो।
जो बनमानस ते सरसे तिन सों मिलि मानस को सरसै हो।
हाय दई ढरि नेकु इतै सु कितै परसे जिहि ज्यौ तरसै मो।
चातिक प्रान जिवाय दै जान हहा *घनआनँद* को बरसै जो।१२९।

प्रकरण—संसार में कैसी विषम स्थिति है इसका उल्लेख करके विरहिणी भगवान् से प्रार्थना करती है कि किसी प्रकार मेरे दिन भी पलटें तो अच्छा हो। संसार में मनुष्य तो भरे हैं, पर सहृदय कितने हैं। जहाँ सहृदयता नहीं वहाँ विरही का हृदय जाना नहीं चाहता। संसार में जब कोई मेरे अनुकूल नहीं तब फिर ईश्वर ही एकमात्र आधार है। वही चाहे तो कुछ कर सकता है, उसी के लिए सब कुछ हो सकता है।

चूर्णिका—*मानस* = मनुष्य। *बन* = समूह। *मानस०* = संसार में मनुष्यों के समूह ही समूह हैं। *मानस* = हृदय। *बन* = जंगल। *बिन०* = यदि उन (मनुष्यों) में सहृदयता न हो तो संसार फिर जंगल ही जंगल है। *बनमानस* = बनमानुस; वन के बड़े बड़े तालाब। *सरसे* = फैले हुए हैं; सर से, तलैया के से *मानस*=मन; मानसरोवर में रहनेवाला हंस (चातक)। *सरसै* = आनंदित हो। *जो बन०* = संसार में बनमानुस। (असहृदयों) की वृद्धि हो रही है। इसलिए रसिक मन कैसे आनंद पाए; वन में जो बड़े

बड़े तालाब हैं वे भी इस मानस (हंस = चातक) के लिए तुच्छ तलैया की भाँति हैं। उनसे यह प्रसन्न नहीं हो सकता। *ढरि०* = दयाकर। *इतै* = मुझपर। *सु कितै०* = जिसके लिए मेरा जी तरस रहा है उसे कैसे पाए। *चातिक* = हे सुजान, यदि आप घनआनंद की वर्षा करें या आनंद के घन से वृष्टि करें तो यह (मरता हुआ) चातक (प्रेमी) जी उठे।

तिलक--यह संसार ऐसा है जिसमें मनुष्यों के झुंड के झुंड रहते हैं। फिर भी यदि मनुष्य में हृदय न हो तो फिर वह वन ही वन दिखाई देगा। संसार की विलक्षण स्थिति यह है कि जो बनमानुस हैं, असहृदय हैं, जंगली हैं वे ही वृद्धि पा रहे हैं। फल यह है कि जो देखने में भड़कीले भी दिखते हैं उनमें भी सरतत्व कुछ नहीं है। जैसे जंगल में कोई भारी तालाब देखने को तो हो पर उससे तलैया का भी काम न निकले। ऐसों से किसी का मन उसी प्रकार नहीं मिल सकता जैसे उस जंगली तालाब से हंस (चातक) का मन नहीं भर सकता। आनंदित नहीं हो सकता। हे दैव, तू क्यों नहीं मेरी ओर द्रवीभूत होता। मेरा मन जिसके लिए तरस रहा है उसे अन्य किसी प्रकार वह नहीं पा सकता। आपके अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं है। अतः प्रार्थना है कि हे सुजान (ईश्वर), यदि आप आनंद के बादल से वृष्टि करें और घने आनंद की वृष्टि करें तो इस चातक के प्राण जी सकते हैं, अन्यथा नहीं।

व्याख्या—*मानस०*—वन में 'सरोवर' होते हैं, उसी प्रकार संसार में मनुष्य होता है। मनुष्य और सरोवर को ध्यान में रखकर दो पंक्तियों में ऐसी योजना की गई है कि दोनों पक्षों में अर्थ लग जाए। 'जग' चलनेवाले को, जंगम को, चेतनतायुक्त को कहना चाहिए। अतः यदि कहीं चैतन्य नहीं है तो वह बेकार है। संसार में मनुष्य इसी से विकसित, चरम विकसित प्राणी के रूप में उत्पन्न किया गया है कि वह मनुष्य होकर मनुष्यता का, सहृदयता का आचरण करे। यदि वह सहृदयता का आचरण नहीं करता, अपने चैतन्य की विशेषता नहीं दिखाता तो फिर अन्य जीवों से संसार की जो स्थिति है वही उससे भी है, मनुष्य और अन्य प्राणियों से कोई अंतर नहीं रह गया। इसी से कहा गया है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च सामान्यमेतत् पशुभिर्नराणाम्।
ज्ञानं हि तेषामधिको विशेषो ज्ञानेन हीना: पशुभि: समाना: ।।

ज्ञान, चैतन्य, सहृदयता ही मनुष्य को अन्यों से पृथक् करती है। वन में सरोवर होने से ही कुछ नहीं होता। उसकी शोभा तभी होती है जब वह पेय हो, जीवों का उससे उपकार हो। यदि वन में सरोवर तो है पर जीव-जतुओं का उससे कोई लाभ नहीं तो वह निरर्थक है। मनुष्य की भी यही स्थिति है। संसार में भी परिवर्तन होता ही रहता है। संप्रति संसार की स्थिति यह है कि उसमें वैशिष्ट्य पाने के लिए सहृदयता की उतनी आवश्यकता नहीं, जितनी स्वार्थ की। स्वार्थ की वृत्ति प्रमुख रखनेवाले आगे बढ़ जाते हैं, परार्थी और परमार्थी पीछे छूट जाते हैं। जे०—अब यदि कोई व्यक्ति कष्ट में पड़ा हो तो 'बनमानसों' से उसका उपकार कैसे हो सकता है, 'बनमानस' असाधु व्यक्ति के, असहृदय व्यक्ति के प्रतीक हैं। वैसे ही जैसे जंगली तालाब, जिनका पानी किसी के काम आने योग्य नहीं उनमे पानी विशेष भरा रहता है। पर जहाँ पानी पेय ही नहीं वहाँ जलजीव या जलपक्षी कैसे जाएँगे। हंस या चातक ऐसे सरोवर पर कैसे रहेंगे। *हाय*०—इसी से भौतिक प्राणियों का संसार के जीवों का कोई आसरा-भरोसा नहीं रहा। इसी से अलौकिक साहाय्य की अपेक्षा हो गई। अब दैव (ईश्वर) ही एकमात्र सहायक हैं। भक्तों का ईश्वर सर्वशक्तिमान् होता है। उसको अधिक आयास नहीं करना है। वह 'नेकु' (थोड़ा) ही यदि द्रवीभूत हो जाए तो काम बन जाए। उसके बिंदु में सिंधु है। *चातक*०—चातक को स्वाती का जल चाहिए उसे तो संसार का कोई भी जल पसंद नहीं। गंगाजल तक नहीं। ऐसी स्थिति में यदि ईश्वर के अनुग्रह से समय पर वृष्टि हो तभी उसका काम सरे, वह उस तत्त्व को पाए जिसके लिए वह तरसता है। यदि ईश्वर की दया से आनंद के घन (स्वाती के बादल) की वृष्टि न हो तो चातक मर ही जाएगा। इसलिए उसे ईश्वर ही जिला सकता है। यही स्थिति प्रेमी की है, प्रेमिका की है। उसे भी प्रिय की अनुकूलता की अपेक्षा है, अब ईश्वर ही उसे दिला सकता है। 'सुजान' भक्ति संप्रदाय में ईश्वर का, श्रीकृष्ण का, अवसर विशेष में राधिका का भी नाम है। 'आनंदघन' भी उनका नाम है।

पाठांतर—*को बन सो* = के बन सो। *हहा* = जहाँ।

बात सुजानन की *घनआनँद* डारति आहि अचेत कियेँ चित।
काननि बेधति पैठिकै प्राननि दीसै नहीं अकुलानि यहै नित।
क्यौं भरियै करियै सु कहा हमैं आनि बती इन लोगन सों इत।
भीर मैं हाय अकेले अधीर हैं रीझहि लै रिझवार गए कित।१३०।

प्रकरण—विरहिणी अपने विरह के कारण और उसकी स्थिति का चित्रण कर रही है। वह कहती है कि प्रिय की वार्ता से जो वेदना उत्पन्न हुई वह अनिर्वचनीय है। वे सुजान हैं। पर उनकी बातें ऐसी अनोखी हैं कि चित्त उससे अचेत हो जाता है। उसका अनोखापन यह है कि बात सुनी गई कान से पर जा पहुँचती है प्राणों में। जब उसकी खोज की जाती है तब उसका पता भी नहीं चलता कि वह कहाँ है। कठिनाई इससे हो रही है कि प्रिय यहाँ हैं नहीं। दिन भी बिताए जाएँ तो कैसे और किया भी जाए तो क्या किया जाए। यहाँ जो व्यक्ति हैं वे न तो सुजान हैं कि उनसे कुछ कहा जाए तो वे समझ लें। वे मेरी वेदना समझते ही नहीं। इनकी बातें मुझे रुचती ही नहीं हैं। मेरे प्राण वेदना की भीड़ में अकेले पड़े हैं और इस वेदना में एक ही सहारा था, रीझ का सो उसे लिए दिए प्रिय न जाने कहाँ चले गए।

चूर्णिका—*बात०* = (चतुरों की बात से अचेत रहनेवाले भी अचेत होते हैं, पर विलक्षणता यह है कि) सुजानों की बात (सचेत) चित्त को भी अचेत कर डालती है। *काननि०* = वह बात कानों को भेदती हुई प्राणों में पैठ (धँस) जाती है, पर प्रतीत होता है कि पहले प्राणों में धँसी फिर उसने कानों को बेधा। *दीसै०* = फिर भी वह दिखाई नहीं पड़ती कि प्राणों में है या कानों में। यही व्याकुलता है और नित्य यही स्थिति बनी रहती है। *क्यौं भरियै* = दिन कैसे काटे जाएँ। *हमैं०* = हमें इन लोगों से (प्रिय के) अतिरिक्त यहाँ रह गए असुजान–बात न समझनेवाले लोगों से पाला पड़ा है। *भीर०* = इस (दुःख) की भीड़ में मेरे प्राण अकेले हैं, इसी से अधीर हैं, रिझवार (प्रिय–रीझवाले, जिनके प्रति रीझ थी, जो रीझ को अपने साथ ले जाकर रीझवाले–रिझवार हो गए) न जाने मेरी रीझ को लिए दिए कहाँ चले गए कि आकर इनकी रक्षा नहीं करते।

जान पड़ता है कि पीड़ा वहीं से उठ कर कानों में आ रही है। ऐसा नहीं कि कानों से प्राणों की ओर उसकी गति हो। 'बात' है वह, दिखाई ही क्यों पड़ेगी। पता चला कि प्राणों में घुसी और उधर ध्यान गया तो वह कानों में बेधन करती जान पड़ी। उधर ध्यान गया तो फिर वह प्राणों में धँसी जान पड़ी। सुनी एक ही बात थी, एक ही समय सुनी थी। पर वह कष्ट नित्य दे रही है। 'बात' केवल 'वार्ता' नहीं है पूरी कथा है, करनी है सुजानों की। उन्होंने जो करनी मेरे साथ करके दिखाई वह सोचकर, उसकी चर्चा सुनकर, व्याकुलता बढ़ती रहती है। किसी अन्य की कथा या कथनी होती तो होती, यहाँ सुजानों की कथनी और करनी का रोना-धोना है। कान से क्या सुनते हैं, प्राणों पर क्या बीतती है और उस पर भी ध्यान देने की कोई संभावना नहीं। *क्यौं भरियै*०—अब विचार करने की बात है। बात ही पर विचार भी करना है कि देखो किसने क्या किया। दिन भी काटे जाएँ तो कैसे। किधर देखूँ प्रिय की करनी की ओर या अपनी करनी की ओर। कोई भी ऐसा नहीं दिखाई देता जो मेरी बात सुननेवाला हो। जब प्रिय ही असहृदय हो गया तब दूसरा कौन सहृदय होगा जो मेरी बात या स्थिति पर विचार करे। यहाँ जो दिखाई भी देते हैं वे मखौल उड़ानेवाले। ये मेरी वेदना दूर करने का प्रयास क्या करेंगे उलटे उसे और बढ़ा रहे हैं। उधर प्रिय से जो बात आ बनी थी सो तो थी ही, इधर इन लोगों से आ बनी। ये भी यदि सांत्वना देनेवाले होते तो भी कम से कम धैर्य न छूटता। पर सभी कुछ पलट गया है। *भीर*०—भीड़ जब आ पड़ती है तो चारों ओर से आ पड़ती है। प्राणों पर भी आ बनी है। जो नाना प्रकार की वेदनाओं दु.खों आदि की भीड़ में अकेला है। आस-पास के लोग सहायता करनेवाले नहीं। सुख सहायता कर सकता था, उसके साथी सहायता कर सकते थे, पर यह सुख जो मुझे प्रिय की रीझ से मिलता उस रीझ को लेकर स्वयम् प्रिय ही चले गए हैं। कहाँ चले गए कौन जाने, निकट के लोग कुछ बताते ही नहीं। उनकी 'बात' का मिलना भी कठिन, उन्हीं की बात से परेशानी। उन्हीं का पता नहीं। किया क्या जाए यही समझ में नहीं आ रहा है। बिना प्रिय के संसार

की समानुभूति तो मिलती ही नहीं, अपने शरीर के अंग भी सहायता नहीं कर रहे हैं।

पाठा०—*काननि०* = काननि पैठि कै प्राननि बेधति। *नहीं* = नई। *यहै* = नितै। 'काननि पैठि' पाठ से क्रम सीधा हो जाएगा। विरोध नहीं रहेगा। 'नई' अकुलानि की नवीनता के लिए अच्छा शब्द है। 'यहै' से 'नितै' में 'नित्य' पर जोर अधिक हो जाता है।

(कबित्त)

महा अनमिलन मिलेई मिलौ जब मिलौ
ऐसे अनमिल कै मिलाए हौ हमैं दई।
हमैं तौ मिलौ जौ कहूँ आपहू सौं मिले होहु
मिलौ तौ कहा जू ये मिलापरीति है नई।
इते पै सुजान *घनआनँद* मिलौ न हाय
कौन सी अमिलता की लागी जिय मैं जई।
तुमहूँ तें अधिक अमिल मन हमैं मिल्यौ
तऊ मिल्यौ चाहै दाहै जऊ जरियौ गई।१३१।

प्रकरण—इस कबित्त में विरहिणी बेमेल स्थिति का उल्लेख कर रही है। सबसे पहले वह ब्रह्मा को सोचती है। उसने ही बेमेल कार्य किया। मैं मेल के लिए उद्युक्त और उसने प्रिय दिया अमेल। यही क्यों? प्रिय अमेल होने पर मिलने भी आते हैं तो मन ऐसा किए आते हैं जो बेमेल होता है। उनकी बेमेल स्थिति ऐसी है कि मुझसे मिलना तो दूर वे अपने से ही नहीं मिल पाते। उनके मन और तन में ही मेल नहीं। यह बेमेल स्थिति प्रिय तक ही परिमित नहीं है। मेरा मन भी बेमेल है। कदाचित् प्रिय से भी अधिक बेमेल। उनके मिलने की संभावना न होने पर भी एक ओर तो उनसे मिलना चाहता है दूसरी ओर मुझे तब भी जला रहा है जब मैं जल-भुनकर समाप्त हो चुकी हूँ।

चूर्णिका—*अनमिलन०* = बेमेल लोगों के साथ अर्थात दूसरों से अपना मन मिलाए हुए [अथवा बेमेलपन से युक्त होकर अर्थात् ऊपरी मन से मिलते हो, सच्चे मन से नहीं]। *ऐसे०* = ईश्वर ने आपको मुझसे

मिलाया भी तो अनमिल अर्थात् अमोही बनाकर। *आपहू०* = यदि आप अपने आपे में हों तब न मिलें। *हमैं०* = हमसे आप मिलें भी कहाँ, यदि अपने आपसे आप मिले हों अपने आपे में हों तब न मिलें (आप तो दूसरों से मिले रहने हैं)। *मिलौ तौ०* = मिलें भी तो आप कैसे मिलें, आपके मिलने का ढंग ही विलक्षण (नया) है, ऐसे ढंग से मिलना न मिलना समान ही है। *जई* = जवारा, अंकुर। *इते पै०* = इतने पर अर्थात् इतना प्रयास करने पर भी आप नहीं मिलते। न जाने आपके जी में कैसा विचित्र बेमेलपने का अंकुर लग गया है। *तुमहूँ०* = आपको ही क्या दोष दूं, आपसे भी बढ़कर तो मेरा बेमेल मन है। वह तो मुझसे भी दूर ही दूर रहना है। उसकी विलक्षणता यह है कि इस प्रकार आपकी विरह में मैं जल-भुनकर समाप्त हो गई तब भी यह आपसे मिलने का उपाय सोचा ही करता है। तात्पर्य यह कि एक आप ऐसे अमोही और दूसरी ओर मेरे मनजैसा मुझसे अमोही, इस विषमता में मैं पिस रही हूँ।

तिलक—हे प्रिय, दैव ने एक तो आपको अनमिल बनाया, फिर मिलाया मुझसे तो यह उसका मिलाप भी अनमिल हुआ। उसकी अनमिल रचना का फल यह है कि आप जब कभी मिलते हैं, मेरे निकट आकर दर्शन देते भी हैं तो आप अपने मन को ऐसे अनमिल व्यक्तियों के प्रति मिलाए रहते हैं कि वह मुझसे कभी मिलने की सोचता ही नहीं। किसी से वही मिलता है जो स्वयम् अपने से मिला हो, भीतर-बाहर जिसकी स्थिति एक सी हो, पर आपका मन कहीं तन कहीं रहता है। जिनके मन-तन में ही मेल नहीं वह भला दूसरे से क्या मिलेगा। जब आपके मन की यह स्थिति है तो फिर आप मिले तो फिर कैसे मिलें। आपके मिलने की रीति ही निराली है, मिलकर भी नहीं मिलते। इधर मैं मिलने के नाना प्रकार के प्रयत्न करती हूँ, आपको जो रुचे उसी का संभार करती हूँ पर सुजान होकर और आनंदघन होकर भी आप नहीं मिलते। आपके जी में न मिलने का यह कौन सा अंकुर आ जमा है कि वह मिलने में बाधा दे रहा है। आपकी उधर यह स्थिति और इधर मेरा-मन भी ऐसा बेमेल बेढंगा मिला है कि जब आपसे मिलने की, आपके अनमिल से बदलकर मिलनेवाले बन जाने की कोई संभावना तक नहीं है तब भी वह आप ही से मिलना चाहता

है। आपके प्रति उसका तो यह बेमेल आचरण है और इधर मेरे प्रति उसका व्यवहार यह है कि इस प्रकार आप ऐसे बेमेल से मिलने के निरर्थक प्रयत्न करके वह मुझे जला रहा है, जल जाने पर जला रहा है। विरह से तो जलती ही हूँ इस मन के बेढंगे आचरण से और अधिक जलती रहती हूँ।

व्याख्या—*महा०*—साधारण बेमेल स्थिति नहीं रहती, असाधारण रहती है। मुझसे न मिलकर अनमिलन से मिले रहते हो। यह भी नहीं कि कभी एक बार भी आप अनमिलन से युक्त न हों, जब मेरे पास आते हैं तब यही स्थिति। जैसे आप अनमिल हैं दैव ने वैसा दूसरा नहीं बनाया एक आप को बनाया तो मिलाया मुझसे, जिसकी स्थिति सुमिल थी उससे मिलाया। *हमैं०*—आपका अनमिलन का स्वभाव और अभ्यास ऐसा है कि अपने से ही मिल नहीं पाते। आपमें ही जो मिल नहीं पाता वह दूसरे से कैसे मिल सकता है। यदि अपने से मिलाप हो जाए तो फिर संभावना रहती है कि दूसरे से भी मिलाप हो जाए। आपकी स्थिति ऐसी है कि आप कहीं से भी अपने से नहीं मिले हैं। कोई दो अंग आपके नहीं मिले। न बाहरी न भीतरी आप फिर कैसे मिल सकते हैं। आपकी मिलाप की पद्धति ही नवीन है। मिलकर भी नहीं मिलते, निकट रहकर भी दूर रहते हैं। अथवा संसार के मिलाप की रीति आपके स्वरूप-स्वभाव से नवीन है, वहाँ तक पहुँचने की संभावना ही आपके लिए नहीं है। अथवा मेरी मिलने की रीति ही कुछ दूसरी है उससे और आपके ढंग से बहुत अंतर है, महदंतर है। मैं निरंतर मिलने के लिए आतुर और आप मिलने पर भी न मिलने के लिए आतुर हैं। *इते पै०* = मेरी निरंतर मिलने की आतुरता और उसके लिए किए गए उपायों से भी आप नहीं मिलते। यदि कोई कहे कि आप इन सब स्थितियों से अपरिचित हैं तो ऐसा भी नहीं है। आप सुजान हैं, सब कुछ भली भाँति जाननेवाले हैं। मेरी आंतरिक व्यथा से भी आप परिचित हैं। पर हो सकता है कि कोई सज्ञान होने पर भी सहृदय न हो, सो बात भी नहीं है। आप आनंदघन हैं। सहृदयता आपके नाम से स्पष्ट प्रतीत होती है। अतः मानना पड़ता है कि आप नाममात्र के आनंदघन हैं। यदि ऐसा न होता तो मिलते अवश्य। पर यह सब जो कुछ

जगत् में केवल किसी के नाम आदि से ही जाना जा सकता है वह आपके लिए सत्य नहीं है। आपके हृदय में न मिलने का अभी अंकुर ही फूटा है। वह बढ़कर न जाने किस सीमा तक चला जाए। वृक्ष हो; फिर फूले-फले भी। यह अंकुर भी तो तभी निकलता है जब किसी प्रकार का मेल हो, मिट्टी, बीज, पानी, वायु आदि का मेल वहाँ भी होता है। पर आपमें जो अंकुर फूटा वहाँ कोई मेल नहीं, फिर भी अंकुर निकल आया। संसार के अन्य अंकुरों से यह विलक्षण है। अमिलता और अम्लता में भी ध्वनिसाम्य है। आपमें यह खटाई कहाँ से आ लगी। आप मेरी ओर से मन खट्टा ही किए रहते हैं। पहले यह संभावना नहीं थी, बहुत थोड़े समय से यह स्थिति हुई है। *तुम हूँ*०—इधर मेरा मन तुमसे भी अधिक बेमेल दिखता है। आपमें वह अनमेल कि कभी मिल सकेंगे इसकी संभावना ही नहीं रही और इसकी यह स्थिति कि यह आप ही से मिलना चाहता है। यदि यह मन ऐसा न होता तो भी मैं संतोष कर लेती। एक ओर तो यह अमिलन से मिलन के प्रयास में है और दूसरी ओर मुझ जली को यह जलाती है। जो जल गया उसे जलाने की आवश्यकता नहीं रहती। राख को जलाने से क्या होगा। पर यह ऐसा कार्य भी कर रहा है। इसके आचरण दोनों ओर बेमेल हैं। आपका आचरण तो अपनी ही ओर बेमेल है। इसका आपकी ओर भी बेमेल, मेरी ओर भी बेमेल है और स्वयम् अपनी ओर भी बेमेल है। 'मन' मनन करनेवाले को कहते हैं। यह कुछ भी मनन चिंतन करता तो इसे अपनी भूल समझ में आ जाती। पर यह है तो भावुक, जो न करना चाहिए उसे भी भावावेश में करता रहता है। आप तो मिले ही नहीं। पर यह मुझमें मिल गया, फिर भी अमिल है। आपसे अधिक बेमेल हो गया न यह।

(सवैया)

सावन आगम हेरि सखी मनभावन आवन चोप बिसेखी।
छाए कहूँ घनआनँद जान सम्हारि की ठौर लै भूलनि लेखी।
बूँदैं लगैं सब अंग दगैं उलटी गति आपने पापनि पेखी।
पौन सों जागति आगि सुनी ही पै पानी तें लागति आँखिन देखी।१३२।

प्रकरण—विरहिणी वियोग के समय सखी से बातें कर रही है। सावन का महीना आ गया है, इससे उसके मन में प्रिय के आने की लालसा बहुत बढ़ रही है। सावन के आने से बादल आए, पृथ्वी हरी-भरी हुई। पर इसके आनंद के घन प्रिय न जाने किस आकाश पर छाए हैं। जब सँभालना चाहिए, ध्यान देना चाहिए तब भूले हैं। इतना ही नहीं है। सावन में जो बूँदे गिरती हैं उनसे अंग जलने लगते हैं। न जाने क्या पाप है कि विरह की आग को पानी से बुझाना चाहिए पर उसकी गति पलट गई। उसे पवन से सुलगाना चाहिए ऐसा सुन रखा था और पानी से बुझना चाहिए यह भी सुना था, पर आँखों से देखती हूँ कि वह पानी से ही लग रही है।

चूर्णिका—*चोप* = उमंग, लालसा। *बिसेखी* = विशेष हो गई, बढ़ गई। *सम्हारि* ० = (ब्रह्मा ने मेरे भाग्य में) प्रिय द्वारा सँभाल के बदले भूलना ही लिख दिया है। अथवा प्रिय को जिस समय मेरी चिंता करनी चाहिए उसी समय उन्होंने भूल जाने की सोची है। अथवा मैं इस वियोग में अपने तन-बदन की भी सँभाल नही कर पाती, भूली ही रहती हूँ। *लगैं* = लगती हैं, शरीर का स्पर्श करती हैं या लगने पर। *सुनी ही* = सुनी थी। *पौन*० = हवा से आग का प्रचंड होना केवल सुना था (देखा नहीं था) पानी से आग लगना तो आँखों देख लिया।

तिलक—हे सखी, सावन का आगमन देखकर मेरे मन में प्रिय के आने की लालसा और भी बढ़ गई है। जब न जाने कितने दूर देश से बादल यहाँ आ पहुँचे तब मेरे प्रिय का अपेक्षाकृत निकट देश से आना नितांत संभव है। पर बादल तो यहाँ आकर छा गए, पर मेरे आनंद के घन सुजान प्रिय कहीं अन्यत्र छाए हैं, कहाँ छाए हैं, संप्रति कहाँ हैं इसका भी पता नहीं। इस समय जब सावन का महीना है कोई परदेश में नहीं रहता, नहीं जाता। सभी गए हुए लौट आते हैं। अपने घर और गृहस्थी को सँभालते हैं आकर। पर उन्हीं में न जाने कैसी वृत्ति है कि इस अवसर पर भी वे मुझे भूले हैं। मुझे वे भूले ही रह जाते, फिर भी मैं कष्टों को सहती रहती, यदि सावन के बादलों से पड़ने वाली ये बूँदें आकर मेरे शरीर में न लगतीं। ये तो लगने पर अंगों को

जलाने लगती हैं। यह उलटी रीति है। इसमें भी दोष मेरे ही हैं। मेरे भाग्य का दोष है। मेरे पापों का परिणाम है। तभी तो मैं यह प्रत्यक्ष देख रही हूँ। उलटी रीति है कि मैंने केवल सुना भर था कि आग हवा से प्रज्वलित होती है, उसे भी देखने का अवसर नहीं आया था। जो ध्रुव सत्य है उसकी जाँच-पड़ताल या अनुभव का अवसर नहीं मिला था। पर जो नितांत मिथ्या है उसकी सत्यता प्रत्यक्ष दिखाई दे रही है कि पानी से आग लग रही है। इसे और किसी ने सुना भी न होगा।

व्याख्या—*सावन०*—सावन अभी आया ही है तभी यह हाल है, भरे सावन में क्या होगा दैव जाने। सावन को देखा, उसकी छटा देखी ऐसी ही हरी-भरी छबि मेरे प्रिय की भी है। साम्य से ही स्मरण हो आया है। जैसा मनभावन सावन वैसे ही मेरे प्रिय। यह सावन उन्हीं के आगमन की सूचना लेकर तो नहीं आया है। ज्यों-ज्यों सावन को ध्यान से देखती-हेरती हूँ प्रिय के आ जाने की संभावना बढ़ती है और उमंग लालसा भी बढ़ती है। *छाए०*—सावन में पृथ्वी की हरियाली देखकर प्रिय के सौंदर्य की छटा याद आती है और आकाश में देखती हूँ तो प्रिय के छाने की सुध आ जाती है। पर वे भी कभी इसी प्रकार छा गए थे, अब भी हृदय के भीतर छाए हुए हैं। पर बाहर उनकी मूर्ति नहीं दिखती। उनका नाम भी आनंद के घन है। वे सुजान भी हैं। इस सुजानपने के कारण संभावना बढ़ती ही है। यह तो जानते ही होंगे कि सावन में परदेश में नहीं रहना चाहिए। घन भी वे आनंद के हैं। सावन के ये बादल यदि दिनभर छाए रहें तो जी ऊब जाएगा—'मेघाच्छन्ने हि दुर्दिनम्' वह दिन दुर्दिन हो जाता है जब रातदिन बादल ही घिरे हों। पर वे आनंद के बादल हैं। जीवन भर घिरे रहें तो भी सुदिन ही रहेगा। सुजान को सारी बातें याद रहती हैं, ने अवसर पर कार्य करते हैं। पर न जाने क्या है कि मेरे प्रिय इस उपयुक्त अवसर पर ही विस्मरण में पड़ गए। अथवा उनका दोष ही नहीं है। ब्रह्मा ने मेरे भाग्य में ऐसे अवसर पर यही भाग्यरेखा लिख दी है अथवा मैं अब अपने को क्या सम्हाल पाऊँ। मैं तो स्वयम् ही अपने को भूली हुई हूँ। यदि भूलती न तो उनका पता तो लगा ही लेती कि वे कहाँ हैं। वे न भूलते, न आते तो मुझे यह तो पता दे ही देते कि मैं यहाँ हूँ। पर न मुझे

स्मरण रहा, न उन्हें स्मरण रहा। चतुर्दिक् विस्मरण। बूँदैं०—बूँदें भी बड़ी बड़ी हैं, शरीर पर आकर चोट करती हैं। छोटी बूँदें होतीं तो कदाचित् चोट न लगती। अथवा बूँदें हैं तो छोटी ही पर चोट बहुत करती हैं। यहाँ तक कि जिस अंग में लगती हैं वहीं नहीं सर्वत्र आग लग जाती है। ऐसा नहीं होता कि जहाँ स्पर्श हो वहाँ के अतिरिक्त बिना समय के व्यवधान के अन्यत्र उसका प्रभाव पड़े। पर यहाँ वह भी हो रहा है। यह उलटी रीति अपने कर्मों का ही फल है। न प्रिय का पाप, न अन्य किसी का पाप। पाप का फल भी लोग परत्र में पाते हैं। पर यहाँ पापों की पंक्ति है और वे बड़े हैं इसी से इसी लोक में फल मिल रहा है। *पौन०*—हवा से भी आग तभी बढ़ती है जब पहले से आग हो। हवा उसे अधिक कर देती है, सोई आग को जगा देती है। बुझती को सुलगा देती है। ऐसा कभी नहीं सुना कि आग केवल हवा लगने से लग जाए। देखा फिर कहाँ है। पर पानी पड़ने से लगी आग, हवा से सुलगी आग, दावाग्नि तक बुझ जाती है। यदि कभी हवा से आग लगने की भी संभावना हो तो हो, पर पानी से लगने की तो कदापि नहीं है, कहीं किसी से सुनना तो दूर कोई कल्पना नहीं कर सकता। पर यहाँ उसे प्रत्यक्ष अपनी ही आँखों देख रही हूँ।

हम सों हित कै कित कों हित ही चित बीच बियोगहिं बोय चले।
सु अखैबट बीज लौं फैलि परयौ बनमाली कहाँ धौं समोय चले।
घनआनँद छाय बितान तन्यौ हम ताप के आतप खोय चले।
कबहूँ तिहि मूल तौ बैठिये आय सुजान ज्यौ रवाय कै रोय चले।१३३।

प्रकरण—विरहिणी का एकांतभाषण या सखी के प्रति उक्ति या संदेश है। वह कह रही है कि आपने मुझसे प्रेम करके वियोग का बीज मेरे चित्त में बो दिया। बीज बोकर आप अन्यत्र चले गए। आपने जो बीज बोया था बिना देख-रेख के वहाँ ऐसा बढ़ा जैसे अक्षयवट का बीज। भारी प्रसार हो गया है उसका, पर उसमें घनी छाया होने पर भी मुझे धूप ही लगती है, विरहताप कष्ट देता है। आप वनमाली हैं। इस अपने लगाए बीज और उसके विस्तृत रूप घनच्छाय वृक्ष के नीचे उसकी जड़ पर

आकर देखिए तो यह कैसा है। मेरे प्राण भी मुझे रुलाकर स्वयम् रोते भाग खड़े हुए हैं। कोई साथ नहीं रहा।

चूर्णिका—*हितकै* = प्रेम करके। *कित कौं* = किसकी ओर, किधर। *हित हीं* = चावसहित। *वियोग* = वियोग का दुःख, विरह। *बोय* = बोकर; उत्पन्न करके। *सु* = वह वियोग (विरह) का बीज। *अखैबट* = अक्षयवट, प्रलयांत में भी नष्ट न होनेवाला वटवृक्ष। *फैलि०* = अंकुरित पल्लवित होकर अब हरे-भरे विस्तृत घिराव वाले महान् वृक्ष के रूप में परिणत हो गया है। *समोय* = अनुरक्त होकर। *चले* = चल पड़े। *छाय* = भली भाँति सघनता से फैलकर, झलराकर। *बितान* = चँदोवा, शामियाना। *आतप* = धूप; गरमी। *छाय०* = वह वटवृक्ष चँदोवे की भाँति छा गया है। उसके नीचे धूप नहीं आती और शीतलता मिलती है, किंतु मैं तो (विरह के) ताप की गरमी से नष्ट होती जा रही हूँ, मर रही हूँ। *खोय चले* = नष्ट हुए जा रहे हैं, मर रहे हैं। *तिहिं०* = उस वटवृक्ष के नीचे उसकी जड़ पर (उसके नीचे बैठकर अपनी सुरीली बाँसुरी ही आ बजाते)। *ज्यौ* = प्राण, जी। *ज्यौ०* = मेरे प्राण तो (अपनी आसाधारण वेदना से करुणायुक्त करके) अब दूसरों को रुलाकर और स्वयम् भी रोकर निकले जा रहे हैं, यह गरमी सही नहीं जाती। मैं असह्य विरह ताप से जली जा रही हूँ।

तिलक—हे प्रिय, मुझसे प्रेम करके और चावपूर्वक मेरे चित्त में विरह का बीज वोकर अब आप किधर चले। इस पृच्छा का हेतु यह है कि बीज बोनेवाला इतना तो देखता ही है कि बीज अंकुरित हुआ या नहीं। पर आपने उसके अंकुरित होने न होने की चिंता नहीं की, निश्चिंत चले गए। इधर इस बीज की स्थिति यह है कि यह अक्षयवट के बीज की भाँति जहाँ पड़ा बिना किसी देख-भाल के ही उगा और फफनकर फैल गया। जिस समय कोई पेड़ निकलता है उस समय माली उसकी रक्षा का प्रबंध करता है और आप वनमाली होकर भी न जाने किस पर अनुरक्त होकर और इससे विरक्त होकर अन्यत्र चले गए। पर यह बीज, इससे निकला पेड़ और पेड़ों में निकली शाखाएँ और शाखाओं में निकली पत्तियाँ इतनी

तीव्रता और सघनता से बढ़ीं कि यह चारो ओर छा गया, इसने सारे बाह्य और आभ्यंतर क्षेत्रों को ढक लिया, ऐसा ढका जैसे कोई चँदोवा तना हो। छाया भी अत्यंत आनंददायिनी है, पर वह मेरे लिए नहीं है। मैं तो विरह-ताप की धूप से इतनी तप रही हूँ कि जलकर भस्म हो जाने की स्थिति आ उपस्थित हुई है। जब यह छाया मेरे काम नहीं आ रही है तब आप ही के काम आए। आप इस महान् वृक्ष की छाया में उसके नीचे आकर जरा बैठिए तो और अपनी मीठी सुखद बाँसुरी तो बजाइए। क्योंकि विरहताप की धूप से व्यथित होकर मेरे प्राण तो दूसरों को और मुझे भी रुलाकर चले जा रहे हैं बेचारे स्वयम् भी रो रहे हैं। आपके वेणुवादन से कदाचित् उनका रोदन रुक जाए। कहना इतना ही है कि आपके कारण मैं इतना प्रचंड कष्ट सह रही हूँ और आप मेरे कष्ट का कुछ भी अनुभव नहीं करते। यहाँ तक कि मेरे इस कष्ट को देखने तक के लिए नहीं आते।

व्याख्या—*हमसों०*—आपने मुझसे प्रेम किया, मेरा हित किया, भला किया, उपकार किया। उससे मैंने तो यही समझा था कि आप मुझे छोड़कर कहीं अन्यत्र नहीं जाएँगे। पर आप ऐसे स्थान को चले गए कि जिसका मुझे पता ही नहीं। पता होने पर आपको बुलाया जा सकता था, पर संप्रति आपको बुलाना तो दूर कोई समाचार तक नहीं पहुँचाया जा सकता। जिस चाव से आपने मुझसे प्रेम किया उसी चाव से, वैसे ही चाव से, आपने वियोग भी ला दिया। वियोग शरीरमात्र का नहीं है, चित्त का है। मानसिक चिंता बढ़ा दी है। यदि थोड़े दिनों को कहीं परदेश में होते तो और बात होती। कुछ दिनों बाद लौट आते। पर आपका पता न होने से यह वियोग अर्थात् चिंता मन में घर कर गई है। यह चिंता आपने ही अपनी ओर से खड़ी की है। इसका बीज आपने ही बोया है। मैं वियोग कभी नहीं चाहती थी, उसकी कल्पना भी नहीं थी। *सु अखैबट०*—आपके न आने से, आपका पता न होने से वह विरह शाश्वत हो रहा है। अक्षयबट ऐसा होता है जो प्रलयावस्था आ जाने पर और समुद्र का पानी चारों ओर बढ़ने पर उस ओघ के साथ, बढ़ाव के साथ ही, बढ़ता जाता है। ज्यों-ज्यों इंद्रियों के शिथिल होने से मरण निकट आ रहा है यह विरह बढ़ ही रहा है,

कहीं रुकता नहीं। वट के नीचे जो जड़ होती है सो तो होती ही है, ऊपर से बरोह निकलकर और पृथ्वी तक पहुँचकर नई जड़ों का काम करते हैं। उसमें मूल ही मूल, जड़ ही जड़ होती है और जब फैलता है तो कोसों तक फैल जाता है। (जैसा कलकत्ते में, बहुत विस्तृत क्षेत्र में, मीलों एक ही बट वृक्ष बरोहों के आधार पर फैल गया है)। प्रिय भी कोई और होता तो भी संतोष कर लिया जाता, पर प्रिय भी वनमाली है। किसी पेड़ पल्लव को सँभालने की, कैसे बढ़े, कैसे रक्षा हो आदि वृक्षोत्पादन की नाना विधियों से सुपरिचित होने पर भी अपना ही बोया बीज छोड़कर अन्यत्र दूसरे का बोया बीज उगाकर देखने-ताकने और वह भी अज्ञात प्रदेश में चले गए। यह ऐसा फैल रहा है कि आप किसी ज्ञात प्रदेश में होते तो यह वहाँ भी बढ़कर पहुँच जाता। आप जहाँ हैं भी वहाँ अपनी पृथक् सत्ता लिए नहीं हैं। दूसरे की सत्ता में मिले हैं। समोए हुए हैं। इसी से आपका पता चलना कठिन है। *घनआनँद०*—आप जहाँ भी हों, यह तो घने आनंद का सर्जन करनेवाली छाया से युक्त ऐसा सघन हो गया है कि इसने चँदोवा ही फैला दिया है। चँदोवा दो कार्यों के लिए अथवा बचावों के लिए तनता है। पानी से बचत के लिए और वर्षा से बचत के लिए। पर यह ऐसा है कि इससे मेरे लिए कोई बचत नहीं। क्योंकि मुझे तो ऐसा लगता है कि बादल ही आनंदपूर्वक इस रूप में वितान ताने हुए हैं। आँसुओं की वृष्टि भला यह क्या रोकेगा। सो वर्षा की बचत नहीं। रही धूप। विरहताप के कारण आतप (गरमी; धूप) इतनी है कि बचत की बात ही नहीं, लाभ कुछ नहीं, पाना कुछ नहीं, तब खोना ही खोना है। वर्षा से बचत न हो पर उसमे मेरे डूब मरने की नौबत नहीं। पर धूप तो इतनी कड़ी लग रही है कि खड़े-खड़े बेहोशी हो जाती है। क्योंकि यह आतप (आ + तप) चारो ओर से घेरे हुए है। किसी ओर से निकल जाने का मार्ग नहीं है। *कबहूँ०*—फिर भी मेरे प्राण अब रोते-धोते रुलाते-धुलाते निकल ही जाना चाहते हैं। अब-तब की नौबत आ गई है। ये तो अजान थे, पर आप तो सुजान हैं। आइए जिसका उपभोग मेरे प्राण नहीं कर सके उसका आप ही कर लें। इसमें यदि और कुछ नहीं तो

छाया तो है, दूसरों को शीतलता देने की शक्ति तो है। वह स्वयम् धूप सहता है, पर दूसरों को छाया, शीतलता देता है। मैं धूप सहती हूँ, पर आपको धूप न लगने दूँगी। भले ही मेरा विरह फलदायी न हो, पर आपको छाया तो देगा ही—

सेवितव्यो महान् वृक्षः फलच्छायासमन्वितः।
यदि दैवात् फलं नास्ति छाया केन निवार्यते॥

इस वृक्ष में बाहर-बाहर तो व्याज ही व्याज है। भीतर नीचे मूल है। बीज आपका ही बोया है, आप ही बीज हैं, मूल हैं, मूलधन हैं। इस पर आकर, आप यदि बैठ जाएँगे तो यह संतोष होकर रहेगा कि इसका कोई न कोई उपयोग हो गया। इस मूल की, मूलधन की मुझे प्राप्ति नहीं हुई, प्राणों को वह नहीं मिला। उसे पाने को वे कलपते ही रहे, अब वे निर्धन की स्थिति में रोते-बिलखते तथा अन्यों को अपनी परम दयनीय स्थिति पर रुलाते-बिलखाते निकले जा रहे हैं। अब भी रुक सकते हैं यदि आप आनेवाले हों।

पाठांतर—*हित हीं* = नित ही। *छाय* = छाँह। *हम* = हमैं। *ज्यौं* = जौं। *ख्वाय* = हाय।

नित ही = नित्य ही, निरंतर ही। आपने निरंतर प्रेम किया आरंभ में। *छाँह* = छाया करनेवाला वितान। *हाय* = वेदना या रोदन का आधिक्य व्यंजित है।

कान्ह परे बहुतायत मैं अकलैन की बेदन जानौ कहा तुम।
हौ मनमोहन मोहे कहूँ न बिथा बिमनैन की मानौ कहा तुम।
बौरे बियोगिन आप सुजान ह्वै हाय कछू उर आनौ कहा तुम।
आरतिवंत पपीहन कों *घनआनँद* जू पहचानौ कहा तुम।१३४।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के अनेक प्रेमियों से प्यार करने पर उपालंभ दे रही है। जिसके प्रेम का आधार एक ही होगा और जो एकोन्मुख होगा वह जिस वेदना में पड़ा होगा उसकी अनुभूति अनेकोन्मुख या सामान्योन्मुख क्या करेगा। जो दूसरों के मन मोहनेवाला होगा वह मोहित होने और विमनस्क होनेवालों की व्यथा का अनुभव कैसे करेगा। जो चतुराई से किसी के वियोग को बचानेवाला होगा उसके हृदय में प्रेम के पागलों की

बात कैसे समाएगी। जो आनंद के बादलों में रहनेवाला होगा वह निरानंद में पड़े चातकों को क्या पहचानेगा।

चूर्णिका—*बहुतायत०* = बहुतों के प्रेम के फेर में। *अकलैन०* = एक से प्रेम करनेवालों की, अनन्य प्रेमियों की। *बेदन* = वेदना, पीड़ा। *हौ मनमोहन०* = आप तो दूसरों का मन मोहनेवाले हैं, स्वयम् आपका मन तो किसी पर मोहा ही नहीं, किसी के द्वारा आप मोहे ही नहीं गए। *बिमनैन की* = किसी पर मोहित होकर विमनस्क (बेमन) हो जानेवालों की। *मानौ* = समझो। *बिथा०* = इसलिए विमनस्कों की व्यथा आप समझें भी तो कैसे समझें। *बौरे*=पागल प्रेम से पगले। *बौरे०* = आप सुजान (स्थिरमस्तिष्क) होकर विरह में पागल (अस्थिर-मस्तिष्क, विकृत-मस्तिष्क) हो जानेवाले वियोगियों को हृदय में स्थान कैसे दे सकते हैं (सुजान की चतुराई तो इसी में है कि वह पागलों के फेर में न फँसे)। *आरतिवंत* = दुखी।

तिलक—हे श्रीकृष्ण, आप बहुत सी गोपियों के प्रेम में पड़े हुए हैं, आपकी प्रेमलालसा बहुतों के चक्कर में पड़ी रहती है, यह नहीं वह, वह नहीं यह के फेर में आप नित्य प्रेमियों को बदलते रहते हैं, आपके प्रेम के आधार एक नहीं अनेक हैं और स्थिरता कहीं नहीं है। कहीं टिकते नहीं। इधर मेरी गति अनन्य है। आप अनन्य प्रेमियों की वेदना को समझें भी तो कैसे समझें। आपमें अन्यता है, अनन्यता का नाम नहीं। आप बहुतायत में ही नहीं हैं, आप मनमोहन भी हैं। दूसरों के मन मोहित करके उन्हें वश में कर लेते हैं। जो मोहित होकर मन खो बैठता है, विमनस्क हो जाता है उसकी व्यथा कैसी होती है उसे आप किसी के कहने पर भी मान नहीं सकते, आपको विश्वास ही नहीं होगा। आपका मस्तिष्क ठीक-ठिकाने है, आप सुजान हैं। पर जो प्रेम में अजान हो गए हैं, जिनका मस्तिष्क ठीक-ठिकाने नहीं है, जो पगले हो गए हैं उनको अपने हृदय में आप ला ही कैसे सकते हैं। आप तो सारे कार्य बुद्धिपूर्वक करते हैं। सहृदयतापूर्वक करें तब तो उनकी ओर उन्मुख हों। जब तक कोई किसी की ओर उन्मुख ही न हो तो उसे पहचानेगा कैसे। आपको आर्ति से कोई प्रयोजन नहीं, कैसी लालसा,

कैसा दुःख। फिर जो चातक बादल के लिए लालायित रहता है उसे उसकी लालसा का पता कैसे चले। और जब तक उसका पता नहीं चलता तब तक उसकी पहचान ही कैसे हो। इस प्रकार न तो आप जानते हैं, न मानते हैं और न हृदय में स्थान देते हैं और न पहचान ही पाते हैं। इससे प्रेमियों को कष्ट ही कष्ट है। उसके निवारण का कोई मार्ग नहीं।

व्याख्या—*कान्ह०*—पहले किसी वस्तु का ज्ञान होना आवश्यक है। ज्ञान हो जाने के अनंतर उसके प्रति झुकाव होना चाहिए, विश्वास होना चाहिए कि यह मेरे विचार के अनुरूप है, फिर उसकी अनुभूति से मेल होगा और तब उसके संबंध में यह प्रयास होगा कि इसे अपना या अपने सा समझें। जानना, मानना, मन में लाना और पहचानना ये चार स्थितियाँ इसी से इसमें मनोवैज्ञानिक रूप में रखी गई हैं। जो बहुतों को जानने के फेर में पड़ेगा वह एक को भी नहीं जान सकेगा। जो बहुतों के प्रसन्न करने के चक्कर में पड़ेगा वह एक को भी नहीं प्रसन्न कर सकेगा। उसमें एकनिष्ठता जो नहीं होगी। बहुनिष्ठता और एकनिष्ठता में तात्त्विक अंतर है। यदि कोई किसी की बेदना जान भी ले तो भी उसका काम तभी चल सकता है जब उसपर विश्वास किया जाए, उस वेदना का अनुभव किया जाए तब अंततोगत्वा उससे समानुभूति कर सकता है। वेदना ज्ञान नहीं है, हृदय की वृत्ति है। *हौ मनमोहन०*—आप मन को, हृदय को मोहते हैं, पर मन आपमें है ही नहीं और यदि है भी तो वह आपसे दूर कहाँ होता है। आप बुद्धिपूर्वक उसे अपने से पृथक् नहीं होने देते। 'मानना' मन से ही होता है। कोई किसी को मानता संमानित करता है तो मन से, बुद्धि से नहीं। व्यथा भी मन में ही होती है। वेदना भी मन की वस्तु है। बुद्धिवाला तो यही सोचेगा कि जो विमनस्क है, मन ही जिसके पास नहीं रह गया, प्रिय के निकट चला गया, भला वह व्यथा का अनुभव स्वयम् क्या करता होगा। उसे विश्वास ही नहीं हो सकता। वेदना हृदय की संवेदनवृत्ति मात्र है। व्यथा उससे गहरी वेदना या संबेदना है। वेदना-संवेदना मनके अपने पास रहते होती है। व्यथा मन के अपने पास न रहने से होती है, प्रिय साथ नहीं देता यह तो संवेदना है और अपना मन भी साथ नहीं देता यह व्यथा है। प्रिय के त्याग की अनुभूति

और मन के तन्मनस्क होने की अनुभूति दो का योग व्यथा में है। बौरे०—व्यथा तब तक रहती है जब तक मस्तिष्क ठीक है। मन या हृदय ठीक है तब तक संवेदना। हृदय बिगड़ा तो व्यथा और मस्तिष्क बिगड़ा तो पागलपन। व्यथा में भी पागल हँसता है। ऐसी उलटी स्थिति कोई सुजान क्या करेगा। जिस पगले अजान को अपना ही बोध नहीं रह गया, अपनी पीड़ा का ही बोध नहीं रह गया, उसकी अनुभूति कोई सज्ञान भला क्या करेगा। उत्तरोत्तर वर्तमान स्थिति का उल्लेख है। वियोगी आपमें, आपे में नहीं रहते। सुजान रहते हैं। ज्ञानवान् के पास 'उर' ही नहीं फिर वह किसी को स्थान कहाँ दे। किसी को मानना और फिर हृदय में स्थान देना भी उत्कर्षात्मक स्थिति का बोधक है। कोई माना जा सकता है। थोड़े समय के लिए हृदय में आ सकता है। हृदय में टिकाया नहीं जा सकता। हृदय में लाना, लाकर बिठाना तो और कठिन है। चतुर तो यह सोचते हैं कि पागलों को ध्यान में रखने से कहीं मेरा मस्तिष्क ही न बिगड़ने लगे—'संसर्गजा दोषगुणा भवन्ति'। उनका संसर्ग ही न हो तो अच्छा। उर में कुछ भी न लाने का हेतु यह भी है। व्यथा की वृद्धि होती जा रही है इसी से 'हाय' शब्द रखा गया। पहली पंक्ति से दूसरी में वेदनाधिक्य, दूसरी से तीसरी में और तीसरी से चौथी में। *आरतिवंत*०—पागल होने पर भी खाने-पीने से मुख नहीं मोड़ता वह। कुछ न कुछ खाता है, पीता है। पपीहा तो स्वाती का रुचनेवाला जल भी नहीं पीता। 'प्रेमबिथा बाढ़ति भली घटै घटैगी कानि'। पागलों से भी बढ़कर महापागल होता है पपीहा। उसकी 'आरति' 'पागलपन' से भी बढ़ी चढ़ी है। एक ओर घनी आर्ति, दूसरी ओर घना आनंद। वियोगी प्रिय के सामने न रहने पर होता है कोई, पपीहा प्रिय के सामने रहने पर भी उसके संयोग के लिए लालायित नहीं। उधर सुजान केवल संयोग को देखते हैं वियोग से उनका क्या प्रयोजन।

यह नेह तिहारो अनोखो लग्यौ जु परयौ चित रूखो सबै तन ही।
बिसरै छिन जो सु करै सुधि तो गुनमाल बिसाल गुनै गनही।
हित चातक प्रान सजीबन जान रचे विधि आनँदके घन ही।
दरसौ परसौ बरसौ सरसौ मन लै हू गए पै बसौ मन ही।१३७।

प्रकरण—इसमें विरहिणी अपने अंतःकरण की विरह में स्थिति का वर्णन कर रही है। पहले वह चित्त की स्थिति का उल्लेख करती है और बतलाती है कि वह रूखा हो गया है सभी के प्रति। प्रिय के प्रति आसक्ति से अन्यत्र विरक्ति हो गई। अनन्यासक्ति की स्थिति उसमें आ गई। फिर वह अंतःकरण के दूसरे रूप बुद्धि का स्वरूप बतलाती है। बुद्धि में जो प्रिय की स्मृति है वह काल की विस्मृति का हेतु है। प्रिय की स्मृति में क्षण भूले रहते हैं। पर प्रत्येक क्षण माला के दानों की भाँति व्यतीत होता हुआ—उसके गुण को गुनता है, समझता है और गिनता चला जाता है। प्रत्येक क्षण प्रिय के गुण में ऐसा मिल गया है कि उन क्षणों की गिनती ही नहीं रह गई। गिने जा रहे हैं केवल प्रिय के गुण ही। फिर वह अपनी अहंता या प्राणवत्ता का विवरण देती है। अहंता में केवल प्रेम है। वह प्रेम ही इस अहंता या प्राण को बनाए हुए है। अहंता भी आनंदमय होकर उसी आनंद में लीन है, क्योंकि प्रिय का प्रेम आनंदमय है। अहंता में व्योम है और प्रिय आनंद का बादल ही है। इस प्रकार मन की स्थिति यह हो गई है कि यह चौथा अंतःकरण भी समाप्त हो गया। पर प्रिय बसा भी उसी मन में है। चित्त से उसके दर्शन हुए, बुद्धि ने उसका स्पर्श किया और अहंता में उसके आनंद की वृष्टि हुई और मन उससे सरस हो गया।

चूर्णिका—*नेह* = (स्नेह) तेल (चिकना); प्रेम। *रुखो* = रूखा; उदास। *तन* = शरीर; ओर। *तो* = तव आपकी। *बिसरै०* = जिस क्षण में ऐसा जान पड़ता है कि मैं आपको भूली हुई हूँ वह क्षण भी आपके स्मरण में ही लगा रहता है। जब मैं आपसे बाहर रहती हूँ तब भी आप ही का ध्यान बना रहता है। *गुनै* = विचारता है। *गनहीं* = गिनता है। *गुन०* = (वह भूला हुआ क्षण) आपके विशाल गुणों की माला फेरता रहता है। आपके गुणों पर विचार करता और उन्हें गिनता रहता है। *हित०* = चातक के प्राणों के लिए। *सजीवन* = सह जीवन; संजीवनी बूटी। *सजीवन०* = हे सुजान, ब्रह्मा ने चातक के प्राणों के लिए सजीवन (बूटी की भाँति) आप जैसे आनंद को ही बनाया है। *दरसौ* = दिखाई पड़ते हो। *परसौ* = स्पर्श करते हो। *सरसौ* = रसमय होते हो, रसमय करते हो।

मन० = मेरा मन चुराकर ले भी गए, मेरा मन उजाड़कर चले भी गए, फिर भी मुझे रुचते हो, मेरे मन में ही बसते हो।

तिलक—विरहिणी प्रिय के अनोखे व्यापारों का वर्णन कर रही है। सबसे पहले वह प्रिय के स्नेह की चर्चा करती है। यदि कोई स्नेह (तेल) लगा ले तो उसमें चिकनाहट हो जाती है। पर प्रिय की यह चिकनाहट ऐसी अनोखी है कि चित्त में उसके लग जाने से केवल चिकनाहट ही नहीं आई, रुखाई भी आई। दो विरोधी स्थितियाँ या वृत्तियाँ चित्त में आ गई। चिकनाहट तो प्रिय के प्रति हो गई और रुखाई शेष सभी वस्तुओं के प्रति हो गई। केवल प्रिय के प्रति प्रेम या आसक्ति आ गई और सारे जगत्प्रपंच के प्रति अनासक्ति हो गई। अनासक्तियोग आप से आप घटित हो गया। कोई साधना या प्रयास नहीं करना पड़ा। यह तो दिक् की स्थिति हुई या चतुर्दिक् छाए दृश्य प्रसार के प्रति वृत्ति हो गई। अब काल या समय को लीजिए। कितने क्षण व्यतीत होते चले जा रहे हैं उनका पता नहीं चलता। पर वे लापता क्षण वस्तुतः प्रिय की स्मृति में लीन रहते हैं। वे क्षण प्रियस्मृतिविशिष्ट हो गए हैं। क्षण और प्रियस्मृति मिलकर एक हो गए हैं। वे क्षण नहीं बीत रहे हैं प्रिय के गुणों की स्मृति द्वारा गिनती होती रहती है। उन गुणों का उन क्षणों में विचार होता रहता है। गिनती में क्षण नहीं आते गुण आते हैं। विचार में क्षण नहीं आते प्रिय के गुण आते हैं। गुण भी एक दो नहीं है उसकी संख्या बहुत है, वह शत-सहस्र नहीं है, अगणित है। इतना विशाल या अनंत है कि गिनते-गिनते समाप्त नहीं होता। फिर सोचना पड़ता है कि क्या उनकी रचना का कोई संकेत मिल सकता है तो यही निर्णय करना पड़ता है कि इयत्ता की गणना नहीं हो सकती है, उसका निर्धारण नहीं किया जा सकता। प्रिय का ध्येय रूप अनंत है और उसका ध्यान भी अनंत है, निरंतर है। यह ध्यानयोग हो गया। स्मरण, जप हो गया। प्यासे प्रेमी चातक के प्राण तो पिपासा से क्षीण हो रहे हैं पर सुजान प्रिय में सजीवन रूप होने से उस चातक को जीवन (प्राण और जल) की प्राप्ति हो गई। जल भी थोड़ा नहीं। घन के द्वारा जल की अखंड वृष्टि। जल भी कैसा—आनंद ही आनंद,

अमृत ही अमृत। फिर चातक के प्राण निकलें कैसे वे तो उसके कारण टिक गए, बच गए। चातक की प्यास बाहरी या भौतिक नहीं है, वह तो मानसिक या अभौतिक है। इसलिए प्यास भी अभ्यंतर में और उसकी तृप्ति और परितृप्ति भी वहीं। इस अभ्यंतर स्थिति का परिणाम यह है कि बाहरी स्थिति में दर्शन भी है, स्पर्श भी है, वृष्टि में गर्जनादि का श्रवण और आघ्राण भी है, पर बाहरी रसना से आस्वाद नहीं, भीतरी रसना से मन से ही उसकी सरसता का पता चलता है। पक्षी को एक घूँट पानी न मिले, प्यासे होनेपर तो वह कितनी देर टिक सकता है। पर यहाँ तो स्थिति ही दूसरी है—मन तो प्रियमय हो गया है, वे ही उसमें बसे हैं। मन बाहर कहाँ है वह तो भीतर बसा है, फिर बाहरी दर्शनादि से क्या! यह हुआ मनोयोग। तन्मयत्व।

व्याख्या—*यह नेह०*—आपके प्रति जब तक आकर्षण था तब तक ऐसी स्थिति न थी। पर जब आकर्षण के अनंतर आपका स्नेह हुआ तब दूसरी स्थिति हो गई। साथ ही किसी दूसरे के प्रति आकर्षण में ऐसा कभी नहीं हुआ। आपके आकर्षण का परिणाम स्नेह ऐसा अनोखा लगा कि बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया। अनोखापन यह कि वह केवल लगा, उसका स्पर्श मात्र हुआ और फल यह हुआ कि सबके प्रति रुखाई हो गई। चित्त मेंस्नेह(तेल) लगा और रूखा हो गया 'सब तन' (शरीर)। चित्त मे लगने मात्र से ऐसा हुआ। चित्त भी रूखा हो गया। प्रत्युत रूखा पड़ गया। अब यह संभावना ही नहीं रही कि कभी यह रुखाई हटेगी। सदा के लिए ऐसी स्थिति हो गयी। आपका स्नेह भी नित्य हो गया और सबके प्रति औदासीन्य भी नित्य हो गया। 'चित्त' में दो अंश हैं चित् और 'त'। 'त' जगदंश है। यही जगदंश हट गया। यह पूर्ण चित्स्वरूप हो गया। इस चिकनाहट की विशेषता यह हुई कि आरंभ हुआ आपके रूप से ही नाम-रूप जगत् के लक्षण हैं, पर इसने जगत् को ही हटा दिया। 'तन ही' को 'त नही' भी तो पढ़ सकते हैं। पड़ा रह गया रूखा (केवल) चित्, बचा 'चित्' उस चित्त का 'त' नहीं। चिन्मय हो गया चित्त। *बिसरै छिन०*—'क्षण' में भी परिवर्तन हो गया। मेरे चित्त में ही नहीं, मेरे

चित्त के अतिरिक्त, जगत् के अतिरिक्त 'काल' में भी परिवर्तन हो गया। उसमें केवल आपकी स्मृति ही रह गई, वह क्षण नहीं रहा। वह 'क्षण' चिदंश हो गया। वह चित् क्षण हो गया, उत्सब में बदल गया। क्षण का अर्थ उत्सव भी है। (क्षणमुत्सवम्)। यों एक क्षण का भी बीतना कठिन था, पर आपको स्मृति से युक्त होने से वह तो समाप्त हो गया, उसका कालांश नहीं रहा, पर उसका रूप रह गया। 'क्षण' रूप कालांश ऐसा गया कि वह फिर लौटनेवाला नहीं; विशेष रूप से 'सरण' कर गया। विस्मरण ही नहीं, 'विसरण' भी हो गया। क्षण के साथ आपकी स्मृति लगने से उस स्मृति ने उसे गुण की माला दे दी। गुण भी ऐसा आया कि न रज रहा न तम। रहा केवल 'सत्'। इसलिए 'क्षण का केवल 'सदंश' रह गया। उसके व्यापार नहीं रहे, निर्व्यापार स्थिति हो गई। जागतिक व्यापार समाप्त हो गए। अब वह क्षण आपके गुणों की माला के रूप में ही बचा। माला भी इतनी लंबी कि कभी समाप्त न हो। समाप्त न होने से कोई वेदना भी नहीं--वि + साल (पीड़ा) भी है वह। वेदना से केवल शुद्ध 'वेदन' बोध-रूप है। आपके गुण रह गए और उन्हीं का व्यापार रह गया, उनकी क्रिया रह गई, गुणना—सुनना रह गया। कालांश समझता था कि मैं अनंत हूँ। पर आपके गुण जब स्मृति के साथ उसके समक्ष आए तब वह उन्हें गिनने लगा, गिनना ही रह गया। वे गुण भी अनंत हैं। उस क्षण का अभिमान कि मैं ही अनंत हूँ समाप्त हो गया। वह इसी को सोचता और गुणों को गिनता रह गया। आपकी सत्ता दिक्काल से परे है। *हित चातिक०*—हे सुजान, आप सजीवन जान हैं, सुजान ही नहीं सज्ञान भी हैं। केवल ज्ञान नहीं जीवन भी हैं। चातक के प्राणों के लिए हित हैं, पथ्य हैं, इष्टसाधक हैं, मंगल हैं। आप ही चातक के प्राण हैं जान (प्राण) हैं, प्राणों के प्राण हैं। प्यास से मुमूर्षु, चातक के प्राणों के लिए आप सजीवन (जलमय) हैं। जल बिंदुमात्र नहीं कण नहीं घन हैं। घन भी सजीवन हैं, जल से भरे हैं और भरे ही नहीं हैं—'भरित नव नीर' ही नहीं हैं, 'बरसत सुरस अथोरे' भी हैं। ब्रह्मा ने ही स्वयम् आपका निर्माण किया है। अथवा आप स्वयम् ही विधि के रूप में बने बनाए हैं। आनंद के

घन की विधि से रचे हुए हैं। आनंद भी घनत्व को प्राप्त है आप में। चातक (प्रेमी) के चित्त में आप ही के कारण चिदंश है, उसकी बुद्धि या प्रज्ञा में सदँश है और उसके प्राणों में स्पंदन भी आप ही हैं और उनमें स्पंदित भी आप ही का आनंदांश है। आप ही सत्, चित्, आनंद घन हैं। *दरसौ परसौ०*—आप ही दृश्य हैं, द्रष्टा हैं, दर्शन हैं। आप ही का चिद्विलास है जो भी दृश्य है, चिद्रूप आप ही मेरे माध्यम से देख भी रहे हैं। देखने की क्रिया भी आप ही हैं, चिद्दर्शन भी है। इसी से आपके चित्त में लग जाने से 'अचित्' अंश की भ्रांति हट गई। यही स्थिति स्पर्श की है। स्पृष्ट आप, स्पर्ष्टा (स्पर्शक—स्पर्श करनेवाले) आप और स्पर्श भी आप ही हैं। स्पर्श कई प्रकार का होता है। उसके बारह प्रकार हैं—१ रूक्ष, २ शीत, ३ उष्ण, ४ स्निग्ध, ५ विशद, ६ खर, ७ कठिन, ८ चिकना, ९ श्लक्ष्ण, १० पिच्छाल, ११ दारुण और १२ मृदु। ऐसे ही वृष्ट आप, वर्षक आप और वृष्टि भी आप ही हैं। आप सरस हैं—मन भी आपके संपर्क से सरस है। आप मन को ले गए, आप में मन समाया, आप अंगी और मन अंग हुआ। पर आपमें समाते ही वह स्वयम् अंगी हो गया और आप अंग हो गए। अंगी भी आप और अंग भी आप। मन सरस हो गया, आप भी सरस हैं। इधर से सरस, उधर से सरस। सरस को सीधे पढ़ें तो सरस और उलटे पढ़े तो सरस। रस ही रस सर्वत्र।

पाठांतर—*गुनै*=गनै।

चितवै जिहि भाँति सकौं सहि क्यौं रहि क्यौं हूँ परै न हितात हियौ।
सु न जानति जीवति कौन सी आस बिसास मैं प्रेम को नेम लियौ।
घनआनँद कैसे सुजान हौ जू उहि सूखनि सींचि न छाँह छियौ।
करी बावरी रावरी बोलनि है कहि प्यारी बनाय कै प्यार कियौ।१३६।

प्रकरण—प्रिय के प्रति विरहिणी की दूती उसके विरह का निवेदन कर रही है। प्रिय ने प्रेमिका को 'प्यारी' कहकर संबोधन किया। इस बोल से वह पगली हो गई है। फिर भी उस पगली को देखने या उसके कष्ट के निवारण में प्रिय प्रयत्नशील नहीं हैं। इस पर यह दूती (जो प्रेमिका की सखी है और दूती के रूप में प्रिय के सामने उपस्थित हुई है) उलाहना देती है कि आप

न जाने कैसे आनंदघन हैं, कैसे सुजान हैं कि उसके सूखते हृदय को अपनी वाणी के वारि से सींच तो दिया पर इतनी दूर हट गए कि अपनी छाया का भी स्पर्श उसे नहीं करा रहे हैं। आपकी यह स्थिति और उसकी ऐसी स्थिति कि जिस प्रकार वह देखती है वह हम सबसे सहा नहीं जाता, देखा नहीं जाता। उसका हृदय न तो टिक पाता है और न सँभल ही पाता है। यह पता ही नहीं लगता कि वह किस आशा के सहारे जी रही है। उसने तो आपके विश्वास-घात पर भी प्रेम का नियम साध रखा है। विश्वासघात होने पर भी आपसे प्रेम किए हुए है।

चूर्णिका—*चितवै* = देखती है। *जिहि०* = जिस प्रकार (विलक्षण ढंग से। *क्यौं हूँ* = किसी प्रकार भी। *न* = देहरी दीपवत् 'परै' और 'हितात' दोनो ओर लगता है। न परै और न हितात। *हिताना* = अच्छा लगना, यहाँ 'सँभलना'। *सु* = सो, वह। *जीवति०* = न जाने किस आशा पर जी रही है। *बिसास* = विश्वासघात। *बिसास०* = आपके विश्वास करने पर भी प्रेम का व्रत पालती है (प्रेम का निर्वाह करती है)। *छियौ* = छूई। *घनआनँद* = हे सुजान, आप कैसे आनंद के घन हैं कि आरंभ की सूखती स्थिति में सीचकर भी अब अपनी छाया से भी उसे छूते नहीं, अपनी छाया उसपर करते ही नहीं। *करी* = की। *करी०* = आपकी वाणी ने उसे पगली बना डाला है। *कहि०* = (जब) आपने उसे 'प्यारी कहकर पुकारा। *बनायकै०* = पर आपने उससे प्यार किया बनावटी।

तिलक—सखी दूती का कार्य करती हुई प्रिय के निकट प्रेमिका का विरह निवेदित करने गई है और उसके पूर्वानुराग की स्थिति का विवरण दे रही है। हे सुजान, आप कैसे आनंदघन हैं कि आपके प्रति आकृष्ट होकर वह प्रेमिका जब आपके दर्शनों के लिए सूख रही थी, लालायित हो रही थी तब आपने उसे दर्शन ही नहीं दिए प्रत्युत उसे आपने 'प्यारी' कहकर पुकारा। नेत्र ही नहीं, श्रवण भी तृप्त हो गए, मन भी तृप्त हो गया। वह इस तृप्ति के परिणामस्वरूप हरी भरी नहीं हुई। आपकी वाणी के वारि से उसके मन का सेचन तो हुआ, वह मन रससिक्त तो हुआ, पर आप उससे दूर हो गए। इसीलिए विरह के ताप से वह जलने लगी। जैसे कमलिनी की जड़ उखड़

जाए तो वह जल में रहती हुई भी सूर्य के ताप से जल जाती है वैसे ही वाणी के रस में रहती हुई भी वह आपके विरहताप से जलती रहती है। अब आप यदि छाया कर दें तो उत्ताप से होनेवाली जलन हट जाए। पर आप सुजान हैं, सब कुछ जानते हैं, यदि न भी जानते हों तो मेरे कहने पर तो जान ही गए, फिर भी आप आनंद के घन की छाया से भी उसका स्पर्श नहीं कर रहे हैं। दर्शन और श्रवण से पूर्ण तृप्ति नहीं हुई उसे। छायारूप में भी आपका स्पर्श हो जाए तो उसकी परितृप्ति हो सकती है। पर आपने तो उस समय जो कुछ भी कहा था वह बनावटी था। 'प्यारी' कहने में आपको सोचना चाहिए था कि इसमें 'प्यार' भी है (प्यार+ई=प्यारी)। पर वैसा कहने में वास्तविकता नहीं थी। वह कृत्रिम था। उसने उसमें वास्तविकता के दर्शन-श्रवण किए। मुझे यही नहीं समझ में आ रहा है कि जब आपकी हरकत इधर यह है कि टस से मस नहीं हो रहे हैं, मेरे इतना कहने पर भी, तो वह किस आशा पर जी रही है। आशा की होगी कि आपके पास कोई जाकर उसकी स्थिति बताएगा तो आप अवश्य विचलित होंगे। पर अब तो मेरी समझ में यही आ रहा है कि उसकी आशा में जिलानेवाला अमृत नहीं है। आपके विश्वासघात का विष ही है जिसे इस आशा को मार डालना चाहिए (बिसास = विष+आश)। पर आशा लगी है और प्रेम का व्रत ज्यों का त्यों बना है। किसी प्रकार का व्रत करने में किसी फल की आशा रहती है। प्रेम के व्रत में प्रिय की प्राप्ति ही फल हो सकती है, पर यहाँ तो प्रिय की प्राप्ति क्या, प्रिय की छाया की प्राप्ति भी नहीं है और छाया की प्राप्ति क्या उसका स्पर्श भी नहीं है। तो क्या विरहिणी ने फलासक्ति का भी त्याग कर दिया है—कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।

व्याख्या—*चितवै जिहि०*—उसका देखना इस प्रकार का है कि देखा नहीं जाता। देखने पर जान पड़ता है कि यह अब जिएगी नहीं। उसके देखने से यह भी व्यक्त हो रहा है कि उसका हृदय सँभाले नहीं सँभल रहा है। किसी प्रकार उसके हृदय को चैन नहीं मिल रहा है। किसी प्रकार भी किसी प्रकार की अनुकूलता उसे नहीं मिल रही है। उसके देखने में यह भी प्रकट हो रहा है कि वह किसी को देखना चाहती है। पर किसे, क्या

प्रिय को ! वह तो उसकी ओर उन्मुख ही नहीं हो रहा है, उसमें तो कोई शक्ति नहीं कि वह प्रिय के निकट जाकर उन्हें देखे और उनकी अनुकूलता प्राप्त करने का प्रयत्न करे। तो फिर सखी होने के नाते मैं ही कुछ करूँ। इसीलिए उसकी यह मरणासन्न स्थिति मुझे आपके पास प्रेरित करके ले आई है। *सु न जानति०*—मैंने बिचार कर देखा उसके जीने में क्या आशा लगी है, पता नहीं चलता। मरणासन्न व्यक्ति के प्राण कभी-कभी निकलते-निकलते भी नहीं निकलते। उसका कारण यही होता है कि उसके प्राण किसी आशा में अँटके रहते हैं। बहुधा किसी को देखना या किसी की बातें सुनना या किसी का वह नैकट्य चाहता है जो उसे प्रिय होता है। मुझे तो सामान्यतया यही प्रतीत होता है कि आपके दर्शन, आपकी वाणी के श्रवण और आपके सांनिध्य के अभिलाष से ही उसके प्राण नहीं निकल रहे हैं। पर यह उसने आकाशकुसुम के फूलने का ही अभिलाष किया है। आपने ही तो उसमें जिजीविषा उत्पन्न की थी। आपकी वाणी से वह आकृष्ट हुई। पर आपने उसके साथ विश्वासघात किया। जब आपने 'प्यारी' शब्द से उसे पुकारा तब आपको समझ लेना था कि इसमें उसे ही प्रेम नहीं करना है आपको भी उसके प्रति प्रेम करना है। आपके प्रेम की प्राप्ति तो उसे हुई नहीं पर उसके प्रेम का क्रम ज्यों का त्यों है। वह आपके विश्वासघात के विष को खाती रहती है (विषास = विष + आश = भोजन) कदाचित् इस विष ही के खाने से वह मुमूर्षु पड़ी है, वह आपके आने की किसी दिशा की ओर उन्मुख है (आस = आश = आशा = दिशा)। आप किसी न किसी दिशा से उसके निकट पहुँच जाएँगे यही कल्पना उसे जिलाए चल रही है। वह चातकी की भाँति प्यास से प्रपीड़ित पड़ी है, मर रही है, पर टुकुर-टुकुर किसी आशा के पाश में प्राण बँधे हुए हैं, निकलते नहीं। *घनआनँद कैसे०*—आप कैसे आनंद के घन हैं, आपका आनंद किस काम आएगा यदि आपने उसके ऊपर उसकी वृष्टि नहीं की। यह भी नहीं कहा जा सकता कि आपको बरसाने की कला या विधि नहीं ज्ञात है। या आपको उसकी वेदना का पता नहीं। विदग्धता तो वही कही जाती है जो बिना बताए

समझ ले। आप तो मेर बताने पर भी समझ नहीं रहे हैं। आशा बँधने के भी कारण हैं। आपने सूखती लता को सींचा था। वह तो आपके प्रथम दर्शन के समय से ही सूख रही थी। यदि उसे बचाना नहीं था तो फिर उसे सींचने ही क्यों गए। यदि आपने उसे 'प्यारी' न कहा होता तो वह यथासमय सूखकर समाप्त हो जाती। पर उस बोल ने उसे हरी कर दिया क्षण भर के लिए। पर ऐसा कहकर भी आप रुके नहीं। इतनी दूर चले गए कि प्रत्यक्ष शरीर का स्पर्श तो दूर रहा, आपकी छाया का स्पर्श भी नहीं रहा। यदि प्यारी कहकर आप कहीं रहते, भले ही उसके नैकट्य में न पहुँचते तो भी आपको देखकर ही वह ढारस रख सकती थी। न अपनी छाया से आपने उसे स्पर्श किया और न उसकी छाया (सुंदरता) आपको छू सकी। *करी बावरी*०—वह आपकी वाणी सुनकर पगली हो गई। पगली के नेत्र इस प्रकार किसी की ओर देखते हैं कि देखनेवाला देर तक देखने का साहस नहीं कर सकता। उसकी पलकें देर तक गिरती ही नहीं। ऐसी निर्निमेष आँखें देखकर भय लगता है कि न जाने यह क्या कर बैठे। मार दे, काट ले, बकोट ले आदि आदि। वह स्थिर भी नहीं है। पगली कभी कुछ कभी कुछ करती रहती है क्योंकि उसकी मानसिक स्थिति ठीक नहीं रहती। यह भी एक ही मुद्रा में देर तक नहीं रह पाती। इसे भी पगली की भाँति कोई वस्तु रुचती ही नहीं। पगली अव्यवस्थित जीवन के कारण दीन-हीन-क्षीण हो जाती है और बेठान की ठान ठनती रहती है। इसकी भी यही प्रक्रिया है। आपकी वाणी से जो 'प्यारी' शब्द निकला उसमें मधुरता थी। सुनने में यही उसे लगा कि इनके अंतःकरण का वास्तविक प्रतिबिंब इस वाणी में प्रतिबिंबित है। वह क्या समझती थी कि आपने बनावटी प्यार प्रदर्शित किया है। ससार में सामान्यतया किसी को 'प्यारी' कहनेवाला इस प्रकार का प्रेम नहीं किया करता। 'प्यारी' शब्द ही नहीं निकलता किसी बनावटी प्रेमवाले के मुख से। पर आपने उसे भी असिद्ध कर दिया।

पाठांतर—*सींचि न* = सोच न। *चितवै* = बितवै; चितयौ।

(कबित्त)

जाहि जीव चाहै सो तहीं पै ताहि दाहै
ताहि ढूँढ़त ही मेरी गति मति गई खोय है।
करौं कित दौर और रहौं तौ लहौं न ठौर
घर कों उजारि कै बसंत बन जोय है।
बनी आनि ऐसी *घनआनँद* अनैसी दसा
जीवौ जान प्यारे बिन जागें गयौ धोय है।
जगत हँसत यौं जियत मोहिं तातें नैन
मेरो दुख देखि रोवौ फिरि कौन रोय है। १३७।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय की कठोरता से व्यथित होकर अपने नेत्रों को संबोधन करके कह रही है कि हे नेत्र, दुःख में समानुभूति प्रकट करनेवाला कोई नहीं है। मेरे लिए कोई रोनेवाला नहीं है। इसलिए तुम्हीं मेरे दुःख में रोओ। फिर तो रोनेवाला कोई नहीं रहेगा। मेरी विवशता ऐसी है कि प्रिय को मेरा जीव चाहता है। पर सांत्वना देने या उन्मुखता दिखाने के बदले उसे जलाता है। यह (प्रिय) न जाने कहाँ चला गया है उसे ढूँढ़ने में मेरी बुद्धि और सामर्थ्य दोनों खो गए हैं। स्थिति ऐसी कि कहीं जाने का मार्ग नहीं मिलता। कहीं न जाकर यहीं रहूँ तो यहाँ भी कोई टिकने का स्थान नहीं है। जी तो यहाँ से इतना घबरा गया है कि वह घर को छोड़कर अरण्य में जा बसना चाहता है, जहाँ कोई न मिले। अरण्यरोदन करना चाहता है वह। ऐसी दशा हो गई है कि प्रिय के बिना यह जी भी बिना परिपूर्ण विकसित हुए, समाप्त सा हो गया। उधर संसार मुझपर हँसता, उसे रोना चाहिए था।

चूर्णिका—*जाहि* = जिस प्रिय को। *तहीं पै* = वहीं पर, मन के भीतर ही भीतर। *करौं०* = दौड़कर जाऊँ तो कहाँ। *और ०* = यदि जहाँ की तहाँ पड़ी रहूँ तो यहाँ रहने का स्थान नहीं (चारो ओर वेदना ही वेदना छाई है)। *जोय* = देख-भालकर। *घर कों ०* = अब (जी) घर को उजाड़कर बन में कोई स्थान खोजकर जा बसना चाहता है। इस जलते शरीर में रहा नहीं जाता। *अनैसी* = (अनिष्ट) बुरी, बेढब। *जीवौ* = जीव भी। *जान ०* =

प्रिय सुजान के बिना, उनके वियोग में । *जागैं०* = जागता हुआ भी सो गया है (जीव होते हुए भी बेकल है, निर्जीव सी हो रही हूँ) । *जगत* = संसार, जगता हुआ । *जगत०* = (इस प्रकार जगते हुए भी सोते मेरे जी की दशा देखकर जगत् जगता हुआ संसार) मुझ पर हँसता है । मेरी व्यथा का अनुभव करनेवाला और मेरे मर जाने पर मेरे लिए रोनेवाला इसी से कोई नहीं है, सब हँसनेवाले ही हैं । अतः हे मेरे नेत्र, तुम्हीं मेरा दुख देखकर रो लो, फिर तो कोई रोएगा ही नहीं ।

तिलक—विरहिणी अपनी दशा का विवरण देती हुई अपने नेत्रों से रोने को कह रही है । नेत्र भी अत्यंत वेदना के कारण आँसू नहीं बहा रहे हैं । इसी से वह कहती है कि जब संसार में कोई मेरा साथ नहीं दे रहा है, कोई समानुभूति नहीं दिखा रहा है तब कम से कम तुम तो ऐसा न करो । देखो मेरी कैसी विलक्षण स्थिति है । जिस प्रिय को मेरा जी चाहता है, मन से चाहता है, वह प्रिय बदले में चाहे यही उचित है, पर होता उलटा है । वह मन में आता है तो मन को भीतर ही भीतर जलाता है । इधर बाहर उसे न पाकर मैं उसे ढूँढने का प्रयास करती हूँ । पर वह मिलता कहाँ है । उलटे मेरी गति (शक्ति) और मति (बुद्धि) भी खो जाती है । न शक्ति ही है और न बुद्धि ही कोई काम कर पाती है । तब मैं अब कहाँ जाऊँ । जाने के लिए कहीं अवकाश नहीं मिलता । यदि यहीं पड़ी रहूँ तो यहाँ भी रहने का स्थान नहीं है । सर्वत्र वेदना छाई है और सर्वत्र असमानुभूति ही दिखती है । उधर जी की स्थिति यह है कि वह यहाँ से जाने को इतना उतावला है और उसे ऐसी हड़बड़ी है कि वह सारे घर को उजाड़े डाल रहा है । यहाँ रहना ही नहीं है तो इसे बना ही रहना क्यों रहने दे । शरीर और मन दोनो उजड़ गए हैं शिथिल, बेकार और उदास हो गए हैं । जी चाहता है कि जहाँ रह रहा हूँ वहाँ जब कोई मेरे प्रति समवेदना दिखानेवाला ही नहीं तब चलो वन में कहीं ऐसा स्थान खोज कर रहूँ जो निर्जन हो । ऐसी बुरी हालत हो गई है कि उस जी में कल्पनाएँ तो तरह-तरह की उठती हैं पर आनंदघन सुजान प्रिय के समीप न होने के कारण कुछ ऐसा अशक्त हो गया है कि जागता हुआ भी सोया सा है । जी तो रहा है, पर मरा सा

है। यहाँ से वन भी नहीं जा पा रहा है। उधर संसार जो दूसरे के प्रति दुःख में दुःखी होने के बदले सुखी होता है या जिसे किसी की रुलाने वाली दशा पर हँसी आती है वह मेरे इस प्रकार जीते रहने पर हँस रहा है। इस प्रकार न तो प्रिय मेरे दुःख से दुःखी है न संसार। अब रह गए नेत्र, सो हे नेत्र, मेरा दुःख देखकर तुम्हीं रो दो, रो लो, फिर तो कोई मेरे लिए भविष्य में मर जाने पर रोनेवाला मिलेगा ही नहीं।

व्याख्या—*जाहि जीव* ०—सामान्य नियम यही है कि जो जिसको चाहता है उसको वह भी चाहता है। यदि चाहता नहीं तो कम से कम जलाता नहीं है। यदि जलाने का अवसर आए भी तो बहुत दिनों में आता है, वहीं का वहीं नहीं जलाता फिर जो जलाया जाता है वह जलाने-वाले की खोज में प्रेमवृत्ति से प्रवृत्त नहीं रहता। यदि कभी ऐसा करना भी पड़े तो इस पराकाष्ठा की ढूँढ़ नहीं होती कि गति-मति खो जाए। प्रिय इतने पर भी प्रभावित न हो तो उसकी अभाग्य की रेखा कितनी मीठी है, कहा नही जा सकता। जब किसी को कोई चाहता है तब चाहक का हृदय द्रवित होता है। उसमें सरसता-सरलता होती है और चाहे जानेवाला आग भी बरसाने लगे तो इस जल और आग के संयोग से, सांनिध्य से घनघोर घटा और फिर अंधकार ही अंधकार तो रह जाएगा।. उस अंधकार में क्या कोई ढूँढ़ा जा सकेगा। बुद्धि का काम ही है विमर्श करना, खोज-ढूँढ़ और निश्चय। ढूँढ़ी जाती है खोई वस्तु। जो वस्तु खोजने जाता है वही खोने जाने योग्य नहीं हो जाता। पर यहाँ हो यही रहा है। *करौं कित*०—मति (बुद्धि) ही कठिनाई में रास्ता निकालती है और गति ही (शक्ति ही) से कोई रास्ते पर चलता है। पर जब दोनों न हों तब फिर कोई जाए तो कहाँ जाए। अंधकार से निकलने का मार्ग ही कहीं मिलता और जो कुछ मार्ग का अंदाज होता है उस पर चला नहीं जाता। यदि यह सोचूँ कि यहीं पड़ी रहूँ तो यहाँ अंधकार में एक तो स्थान सूझता ही नहीं दूसरे न जाने कौन-कौन वस्तुएँ इस अँधेरे में साँप-बिच्छू-गोजर आदि आ गई है कि पैर रखने की भी जगह नहीं है। इस घर को खंडहर होने दें और जाकर वन में बसे ऐसा विचार होता है। प्रवृत्तिमार्ग से निवृत्तिमार्ग की ओर वृत्ति जाती

है। *बनी आनि०*—कभी तो मेरी दशा घने आनंद की थी पर संप्रति वह ऐसी बुरी हो गई है कि कभी ऐसी नहीं थी। जी भी सुजान आनंदघन को न पाने से जगता भी सोया है। 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी'। यदि जागता ही रहता तो इसे साधक के रूप में समझा जाता पर योगसाधना से वियोगसाधना भिन्न है। वहाँ जागते हैं सोते नहीं यहाँ जागते भी सोते हैं। *जगत हँसन०*--यह भी जीना कोई जीना है। भयंकर विवशता और दीनता की स्थिति में मुझे देखकर संसार मेरी खिल्ली उड़ाता है। जो दशा मेरी है उसमें कोई जीता कहाँ है। संसार का हँसना मेरे दुःख को बढ़ानेवाला है। तुम नयन हो, इस अंधकार में से ले जाने का, निकालने का काम तुम्हीं कर सकते हो। नेत्र हँसने का काम भी करते हैं और रोने का भी। पर रोने का काम उनका वास्तविक कार्य है। देखना और रोना ये दो प्रधान कार्य हैं। दर्शन, सुदर्शन, प्रियदर्शन न होने पर फिर रोदन ही तो बच रहा।

पाठांतर—कै = सो। *जोय* = गोय।

(सवैया)

घनआनँद जीवन रूप सुजान हौ प्रान पपीहा पनैई पढ़े।
दिसि चाहि दुहूँ पै अचंभो महा करियै कहा सोच प्रबाह बढ़े।
न कहूँ दरसौ बरसौ बिष बारि सु ये अपराध गढ़े न कढ़े।
कित कौं नित ही इत याहि दहौ जु रहौ चित ऊपर चोप चढ़े।१३८।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के वियोग की दाहकता का और अपनी वृत्ति का विवरण दे रही है। उसका कहना है कि यदि प्रिय में जीवन (प्राण और जल) ही जीवन है; जीवनता है, आनंदघनता है तो प्रेमी में भी चातकता है। साध्य के अनुरूप ही साधक की साधना भी है। दोनो पक्ष समान हैं। फिर भी आश्चर्य है कि जहाँ प्रिय के पक्ष में आनंद ही आनंद है वहाँ प्रेमी के पक्ष में विषाद ही विषाद है। विषाद के प्रवाह में कुछ करते नहीं बनता। अचंभा यह भी है कि घनआनंद प्रिय के दर्शन नहीं होते, मेघ दिखाई नहीं देता। पर बरसता बराबर है। अमृत का मेघ होकर भी विष का जल बरसता है। विष की वृष्टि से प्रेमी को मर जाना चाहिए। पर उसके प्राण न जाने

कैसे अपराधी हैं कि इतने पर भी निकलते नहीं। मेघ नेत्रों को तो दिखाई नहीं देता, पर चित्त में वह निरंतर विराजमान रहता है। वहाँ रहकर वह अपनी सरसता से विरह का दाह दूर नहीं करता प्रत्युत और भी जलाता है। वह ऐसा क्यों करता है समझ में नहीं आता।

चूर्णिका—*जीवन*=प्राण; जल। *रूप* = मय। *पपीहापन* = चातकता, चातकपन। *घन०* = हे सुजान, यदि आप जीवन-रूप ही हैं तो मेरे प्राणों ने भी पपीहापन ही पढ़ा है। *दुहूँ दिसि* = दोनो ओर (अपनी और आपकी)। *चाहि* = देखकर। *करियै०* = क्या करूँ। *सोच०* = सोच के प्रवाह बढ़ते ही जाते हैं। सोच बढ़ता ही जाता है। *न कहूँ०* = आप दिखाई तो कहीं नहीं पड़ते पर विष का जल (निरंतर) बरस रहे हैं। *अपराध०* = अपराधों से बने हुए, अपराध की मूर्ति, अत्यंत अपराधी। *सु ये०* = (इतने पर भी) ये मेरे भारी अपराधी प्राण निकले नहीं। *कित कों* = क्यों, किसलिए। *याहि* = इसे। *कित कों०* = यदि आप चित्त पर चाव के साथ चढ़े रहते हैं (मेघ होकर छाए रहते हैं) तो इसे जलाते क्यों हैं।

तिलक—हे सुजान, यदि आप आनंद के घन हैं और जीवनमय हैं तो आपका पपीहा यह मेरा प्राण भी पपीहापन ही पढ़ा हुआ है। आपमें यदि घनता और जीवनदायकता है तो आपके प्रेमी में भी चातकता ही चातकता है। प्रियरूप में आप जितने ही छविमान् और सुखद हैं उतना ही आपका प्रेमी केवल आपके ही रूप को देखनेवाला अनन्य प्रेमी है। पर अचंभा यह है कि दोनो ओर देखने पर अर्थात् आपकी रूपवत्ता और आकर्षकता तथा अपनी चातकव्रत साधना में किसी प्रकार की विषमता न होते हुए भी यह क्या विषमता है कि आपके यहाँ तो आनंद के प्रवाह बढ़ रहे हैं और मेरे यहाँ सोच के प्रवाह बढ़ रहे हैं। मेरे व्रतपालन में कोई त्रुटि दिखाई नहीं देती, फिर भी पपीहेपन का परिणाम मेरे लिए उलटा है। ऐसी स्थिति में क्या किया जाए यही समझ में नहीं आ रहा है। किस प्रकार व्रत करूँ कि ऐसा न हो। इधर प्राणों की बात भी निराली है। आप दिखाई तो पड़ते नहीं, पर बरसते बराबर हैं। वह भी विष ही विष बरस रहे हैं। इस

विष का प्रभाव प्राणों पर यही होना चाहिए था कि ये शरीर छोड़कर निकल जाते। पर वह भी नहीं हो रहा है। न जाने किन भयंकर अपराधों से ये प्राण गढ़े गए हैं कि इतने विष में पड़कर भी निकलते नहीं। फिर यह भी क्या विलक्षणता है कि आप बड़े उत्साह से चित्त पर ही चढ़े रहते हैं, अपनी सारी शीतलता लिए दिए वहाँ रहते हैं पर नित्य ही इसे न जाने क्यों जलाते रहते हैं। विष से प्राण मरते नहीं और आपकी शीतलता के संपर्क में रहने पर भी चित्त न जाने क्यों जलता ही रहता है।

व्याख्या—*घनआनँद*०—आप यदि जीवनमयता में सुजान हैं, आपने जीवनदायकता का पाठ पढ़ रखा है मेरे तो प्राणों ने भी पपीहेपन का पाठ पढ़ा है। आप सु-जान तो यह प्राण है। जो पढ़ा है वह प्राणपण से पढ़ा है। बिंव-प्रतिबिंब रूप से स्थिति है। *दिसि चाहि*०—देखा दोनो ओर केवल आपकी ओर या केवल अपनी ओर नहीं। सोच का प्रवाह तो किसी 'घन' (मेघ) की वृष्टि से ही हो सकता है। कितना भी बादल बरसे पपीहा तो स्वाती का ही जल चाहता है। पर प्रवाह आपकी ओर से कहीं आ रहा है यहाँ तो मुझमें ही सोच का, चिंता का प्रवाह उमडा पड़ रहा है। वह क्या स्थिति है मैं ही बादल हो गई। आप ही में पपीहापन हो गया। इस सोच-प्रवाह को आप ग्रहण ही कहाँ कर रहे हैं। आपने उसका परित्याग कर दिया है। *न कहूँ*०—दिखाई न देकर आप ही विषवारि बरसा रहे हैं वही सोच प्रवाह का रूप धारण करता है। यह बाढ़ ऐसी है कि न जाने क्या न बह जाता, पर प्राण फिर भी नहीं बहा, नहीं निकला। अपराध की शिला में ही ये प्राण बँधे रह गए। किसी प्रकार उस प्रवाह के झोंके में वे नहीं निकले। 'अपराध' का अर्थ होता है कि जो अपने को उचित कर्म करना हो उसे न करे। या जो दंडयोग्य कर्म हो उसे करे। मेरे द्वारा दोनों प्रकार से अपराध हुआ। न उचित कर्म ही किया और न दंडयोग्य कर्म के करने से विरत हुई। *कित कौं नित*०—चित्त पर चढ़े हैं, चित्तरूपी आकाश में छाए हैं। फिर भी उसे जलाते हैं। यह भी नहीं सोचते कि यदि यह जल जाएगा तो टिकने का स्थान ही न रह जाएगा। मेरा मन जिस प्रकार प्रिय को चाहता है उस प्रकार उसे चाहनेवाला दूसरा प्रेमी न मिलेगा।

पाठां०—*करियै* = कहियै ।

जिनकों नित नीकें निहारति हीं तिनकी अखियाँ अब रोवति हैं।
पल पाँवड़े पायनि चायनि सों अँसुवान की धारनि धोवति हैं।
घनआनँद जान सजीवनि कौं सपने बिन पाएँई खोवति हैं।
न खुली मुँदी जानि परैं कछु ये दुखहाई जगे पर सोवति हैं।१३६।

प्रकरण—विरहिणी आँखों की व्यथा का वर्णन कर रही है। जिन प्रियं को संयोग में नित्य भली भाँति देखती थीं उन्हें वियोग में न देख पाकर आँख रोती हैं। प्रिय के चरणों के लिए चाव से पलकों के पाँवड़े बिछाकर उन चरणों का ध्यान करके आँसुओं की धारा से उन्हें धोती रहती हैं। प्रिय स्वप्न में भी नहीं दिखाई पड़ते। उन्हें खोने की अनुभूति फिर भी है। इनका खुलना मुँदना कुछ जान नहीं पड़ता। जगते में सोती हैं।

चूर्णिका—*नित* = नित्य। *नीकें* = भली भाँति। *निहारति०* = देखा करती थीं। *तिनकों* = उन्हीं प्रिय के लिए। *पल०* = पलकरूपी पाँवड़ों को। *पायनि०* = प्रिय के चरणों के दर्शन की लालसा से पलकरूप पाँवड़ों को बड़े चाव से आँसुओं की धारा से धोती रहती हैं। *सपने०* = स्वप्न में प्रिय के दर्शन होते हैं, पर उन्हें प्राप्त नहीं कर पातीं, पर स्वप्न में दर्शन देकर चले जाने से ही वैसी वेदना होती है जैसी प्रत्यक्ष में चले जाने से होती। *मुँदी* = दबी। *दुखहाई* = दुःख की मारी। *जगे०* = जागती हुई भी सोती हैं। खुली तो हैं पर किसी पदार्थ को देखती नहीं हैं, अतः सोई हुई हैं।

तिलक—विरहिणी अपनी आँखों की दुर्दशा का वर्णन कर रही है। मेरी इन आँखों की स्थिति यह है कि जिन प्रिय को नित्य ही ये भली भाँति देखा करती थीं, जी भर जिन्हें निहारती रहती थीं अब वियोग में उनके दर्शन न पाकर उनके लिए निरंतर रोती रहती हैं। संयोग में खुली रहती थी। वियोग में मुँदी हैं और आँसू बरसा रही हैं। पहले उनके मुख के दर्शन करती थीं अब पलकों को उनके ध्यान में आए पैरों के पाँवड़ों के रूप में करके उन्हें आँसू की धार से चाव से धोती रहती हैं। इन पलकों में कोई मालिन्य तो नहीं आ गया कि प्रिय के चरण इनमें आते नहीं, इसी से उन्हें केवल झाड़-पोंछकर

नहीं मजे में धारासंपात से धोकर स्वच्छ रखती हैं। बड़े चाव से ऐसा करती हैं कि प्रिय के चरण ही इनमें दिखाई पड़ जाते। पर वे सजीवन सुजान आनंदघन को स्वप्न में भी पाती नहीं; उनकी झलक दिखती है, पर वे मिलते नहीं। जो मिला ही नहीं, उसके खो जाने की बात ही नहीं उठती। पर उनके स्वप्न में न मिलने पर पीड़ा वैसी ही होती है जैसे प्रत्यक्ष पाने के अनंतर उनके न मिलने से होती। इनका खुलना और मुँदना कुछ समझ में नहीं आता। ये दुख से आहत खुली हैं तो मुँदी हैं और मुँदी हैं तो खुली हैं। खुली होकर मुँदी हैं इसलिए कि खुली तो हैं प्रिय के दर्शनों के लिए, पर उनके दर्शन न होने से और किसी पदार्थ को देखती ही नहीं। मुँदी रहने पर प्रिय के ध्यान में लीन हो जा सकती हैं, तब उन्हें खुली रहने पर जो दिखता वही मुँदी रहने पर दिख जा सकता है। ये जगती हैं, इसलिए कि जिसे निद्रा कहते हैं वह तो इनको मिलती नहीं। इससे जागरण होने पर भी इनकी स्थिति सोने की है। निद्रा से सोने पर प्रत्यक्ष जगत् नहीं दिखता, इन्हें वह खुली रहने पर भी, जागने पर भी नहीं दिखता।

व्याख्या—*जिनकों नित०*—जिन प्रिय को आनंद के आँसुओं के व्यवधान के विना देखती थीं। प्रिय को देखने में आनंद के आँसू पूर्वानुराग की स्थिति में आते हैं। पूर्वराग भी वियोग का एक विभाग ही होता है। प्रिय के वियोग की पूर्वराग वाली स्थिति समाप्त हो चुकी थी। उनका संयोग प्राप्त हो चुका था। उन्हें भलीभाँति ही नहीं बिना किसी व्यवधान के देखने का अवसर आ चुका था। उनके लिए निरंतर आँसू बह रहे हैं। केवल रोना ही उनका कार्य रह गया है। पर इस रोने से जो आँसू निकलते हैं उनका भी प्रिय के ध्यान में उपयोग किया जाता है। *पल पाँवड़े०*—प्रिय के जाने के मार्ग पर पलकें पावड़ों की भाँति बिछी हैं और आँसुओं की धारा उन्हें धोती रहती है। गए हुए चरण इन्हीं पर से फिर लौटें। इससे चाव से धो रही हैं। किसी प्रकार का दु:खजन्य शैथिल्य धोने में नहीं है। साथ ही यह आशा भी है कि वे अवश्य लौटेंगे। प्रत्युत ध्यान में आए हुए प्रिय के जाते हुए धूल भरे चरणों को भी वे आँसू धो देते हैं। प्रिय के चरणों के प्रत्यक्ष दर्शन ही मिल सकें तो और कुछ नहीं चाहिए। पर

उन चरणों के भी वास्तविक दर्शन होते कहाँ हैं। *घनआनँद जान०*—पता नहीं कि प्रिय में जो तीन विशेषताएँ हैं उनका कोई प्रभाव मुझपर क्यों नहीं होता। एक तो वे आनंदघन हैं। आनंद ही आनंद है। वहाँ पर मुझे विषाद ही विषाद मिल रहा है। वे सुजान हैं। ज्ञानमय हैं। पर मेरी अज्ञान की स्थिति है। वे सजीवन हैं। जिलानेवाले हैं। पर यहाँ मरने की ही नौबत है। जिनकी प्रत्यक्ष सत्ता है जो सजीवन या सत् हैं जो सुजान या चित् हैं और जो स्वयम् आनंदघन हैं, जो सच्चिदानंदघन हैं वे ही तो मूल सत्ता हैं। स्वगत, सजातीय, विजातीय भेदों से रहित जिनकी एकमात्र सत्ता है वे प्रत्यक्ष क्या स्वप्न में भी नहीं मिलते। स्वप्न में भी वे मिलते और अपनी अनुकूलता प्रदर्शित करते मिलते तो भी संतोष हो जाता। पर उन्हें ही नहीं खोया, उनके स्वप्न भी खो गए हैं। *न खुली मुँदी०*—इन आँखों का खुलना जागते समय प्रिय के दर्शन के अभाव में बेकार है। सोते समय आँखें मुँदती हैं। तो स्वप्न में भी वे नहीं मिलते, स्वप्न ही नहीं आते तो इनका मुँदना भी बेकार है। इनका न खुलना समझ में आया न मुँदना ही। सच पूछिए तो जिसे सोना कहते हैं वह तो इन आँखों के निकट कभी आया ही नहीं। दिन-रात उन्निद्र स्थिति ही इनकी रहती है। पर इनका यह जागरण भी शयन के ही समान निष्पंद है। योगी जागकर कुछ पा लेता है पर वियोगी जागकर भी कुछ नहीं पाता।

पहिलें पहचानि जु मानि लई अब तौ सु भई दुःखमूल महा।
इत के हित बैर लियौ उत ह्वै करि ज्यौहरि ब्यौहरि लोभ लहा।
घनआनँद मीत सुनौ अरु ऊतर दूर तें देहु न देहु हहा।
तुम्हैं पाय अजू हम खोयौ सबै हमैं खोय कहौ तुम पायौ कहा।१४०।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के उस आचरण पर उपालंभ करती हुई जिज्ञासा करती है कि मुझे इस प्रकार त्याग देने से आपका क्या लाभ हुआ। आरंभ में प्रिय ने जिस प्रकार देखा उससे यही प्रतीत हुआ कि उन्होंने मुझे अपनाया। यह प्रतीति ही दुःख दे रही है। यह पहले जो अनुकूलता प्रतीत हुई वह वियोग से प्रतिकूलता में परिणत हो गई। प्राणों को लेने के देने पड़ गए। फिर भी हे प्रिय, आपसे एक पृच्छा है आप उसका उत्तर दूर

रहने से द या न दें, पर कहे बिना रहा नहीं जाता कि आपको पाकर मैंने मेरे पास आपके अतिरिक्त जो भी था सबका परित्याग कर दिया, पर आपने मुझे इस प्रकार त्याग रखा है इसमें आपको क्या मिला।

चूर्णिका—*मानि०*=अंगीकार की। *इत०* = इधर के प्रेम का। *उत०* = उधर आकर वैर निकालता है। *ज्यौहरि व्यौहरि* = जी हरण करने के व्यापार में लाभ का लोभ करना [अथवा ज्यौहरिव्यौ० = जी हरण करना। हरि = हे हरि]। *ऊतर* = आप दूर रहकर भले ही उत्तर दें या न दें। *हहा*= हाय। *अजू*=अजी। *तुम्हैं०* = आपको पाकर तो मैंने सब कुछ खो दिया। *खोय* = मिटाकर, नष्ट करके। *हमैं०* = पर मुझे मिटाने से आपका क्या लाभ हुआ।

तिलक—विरहिणी अपनी वृत्ति पर पश्चात्ताप कर रही है कि प्रिय ने जिस समय मेरे प्रति अनुकूलता दिखाई उस समय मैंने यही समझा कि उन्होंने मुझे पहचानकर अंगीकार कर लिया मुझे अपना लिया। पर उनके मुझे त्याग कर चले जाने पर यह समझ में आया कि ऐसा समझना भूल थी। उस समय की यह समझ ही दुख की जड़ हो रही है और भारी पीड़ा दे रही है। यहाँ रहते उनकी जो सुमुखता प्रतीत हो रही थी वही उनके अन्यत्र चले जाने से वहाँ से मुझसे वैर निकाल रही है। उसने तो दूसरे के प्राण हरने के व्यापार में लाभ उठाने के लोभ में ऐसा किया था। मुझे क्या पता था कि उनकी सुमुखता इसी प्रकार लोगों का जी लेने का व्यापार ही करता है। उसे इसी में लाभ होता है कि मेरे लिए किसी के प्राण जाएँ, कोई मर मिटे। अस्तु। हे आनंदघन मित्र, मेरी एक जिज्ञासा है, एक प्रश्न है। इसे अवश्य सुन लीजिए। रहा उसका उत्तर सो आप उत्तर दें, या न दें। दूर हैं आप हाय ! अजी, आपको पाकर तो मैंने सब कुछ खो दिया, केवल आप ही मेरे पास रह गए और सब कुछ सुख-संपत्ति समाप्त हो गई। पर इस प्रकार मुझे मिटा देने में आपका क्या लाभ हुआ। कौन सा सुख या संपत्ति मिल गई।

व्याख्या—*पहिलें पहचानि०*—जो स्थिति पहले थी वह पीछे नहीं रही यही तो इसमें दिखाया गया है। पहले तो पहचान थी, पीछे अन-

पहचान हो गई। पहले मानना था, अब अवमानना है। दुःख की जड़ अतीत में ढकी, छिपी पड़ी है उसे निकाल फेकना भी संभव नहीं है और जड़ बहुत गहराई तक चली गई है। यदि संभव माना भी जाए तो बहुत समय लगेगा। जड़ों का फैलाव भी इतना है कि सारी जड़ें निकल सकेगी कहा नहीं जा सकता। यही उसके 'महान्' होने का संकेत है। सुख ही दुःख में परिणत हुआ है। यह नहीं कि सुख ज्यों का त्यों है और दुःख मिल गया है। इस दुःख के मूल में वह सुख ही है। वह पहचान का मान लेना है। *इत के हित०*—पहले जो हित था, सख्य था, मैत्री थी वही शत्रुता में परिणत हुई है। यहाँ जो 'हित' था उसी ने इधर जाकर 'अहित' किया है। ऐसा नहीं कि 'हित' अपने स्थान पर है और वैर अपने स्थान पर। प्राणों को ले लेने के व्यापार में लाभ समझकर ही 'हित' ने दूसरा रूप धारण किया। जो 'हित' प्रिय की ओर से दिखा था वह तो व्यापार है जिसमें अपने लाभ और हानि का विचार रहता है। दूसरे का क्या हो रहा है इसकी चिंता ही नहीं रहती। *घनआनँद मीत०*—पर सचाई यह है कि उनके द्वारा प्रदर्शित प्रेम में जिस प्रकार सचाई नहीं है उसी प्रकार प्रिय ने जो यह समझ रखा है कि मुझे लाभ हो रहा है वह भी भ्रम ही है। यद्यपि प्रिय के प्रेम ने वैर किया है तथापि मैं तो उन्हें अब भी मित्र ही समझती हूँ और आनंदघन ही मानती हूँ। इसलिए यह आशा तो है ही कि वे मेरा प्रश्न अवश्य सुन लेंगे। रहा उसका उत्तर। सो मेरी दृष्टि में उत्तर कुछ है ही नहीं। फिर दूरी भी है, साधन यहाँ तक आने का चाहिए। मनमाने हैं प्रिय, प्रश्न का उत्तर देने की परवा न करें। इससे उत्तर मिले या न मिले। प्रश्न भर सुन लेने से उत्तर भी मिला ही है। *तुम्हैं पाय०*—आप तो व्यापार में पाने का ही विचार रखते हैं इसलिए मुझे प्रश्न करना पड़ रहा है। मैंने हानि की सर्वस्वहानि की भी चिंता नहीं की। बस आपको पाया, सब कुछ पाया और उधर आपको मेरी हानि तो पसंद आई पर मिलने को क्या मिला। मेरी समझ में कुछ नहीं। पर खो दिया आपने ऐसे प्रेमी को जो अनन्य है, अन्यतम है।

पाठांतर—*इत* = इन। *करि* = बित। न देहु = सुजान।

सुधि होती सुजान सनेह की जौ तौ कहा सुधि यौं बिसरावते जू।
छिन जाते न बाहिर जौ छल छूटि कहूँ हिय भीतर आवते जू।
घनआनँद जान न दोष तुम्हैं गुन भावते जौ गुन गावते जू।
कहिये सु कहा अब मौन भली नहीं खोवते जौ हमैं पावते जू।१४१।

प्रकरण—प्रिय के प्रति विरहिणी का उपालंभ है कि आपने मुझे पहचाना ही नहीं यदि आप पहचान लेते तो मुझे इस प्रकार न छोड़ते। आपने न तो प्रेम को पहचाना, न हृदय को पहचाना, न गुण को पहचाना और न मुझे पहचाना। यदि स्नेह का स्मरण रहता तो विस्मरण न होता। यदि हृदय में लीन होते, हृदय से बँधते तो फिर बाहर छूटकर न निकल जाते। यदि आपको गुण रुचते तो आप उन गुणों को ही गाते। इस प्रकार उनका परित्याग न करते। मुझे खोने का कारण यही है कि आपने मुझे समझा ही नहीं, पाया ही नहीं।

चूर्णिका—*सुधि* = ध्यान, विचार। *सुधि होती*० = यदि आपको प्रेम का ध्यान होता तो आप मेरी सुध इस प्रकार भूल न जाते। *जौ* = जो, यदि *छूटि* = छोड़कर। *छिन*० = आप क्षणभर के लिए बाहर न होते (मेरे ही अनुकूल आचरण करते), यदि कहीं छल छोड़कर मेरे हृदय में आए होते। *दोष* = स्नेह को तोड़ना। *गुण* = गुण की भाँति। *जौ* = यदि। *गुन* = मेरे प्रेम के गुण। *न दोष*० = यदि आप प्रेम के गुण गाते होते तो आपको दोष गुण की भाँति अच्छे न लगते। *कहियै*० = क्या कहूँ। *नहीं*० = मुझे इस प्रकार मिटाते न। *जौ हमैं*० = यदि आप मेरे हृदय के प्रेम को जान पाते।

तिलक—हे प्रिय सुजान, आपसे यही संभावना थी कि आप विचार-पूर्वक कार्य करते हैं। पर ऐसा नहीं दिखता। यदि आप मेरे स्नेह का कुछ भी विचार करते तो मेरी सुधि इस प्रकार न भूल जाते। यही क्यों, मेरा तो विश्वास है कि आपने छल को छोड़ा नहीं है। यदि छल को छोड़ कर हृदय में प्रवेश करते तो फिर आपको उसके बाहर जाने की इच्छा न होती। यदि हे आनंदघन, आप प्रम का गुण गाते अर्थात् उन्हें मानते, सकारते तो तुम्हें दोष गुण के ऐसे कभी न रुचते। आपने गुणों का गुण पहचाना

ही नहीं। क्या कहें, अपने विषय में कुछ कहना ठीक नहीं, चुप रहना ही श्रेयस्कर है। पर इतना कहना ही पड़ता है कि यदि कहीं आप मुझे पा लेते, मेरी वास्तविकता से परिचित हो जाते तो फिर इस प्रकार मिटाने की न सोचते।

व्याख्या—*सुधि होती*०—स्नेह (तैल) जब स्मृतिवर्धक होता है तब मानसिक स्नेह (प्रेम) का फिर क्या कहना। उसके प्रयोग से उसके ध्यान से विस्मरण क्यों होने लगा। जिस प्रकार आपने विस्मरण किया उस प्रकार तो कभी न करते। 'सुध' बुध में ही आप नहीं हैं इसी से तो इस प्रकार का मेरे प्रति आचरण है। सुध आपमें है ही नहीं, होती तो ऐसा न हो सकता। दूसरे आपने कभी प्रवेश ही नहीं किया हृदयप्रदेश में। *छिन जाते*०—यदि आप हृदय में धँसते, अपने या मेरे तो फिर उस हृदय को त्यागते ही नहीं। आप तो 'ज्ञान' 'बुद्धि' के ही फेर में रहते हैं जहाँ स्वार्थसाधन की वृत्ति होती है। पदार्थबोध भी हृदय की प्रेरणा से ही हो सकता है। पर आप तो बुद्धि के चक्कर में छल को छोड़ते नहीं और यदि कोई छल को त्याग कर निश्छल न हो तो फिर वह हृदय में धँस नहीं सकता। उधर हृदय ऐसा है कि यदि कोई वहाँ पहुँच जाए तो जितनी दूर आप चले गए हैं उतनी दूर जाने की तो बात ही क्या, हृदय से निकलने का नाम न लेते। इतने समय से आप दूर हैं, और तब एक क्षण के लिए भी हृदय को न छोड़ते। *घनआनँद जान*०—आप ज्ञानमूर्ति और आनंदघन हैं—गुणों से परे हैं। यदि प्रेम के इन गुणों को ठीक से आप ऐसे प्राप्त करते कि उनमें लीन हो जाते तो फिर दोष की ओर कभी देखते भी न। उन दोषों को गुण समझने का भ्रम भी न होता। *कहियै सु कहा*०—यहाँ तक तो आपके संबंध में कहा, अब अपने विषय में कहना है। चुप रहना ही ठीक है पर मुँह खोलना पड़ता है। आपमें विवेक होता, हृदय होता, सदसत् का बोध होता तो क्या ही अच्छा होता। यह सब होता या न होता, यदि केवल आप मुझे पा जाते तो पता चलता कि मेरा मूल्य-महत्त्व क्या है। पाने पर फिर आप मुझे इस प्रकार खोने की कौन कहे, खोने की कल्पना भी न करते।

व्याकरण—ब्रजभाषा में मौन शब्द स्त्रीलिंग है।

बेहोशी । *अधिकाति०* = बढ़ती ही जाती है । *मुरझानि०* = चुड़ैल के लगने पर जितनी बेहोशी होती है उसकी सीमा होती है, पर तेरे कारण हुई बेहोशी बढ़ती ही जाती है उसकी कोई सीमा नहीं । *चेटक* = जादू । *चरित* = खेल । *दूरि ही०* = चुड़ैल पास आकर कष्ट देती है, पर तू दूर से ही जादू के से करोड़ों खेल किया करती है । *उपचारनि* = उपचार करने की । *हेरत* = देखती ही । *हिराति०* = खो जाती है । *मति* = उपचार करने की बुद्धि भी देखते ही खो जाती है । चुड़ैल का उपचार करनेवालों (ओझों) की बुद्धि देखते ही बेठिकाने नहीं होती । *गति* = स्थिति, ढंग । *अलगी* = न लगी हुई । तू जब लगती है तब तो कष्ट देती ही है, न लगने (ध्यान में आने पर भी कष्ट देती है । चुड़ैल लगने पर ही कष्ट देती है ।

तिलक—ऐ सुजान प्रिये तेरे रंगढंग चुड़ैल से भी चौगुने क्या सौगुने हैं । उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता । तू लगी रहती है तब तो कष्ट देती ही है पर न लगने रहने पर (ध्यान में आकर) भी कष्ट देती है । वह तो तभी कष्ट देती है जब उसकी छाया किसी प्रकार छू जाए । फिर वह नेत्रों में आकर छा जाती है । तू तो नित्य अलग है तेरी छाया के भी दर्शन दुर्लभ हैं, फिर भी कष्ट उसके लगने से बहुत अधिक हो रहा है । केवल नेत्रों में ही नहीं मेरे रोम रोम में तू छाई हुई है, रोता पड़ा रहता हूँ । साँसें लेता रहता हूँ । चौंकता हूँ चकपकाता हूँ और बेहोशी आ जाती है जो बढ़ती ही जाती है । एक क्षण भी विश्राम नहीं है । न लगी भी तू चुड़ैल से अधिक कष्ट देती रहती है । यही नहीं वह नैकट्य होने पर परेशान करती है पर तू दूर से ही जादू के से करोड़ों खेल खिलाती रहती है । यहाँ तक कि उस खेल के दूर करने का कोई उपाय तक नहीं सूझता । उपचारों को देखकर उनका प्रयोग करने की जब बात सोची जाती है तब बुद्धि ही ठिकाने नहीं रह जाती, खो जाती है । चुड़ैल की छाया का स्पर्श, बेहोशी, खेल और उपचार में चार विभाग हैं जो सबके सब तुझमें दूसरे प्रकार के विपरीत या अधिक हैं । इसलिए तेरी स्थिति चौगुनी कहनी चाहिए । पर उसका तीव्र बोध चौगुनी कहने से नहीं होता । इससे उसे सौगुनी कहने से कुछ कुछ ठीक आभास मिल सकता है ।

व्याख्या—*छाया छियें०*—चुड़ैल छाया के स्पर्श से शरीर में आ

तो लगती है, पर तू शरीर से आ लगती भी नहीं। वह नेत्रों में छाई रहती है। पर तू नेत्रों को दिखती ही नहीं। कभी तेरे आ लगने की संभावना नहीं। तू सदा दूर ही दूर है और तेरा देखना तो दूर तेरी छाया तक नहीं दिखती। 'छाया' सौंदर्य को भी कहते हैं। तेरा सौंदर्य तेरे अतिरिक्त अन्यत्र कहीं है ही नहीं तो तेरे दिखे बिना वह भी नेत्रों को कहीं दिख नहीं सकता। *रोम-रोम*०—तू चाहे दिखे न पर मेरे रोएँ-रोएँ में समाई है। प्रत्येक रोम रोता है, साँसें भरता है, नेत्र ही क्या रोएँगे। तेरे दिखने पर भी न दिखाई पड़ने की नौबत है। आँखों में आँसू होने से उनकी जोत बेकार है। आँसू ही वहाँ छाए रहेंगे। फिर साँसों के भरे रहने से किसी के दिल में समाने की भी जगह नहीं। किसी को देखने के लिए वृत्ति स्थिर होनी चाहिए। सो भी नहीं। चौंकना-चकपकाना भी तो चल रहा है। होश में रहने पर ही तो किसी को देखा जा सकता है। पर बेहोशी बढ़ रही है निरंतर। वह कभी कम होनेवाली नहीं। *जान प्यारी*०—जादू के खेल एकसे एक हैं; दूर से होने से एक के ही देखने में दत्तचित्त होना और नेत्रों को देर तक सर्वत्र से समेटकर टिकाना पड़ता और यहाँ क्षण में कितने ही, करोड़ों खेल हो जाते हैं। किसे देखूँ, देख भी पाऊँ तब तो देखूँ। यदि यह हो कि कोई उपाय या दवा करके अपनी वृत्ति नियंत्रित की जाए, पर बुद्धि तो उन खेलों को देखने में ही खोई हुई है, उपचार की सोचेगी तो वही न, पर वह खोजने में पड़े तब तो, वह देखने में खोई है। फिर अपनी गति की बात छोड़िए, उपचार की ही बुद्धि खो जाए तब क्या हो। उपचार स्वयम् मंदमति या निर्मति हुए बैठे हैं। इधर ताकने की भी हिम्मत उनमें नहीं है। *तेरी गति*०—किसी अचल को देख लेना सरल है, पर चल को देखना और ठीक से देख लेना कठिन है। तेरी गति या चाल ऐसी है कि उसे लक्ष्य ही नहीं किया जा सकता। चुड़ैल की गति के लिए एक गुनी (ओझा) पर्याप्त है पर यहाँ चारो ओर से चार गुनी हों तो भी काम नहीं बनेगा। सौ गुनी हों तो भी कुछ न होगा। लगी चुड़ैल को कोई हटाएगा, जो लगे रहने पर अलग ही हो उसका पकड़ में आना तो संभव ही नहीं है। तू अनिर्वचनीय है। मति ही नहीं वाणी भी असमर्थ है तेरे वर्णन में। तू साक्षात् जगन्माया है, सदसद्विलक्षण है तू।

भाषा—*छियें* = बुंदेली का प्रयोग है। वहाँ कई शब्दप्रयोग ऐसे हैं कि 'ग्र' के बदले 'ई' हो जाता है—*झूमना* = झीमना। *छूना* = छीना।

पाठांतर—*उपचारनि* = उपचारिन। *गति* = चाह।

(सवैया)

किहि ठान ठनौ हौ सुजान मनौ गति जानि सकै सु ग्रजान करयौ।
इहि सोच समाय उदेगनि माय बिछोह तरंगनि पूरि भरयौ।
सु सुनौ मनमोहन ताकी दसा सुधि साँचनि ग्राँचनि बीच बरयौ।
तुम तौ निहकाम सकाम हमैं घनग्रानँद काम सों काम परयौ।१४३।

प्रकरण—प्रिय के वियोग में उसे पाने की कामना कैसा कष्ट दे रही है ग्रौर प्रिय किस प्रकार निश्चित हैं इसी का ब्यौरा विरहिणी दे रही है। प्रिय को उपालंभ सुना रही है। प्रिय ने ग्रपने नाम के विपरीत कार्य किया। ग्रापने कैसी ठान ठनी। सुजान होकर भी मन को ग्रजान बनाया। मन ही से तो मेरी गति का पता चलता। फल यह है कि मैं चिता में डूबी ग्रौर उद्वेग से भरी वियोग के प्रवाह में बह रही हूँ। मेरे मन की स्थिति यह है कि सच्ची सुध की ग्राँच में वह जल रहा है। ग्राप तो निष्काम हैं ग्रौर मैं ग्रापको पाने के लिए सकाम हूँ। मेरा कामदेव से पाला पड़ा है।

चूर्णिका—*किहि०* = ग्रौर कैसी ठान ठानते हैं। क्या करने का इरादा कर रहे हैं। *मनौ* = मन भी। *सु* = सो, वह। *मनौ०* = मेरी गति को जान सकनेवाला एक मन ही तो था उसे भी ग्रापने ग्रनजान बना लिया है (सुजान होकर) *समाय* = घुसकर, डूबकर। *इहि०* = इस सोच में डूबकर। *माय* = भरकर। *उदेगनि०* = घबराहट से भरकर। *बिछोह०* = वियोग की लहरों से भर दिया है, वियोग के समुद्र में मग्न कर दिया है। *ताकी* = उस मेरे मन की। *सुधि०* = सच्ची बातों की स्मृति की ग्राँच में पडकर चिल्लाता रहा। *निहकाम* = (निष्काम) काम (कामना) रहित। *सकाम* = कामनायुक्त। *काम सों* = कामदेव से। *काम०* = काम पड़ा, पाला पड़ा है। *तुम तौ०* = ग्राप तो निष्काम हैं (जैसे कोई इच्छा ही न

हो) पर मैं सकाम (आपको पाने की कामना करनेवाली) हूँ। मेरा तो कामदेव से पाला पड़ा है (काम मुझे सता रहा है)।

तिलक—हे सुजान प्रिय, आप कैसी ठान ठन रहे हैं। आपने क्या करने का इरादा किया है। देखिए आप तो हैं सुजान पर आपने अपने मन को अजान कर रखा है। मन ही तो मेरी गति को जान सकता है। उसे भी आपने अजान कर डाला। इस मन के अजान हो जाने से मैं सोच में डूबी रहती हूँ, घबराहट से भरी रहती हूँ और वियोग की तरंगें मुझे घेरे रहती हैं उसी में निमग्नोन्मग्न हो रही हूँ। इधर मेरे मन की क्या दशा है उसे भी सुन लीजिए। आप मन को मोहनेवाले हैं और वह इस प्रकार मोहित हो रहा है कि सच्ची बातों की स्मृति की आँचों में पड़ा चिल्ला रहा है, कोई उसे बचानेवाला नहीं है। ठीक ही है, आप तो निष्काम हैं, आपको न अपने लिए न कोई कामना है और न किसी दूसरे के ही लिए कोई कामना है। पर मैं आपको पाने की कामना में पड़ी ये सब कष्ट भोग रही हूँ। मुझे तो कामदेव से ही पाला पड़ा है। वही अनेक प्रकार से सता रहा है।

व्याख्या—*किहि ठान०*—आप सुजान होकर ज्ञान की साधना करते हों तो करते हों, जिस साधना में मन को संयमित करने या मारने की साधना होती है। बुद्धि का विषय ज्ञान है। पर मन का विषय भाव या राग है। अनुराग के लिए आवश्यक है कि मन प्रवृत्त हो। पर आपने तो ज्ञान के फेर में मन को राग से पराङ्मुख कर लिया है। इसलिए मेरे मनोगत को जानने का साधन मन ही निरर्थक हो गया है। सुजान या समझदार को मन के विषय में ऐसा नहीं करना चाहिए था। *इहि सोच०*—यह मेरे लिए डूब मरने की स्थिति है। सोच, उद्वेग और विरह में डूबी हूँ। सोच में तो जल में प्रवेश की स्थिति थी, उद्वेग में आकंठ मग्न होने का दृश्य सामने है और विरह में सर्वांग निमग्न हो गया। *सु सुनौ०*—आप हैं मनमोहन। मेरे मन को इस कष्ट में डालने के हेतु आप ही हैं। एक ओर तो जल में डूबी हूँ और दूसरी ओर जल भी रही हूँ। जल में पड़ा अग्नि की जलन का अनुभव करे तो आग की परम प्रचंडता ही प्रकट होती है। आग की आँचें

भी सच्ची हैं और सुध भी सच्ची है। कड़ी आँच में जलना है। फिर चिल्लाना है, अरण्यरोदन होकर रह गया चिल्लाना भी। *तुम तौ०*—आप तो निष्काम कर्म करनेवाले, फलासक्ति से रहित हैं, पूरे निवृत्तिमार्गी हैं और यहाँ उसके विपरीत स्थिति है। कामनाओं की पूर्ति पर ही जीना है, पूर्ण प्रवृत्ति है। कामनाएँ कष्ट देती ही हैं। आपने तो उस कष्ट से पिंड छुड़ा लिया, पर मुझे तो जानते-बूझते भी इन्हीं कष्टों से जूझना है। ये कामनाएँ कष्टदायिनी तो हैं पर आनंददायिनी घनआनंददायिनी भी ये ही हैं। कामनाएँ ही जीवन हैं। जिस दिन आपकी भाँति मेरी निष्काम स्थिति होगी उसी दिन मरण है।

पठांतर—*ठान ठनौ* = बान ठनी।

(कबित्त)

गतिनि तिहारी देखि थकनि मैं चली जाति
थिर चर दसा कैसी ढकी उघरति है।
कल न परति कहूँ कल जौ परति होय
परनि परी हौं जानि परी न परति है।
हाय यह पीर प्यारे कौन सुनै कासों कहौं
सहौं घनआनँद क्यौं अंतर अरति है।
भूलनि चिन्हारि दोऊ हैं न हो हमारें तातें
बिसरनि रावरी हमैं लैं बिसरति है।१४४।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के द्वारा अपने भूल जाने पर अपनी व्यथा व्यक्त कर रही है। आपकी गति (चाल) देखकर मैं थककर भी चली जा रही हूँ। एक ओर स्थिरता दूसरी ओर चंचलता। इससे दोनों का रहस्य खुल रहा है। मुझे चैन नहीं। कैसी पड़न या स्थिति है कि कुछ कहते नहीं बनता। मेरी पीड़ा कोई सुननेवाला नहीं। इधर पीड़ा निरंतर छाई है। आपका भूलना मुझे लिए-दिए भूलता है।

चूर्णिका—*गति* = दशा; चाल। *थकनि* = रुकना; थकावट। *देखि०* = रुकने में भी चली जा रही हूँ। *थिर* = स्थिर (गतिशून्य)। *चर* = चल, अस्थिर (गतियुक्त)। *ढकी०* = ढकी हुई उघड़ती है,

छिपी हुई खुलती है। *थिर०* = कैसी स्थिर और अस्थिर दशा है कि न तो चलना ही जान पड़ता है और न रुकना ही। दोनों अवस्थाएँ स्पष्ट नहीं हैं। *कल न०* = यदि कहीं कल पड़ता भी हो तो मुझे तो नहीं पड़ती, मैं जानती ही नहीं कि चैन पड़ना किसे कहते हैं, अत्यंत व्याकुल हूँ। *परनि* = पड़न, स्थिति। *परति०* = जो मुझपर सुख या दु:ख पड़ता है। *परनि०* = मैं ऐसी स्थिति में पड़ गई हूँ कि जो कुछ सुख या दु:ख मुझ पर पड़ रहा है मैं उसका अनुभव ही नहीं कर पाती। *क्यों* = किस प्रकार। *अंतर* = हृदय में। *अरति०* = अड़ती है, कसकती है (पीड़ा)। *भूलनि* = भूल जाना, विस्मरण। *चिन्हारि* = पहचान, स्मृति। *भूलनि०* = न तो विस्मृति का पता है न स्मृति का ही। *हो* = ए हो (प्रिय)। *हमारें* = हमारे पास, हमारे मन में। *बिसरनि* = भूलना। *बिसरनि०* = आपका भूलना मुझे लिए दिए भूलता है, आपके भूलने में मैं अपनी सत्ता भी भूल जाती हूँ।

तिलक—हे प्रिय, आपकी गतियों को देखकर मैं स्थकित हूँ। चाल आपकी और थकावट मुझे। पर थकावट पर भी मेरी अपनी वृत्ति से विमुखता नहीं है। आपकी चंचल गतियाँ और मेरी स्तब्धता की स्थिरता इन दोनों चल और स्थिर दशाओं से रहस्यात्मक सारी गुप्त बातें स्पष्ट हो जाती हैं। आपकी भी और मेरी भी। आपकी निर्दयता की और मेरी दीनता की। चैन तो पड़ता ही नहीं। मुझे तो यह भी पता नहीं कि कहीं चैन भी पड़ता है। चैन पड़ना क्या है इसे मैं जानती ही नहीं। मैं कैसी स्थिति में आ पड़ी हूँ कि समझ में ही नहीं आता कि यह सब क्या हो रहा है। मेरी इस पीड़ा को ही कौन सुने और कहूँ भी तो किससे कहूँ। इधर वेदना इतनी प्रचंड है कि उसे सहूँ भी तो कैसे सहूँ। पीड़ा भी भीतर ही भीतर कसकती रहती है। इस पीड़ा के कारण न मुझमें स्मृति ही रह गई और न विस्मृति ही। फल यह होता है कि आपके द्वारा मेरे प्रति विस्मृति केवल विस्मृति ही नहीं रहती। उसमें मेरी सत्ता का भी लोप हो जाता है। जिसकी विस्मृति होती है उसकी सत्ता रहती है। पर मेरी सत्ता की विस्मृति ही नही हुई, मेरी सत्ता का भी लोप हो गया है।

व्याख्या—गतिनि तिहारी०—आपकी चालों को देखती रहती हूँ। चाल चलते हैं आप और उससे थकावट मुझे होती है। मेरी गति रुक जाती है। पर गति रुकने पर भी आपके प्रति मेरे प्रेमजन्य आचरण में कोई अंतर नहीं, मैं फिर भी वैसी ही हूँ। आप ही मेरे प्रिय तब भी हैं। मुझमें जड़िमा है। पर आपकी गतियों से ही मेरी गतियाँ भी हैं। आप स्वयम् चलते हैं अच्छे या बुरे ढंग से और मुझे भी अपने ढंग से चलाते रहते हैं। मुझे अपनी गति नहीं। आपकी बुरी चालें एक ओर स्तब्ध कर देती हैं दूसरी ओर मुझे अपने प्रयत्न में ही त्रुटि प्रतीत होती है। मैं अपने आचरण में गतिमती रहती हूँ। मेरी दशा स्थिर और आपकी चर है। मेरी स्थिर दशा से मेरी प्रतिष्ठा दबी है और आपकी चर दशा से आपके सारे रहस्य खुल गए हैं। आपकी गुप्त चाल कैसी साफ दिखाई पड़ने लगी है। *कल न०*—जो चैन थोड़ा-घना कल तक था वह आज नहीं। और जो आज है वह कल न रह जाएगा। कैसी पड़न (आपत्ति) में पड़ गई हूँ कि पता ही नहीं चलता कि क्या मुझ पर आ पड़ा। सुख या चैन मिलता नहीं और दुख में पड़ी हूँ या दुख मुझपर आ पड़ा, कोई बोध नहीं रह गया। वेदना की उस भूमिका में पहुँच गई हूँ जब केवल संवेदना रह गई है, सुख-दुख की पृथक् अनुभूति नहीं रही। सुख भी दुख की अनुभूति में परिणत है। 'एको रसः करुण एव' की प्रतीति हो रही है। *हाय यह०*—मेरी पीड़ा ऐसी है कि कोई पहले तो सुन ही नहीं सकता, साधारण पीड़ा सुनने के ही लोग अभ्यासी हैं। तो फिर कहें तो किससे कहें। कहे बिना रहा नहीं जाता। कहने से पीड़ा हलकी होती है। पर जब सुननेवाला नहीं तो कहना भी बेकार हुआ। ऐसी पीड़ा सही कैसे जाए। कहने से बाहर आती। पर अब तो भीतर ही डटी है वह। भीतर भी वह 'अ+रति' रतिहीन पीड़ा कसकती है। *भूलनि चिन्हारि०*—मेरे पास न विस्मृति है और न स्मृति या पहचान। जिसके पास विस्मृति न हो उसके पास स्मृति हो सकती है, पर यहाँ स्मृति भी नहीं है। स्मृति और विस्मृति सापेक्ष शब्द हैं। स्मृति हो तब न विस्मृति होगी। स्मृति होगी है उसकी जिसका पहले से ज्ञान हो। पीड़ा के कारण सारे बोध समाप्त हो गए हैं। मेरी स्मृति-विस्मृति के अभाव से जिसकी स्मृति-विस्मृति होगी उसका अभाव न होगा।

वह सत्तात्मक रहे, पर मुझमें स्मृति-विस्मृति की ही सत्ता नहीं है। दोष मेरे अंतःकरण का है, उसकी की ही त्रुटि है। पर आपकी विस्मृति ऐसी नहीं है। मेरी आपके द्वारा विस्मृति ऐसी है कि मेरी स्मृति की ही सत्ता नहीं रही, मेरी भी सत्ता नहीं रही। आपके द्वारा मेरी स्मृति से ही मेरी सत्ता है, अन्यथा नहीं।

पाठां०—*गतिनि तिहारी* = गति सुनि हारी। कहूँ = कहीं। चिन्हारि = चितारि। 'चितारि' का अर्थ स्मृति है।

(सवैया)

भो अबला तकि जान तुम्हैं बिन यौं बल कै बलकै जु बलाहक।
त्यौं दुख देखि हँसै चपला अरु पौनहूँ दूनो बिदेह तें दाहक।
चंदमुखी सुनि मंद महा तम राहु भयौ यह आनि अनाहक।
प्रान हरौहर है *घनआनँद* लेहु न तौ अब लेंहि गे गाहक।१४५।

प्रकरण—विरहिणी वर्षा में बादलों के द्वारा होनेवाली वेदना का कथन स्वयम् प्रिय को कल्पना में लाकर और संबोधित करके कर रही है। मुझे अबला समझकर और आपके सांनिध्य से रहित पाकर बादल जो बलाहक कहलाते हैं बलपूर्वक गरजते हैं। बिजली भी मेरे दुख को देखकर हँसती है और पवन तो काम से दूना जला रहा है। अंधकार तो राहु होकर और मुझे चंद्रमुखी सुनकर निरर्थक कष्ट दे रहा है। इन प्राणों को बचाओ नहीं तो ये सब मिलकर मेरे प्राणों के ग्राहक हुआ ही चाहते हैं।

चूर्णिका—*अबला* = स्त्री; बलहीन। *बल कै* = बल करके, बलपूर्वक। *बलकै* = बकता है, शेखी हाँकता है, गरजता है। *बलाहक* = बादल; बलशाली। *हँसै* = हँसती है, चमकती है। *चपला* = बिजली; चंचल स्त्री। *बिदेह* = देहरहित, अनंग, कामदेव। *पौनहूँ०* = काम से दूना तो पवन जला रहा है। *चंद्रमुखी* = मुझे चंद्रमुखी सुनकर। *मंद* = दुष्ट, नीच। *महातम* = वर्षा की रात का घोर अंधकार। *आनि* = आकर। *अनाहक* = (नाहक) व्यर्थ। *चंदमुखी०* = मुझे चंद्रमुखी सुनकर घोर अंधकार व्यर्थ ही राहु बन बैठा है, मुझे ग्रस लेना चाहता है। *हरौहर* = लूटालूट। *प्रान०* = (मेरे) प्राणों की लूटालूट मची है।

तिलक—हे सुजान प्रिय, आपके बिना मुझे अबला देखकर बलपूर्वक बादल गरज रहा है। यही नहीं मेरी वेदना देखकर बिजली भी चंचल स्त्री की भाँति हँसती (चमकती) है। पवन भी काम से दूना जला रहा है। मुझे चंद्रमुखी सुनकर नीच घोर अंधकार राहु बनकर मुझे ग्रस लेने को उद्यत है। उसका यह विरुद्ध आचरण मेरे प्रति अकारण और व्यर्थ है। इस प्रकार वर्षा के सभी अंग बादल, बिजली, पवन, अंधकार मेरे प्राणों को लूट लेने को प्रस्तुत हो रहे हैं। यदि आप इन प्राणों को नहीं लेते-बचाते तो ये ग्राहक उसे ले ही लेंगे।

व्याख्या—*मो अबला०*—देखा कि यह अबला है, बलरहित है और कोई इसका सहायक भी नहीं है इसी से वह बलाहक (बलपूर्वक आघात करनेवाला) बादल, प्रलय के बादल का रूप धारण कर विनाशकारी बन गर्जन कर रहा है। यदि इसी एक का आक्रमण होता तो भी कोई बात थी, उसके प्रतिकार का कोई प्रयास किया जाता। *त्यौं दुख०*—बादल तो पुरुषवर्गीय है। उसकी मेरे प्रति सहानुभूति न हो, पर नारिवर्ग की तो समवेदना मेरे प्रति होनी चाहिए। नारी में सहृदयता, कोमलता नैसर्गिक होती है। पर बिजली मेरे दुख में दुख नहीं प्रकट करती प्रत्युत हँसती है। चपला ही ठहरी। पवन प्राण कहलाता है। प्राणदायक होता है। पर विरह की ज्वाला में दाहकता बढ़ा रहा है। काम विदेह है पवन भी विदेह है। पर उस विदेह से यह विदेह दूना दाहक हो गया है। कामनाएँ भीतर ही भीतर दाहक रहती हैं। भीतर का ही प्रभाव बाहर रहता है। सीधे बाहर उनका प्रभाव नहीं होता। पर पवन का प्रभाव बाहर तो पड़ता ही है, साँस के द्वारा भीतर पहुँचकर वहाँ भी अपना दाहक प्रभाव उत्पन्न करता है। इस प्रकार यह दूना दाहक हो रहा है। *चंदमुखी सुनि०*—बादल देखकर अवसर ताककर कष्ट देता है, बिजली भी देखती है, पवन भी देखता है। तम तो देखता नहीं, सुना भर है। कहाँ रह गई मैं चंद्रमुखी अब। पहले रही होऊँगी। पर उसने तो सुन लिया कि यह चंद्रमुखी है। बस अब क्या था। व्यर्थ ही वह राहु बनकर ग्रसना चाहता है। राहु अंधकार है, छायामात्र है। श्यामवर्ण है। यह अंधकार भी काला है। व्यर्थता यही है कि चंद्रमुखी रह कहाँ गई हूँ। दुष्टता यह कि

उसके बदला लेने में किसी स्वार्थ की सिद्धि न होगी, फिर भी असाधुता से वह टूट पड़ना चाहता है। *प्रान हरौहर*०—प्राणों को लूट लेनेवाला एक नहीं है जिसे जिधर से लूटते बनता है लूट रहा है। बादल गरजकर कानों के मार्ग से लूटना चाहता है। बिजली चमककर नेत्रों को अंधा कर उस मार्ग से लूटना चाहती है। पवन स्पर्श के द्वारा त्वक् के माध्यम से लूटना चाहता है। अंधकार मुख के मार्ग से ग्रास करना चाहता है। एक आप आनंद के घन हैं और दूसरे यह विषाद का घन है। आप ही क्यों नहीं प्राणों को लेते। ये फिर भी आनंद में रहेंगे। ये ग्राहक बनकर आए हैं। मैं स्वयम् आपके प्रति ग्राहक बनी हूँ। मैं अपने को अर्पित किए हुए हूँ। आपको लेने में भी आयास नहीं करना पड़ेगा।

भाषाविज्ञान—'नाहक' शब्द में 'अ' का आगम हो गया है। 'नाहक' के ही अर्थ में 'अनाहक' है। जैसा 'नोखा' और 'अनोखा'। दोनो का अर्थ एक है। 'अ' के आगम से 'नोखा' ही 'अनोखा हो गया। बोलचाल में 'दोहरा' प्रयोग होता है। निषेधार्थक 'अ' ही नहीं 'ला' भी लगता है। 'ला' विदेशी प्रत्यय है—अ + ला + नाहक = अलानाहक।

पाठांतर—*हरौहर* = धरोहर। प्राण आपकी धरोहर हैं इसी से लूट से बचा रही हूं। इसे आप ले लें तो निश्चित हो जाऊँ।

(कबित्त)

सूरति सिँगार की उजारी छबि आछी भाँति
दीठि लालसा के लोयननि लै लै आँजिहौं।
रति रसना सवाद पाँवड़े पुनीतकारी
पाय चूमि चूमि कै कपोलनि सों माँजिहौं।
जान प्यारे प्रान अंग अंग रुचि रंगनि मैं
बोरि सब अंगनि अनंगदुख भाँजिहौं।
कब घनआनँद ढरौंहीं बानि देखैं
सुधा हेत मन घट दरकनि सुठि राँजिहौं।१४६।

प्रकरण—प्रेमिका के विरहावस्था में होनेवाले प्रिय के सांनिध्य के अभिलाष का कथन है। वह अपनी बहिरिंद्रियों और अंतरिंद्रिय की लालसा

की पूर्ति की कल्पना कर रही है। मेरे नेत्रों में प्रिय के दर्शन की लालसा है और प्रिय श्रृंगार की मूर्ति हैं। उनके दर्शन नेत्रों में अंजन की भाँति सुखद होंगे। पैरों का दर्शन नहीं चुंबन कब किया जा सकेगा। उनपर कपोल रगड़े जा सकेंगे। प्रत्येक अंग की छटा देखकर मेरे सभी अंग तृप्त होंगे और काम का दुख घटेगा। आपकी द्रवीभूत बान देखकर हृदय तृप्त होगा।

चूर्णिका—*सिंगार* = श्रृंगार, इसका रंग कवि-संप्रदाय में श्याम है, अतः इसे 'अंजन' कहना बहुत ही उपयुक्त है। *उजारी छबि* = उजली शोभा (अथवा छवि को भी शोभित करनेवाली)। *आछी* = अच्छी, भली। *दीठि०* = देखने की लालसा से भरे हुए लोचनों में। *आँजिहौं* = अंजन की भाँति लगाऊँगी। *मूरति०* = वह समय कब आएगा जब मैं आपकी श्रृंगार-मूर्ति की छिटकी छटा को देखने की लालसा से भरे हुए अपने नेत्रों में अंजन की तरह लगाऊँगी, आपकी छटा मेरे नेत्रों में निरंतर बसी रहेगी। *रति०* = प्रेमभरी रसना के स्वाद रूप। *पाँवड़े* = पैर के नीचे का बिछौना। *पुनीतकारी* = पवित्र करनेवाले। *पाय* = पैर। *रति०* = जिस प्रेमभरी रसना के लिए आपके पैरों का चूमना ही स्वाद का प्राप्त कर लेना है उसको स्वादरूप वे चरण कब मिलेंगे, जो पावड़ों को पवित्र करनेवाले हैं, और उन्हें पाकर यह रसना कब चूमेगी। (यद्यपि चूमने की क्रिया ओठों द्वारा होती है, पर उसके स्वाद का अनुभव जिह्वा का ही गुण होने से कवि ने चूमने का संबंध उसी से रखा है)। *कपोलनि०* = कपोलों से उन्हें माँजूँगी, उनपर कपोलों को रगड़ूँगी। (धूल लगे चरणों का माँजना ठीक ही है), कपोल से रगड़कर उनकी धूल साफ करूँगी। *प्रान* = प्राणप्रिय। *अंग अंग०* = प्रिय के प्रत्येक अंग की रुचि (शोभा) के रंग में *बोरि०* = अपने सब अंगों को। (केवल नेत्र और रसना को ही नहीं) डुबाकर अर्थात् रँगकर। *अनंग०*कामदेव से मिलनेवाला सारा कष्ट नष्ट कर दूँगी। *ढरौहीं* = ढकनेवाली। *बानि* = आदत। *ढरौंहीं०* = मेरी ओर ढकनेवाली, मुझपर अनुकूल होनेवाली प्रिय की टेक को देखकर, उस सुधा (अमृत) को रखने के लिए। *हेत* =

लिए। *मन०* = मनरूपी घड़ा। *दरकनि* = फटन, टूटा-फूटा अंश। *सुठि* = सुंदरतापूर्वक। *राँजिहौं* = मरम्मत करूँगी, टाँका लगाऊँगी। *ढरौंहीं* = आपकी अनुकूलता को देखकर जो अमृतवृष्टि होगी उसे रखने के लिए वियोग में फूट गए अपने मनरूपी घड़े की ठीक ठीक मरम्मत करा लूँगी अर्थात् उस दृश्य को देखकर मेरा फटा मन जुड़ जायगा, सुखी हो जायगा।

तिलक—हे प्राणप्यारे सुजान, आपके वियोग में पड़ी मैं यही सोचती रहती हूँ कि अब वह सुअवसर कब आएगा जब शृंगारमूर्ति आपकी उजियाली की भाँति छिटकी छविछटा को देखने की लालसा से भरे हुए अपने नेत्रों में भलीभाँति ले-लेकर अंजन की भाँति लगाउँगी। केवल नेत्रों की ही नहीं रसना और कपोलों की भी लालसा है। वह समय फिर कब मिलेगा जब प्रेमभरी रसना को आपके उन चरणों को चूमना ही स्वाद की परम प्राप्ति होगी, जो पावड़ों को अपने न्यास (रखने) से पवित्र करने वाले हैं। उन्हें पाकर मैं बारंबार चूमूँगी और उनपर पड़ी हुई धूल को कपोलों से रगड़-रगड़ कर उन्हें स्वच्छ करूँगी तथा उस धूलि के स्पर्श से उनकी चरण-रज के स्पर्श की लालसा की पूर्ति करूँगी। क्या कहूँ, केवल नेत्र, जिह्वा और कपोलों की ही कामना नहीं। सभी अंगो की इच्छा पूर्ण होगी। आपकी दीप्ति और चरणरज से ही नहीं, प्रत्येक अंग की शोभा के रंग में अपने सब अंगो को डुबोकर रँग डालूँगी। जिससे अनंग (काम) का दुःख खंडित हो जाए। काम कामनाओं का ही पुंज तो है। प्रत्येक अंग कामना की तृप्ति से इतना अधिक सुखी होगा कि अनंग ने जो दुःख अभी तक दे रखे हैं वे समाप्त हो जाएँगे। यह तो शरीर के बाह्य अंगों की परितृप्ति की बात हुई। अब मन की, भीतरी इंद्रिय की, बाह्य स्थूल इंद्रियों की अपेक्षा सूक्ष्म इंद्रिय की कांक्षा लीजिए। आपके वियोग की ज्वाला से यह मन का घट दरक गया, फूट-फट गया है। हे आनंद के घन, आपकी दर्शन देने की अनूकुलतावाली द्रवणशील वृत्ति को देखकर और उस द्रवीभूत अमृत को सँजो रखने के लिए इस घड़े को रँजा लूँगी। उस वृत्ति के दर्शनमात्र से मन की दरारें भली भाँति भर जाएँगी, वह परम सुखी हो जाएगा।

व्याख्या—*मूरति सिगार*०—आप साक्षात् शृंगार हैं। पर शृंगार का वर्ण श्याम है, आपकी छवि उजली है। गौरांग हैं आप। आपकी यह छबि ऐसी है जिसने शृंगारी की मूर्ति को उजाड़ डाला है। स्वयम् शृंगार अत्यंत छबिमान् होकर भी आपकी शोभा के समक्ष कुछ नहीं है। देखने की लालसा रूपी नारी के नेत्रों में ऐसी छबि का अंजन लगाऊँगी। अंजन दो रंगों के होते हैं। एक काला सुरमा दूसरे उजला सुरमा। आप साक्षात् शृंगार होने से काले सुरमे की भाँति दृष्टि की ज्योति बढ़ाते हैं। काले सुरमे से कोर पर श्यामता दिखती है पर सफेद सुरमे से दृष्टि को लाभ तो होता है पर श्यामता नहीं रहती। 'देखने की लालसा के नेत्र' प्रयोग घनआनंद की प्रवृत्ति के अनुकूल है। नराकृत कल्पना उनमें प्राय: मिल जाती है। *रति रसना*०—आपके चरणचुंबन का आस्वाद प्रीति रूपी नारी की रचना को अत्यंत रुचिकर है। आपके चरणों के लिए अन्य पाँवड़ा क्या होगा। स्वयम् प्रीति अपनी रसना को ही पाँवड़ा बनाकर बिछा देने का विचार करती है। उससे वह पवित्र हो जायगी। उसके कष्ट दूर होंगे, वह सुखी हो जायगी। आपके पैर 'पाय' हैं स्वयम् प्राप्ति ही हैं। यही उपलब्धि तो वांछित है। उन्हे चूमने पर माँजने की चर्चा से स्पष्ट है कि वे दर्पण की भाँति सचिक्कण भी हैं। दर्पण को स्वच्छ करने के लिए पहले मुँह से भाप देकर फिर रगड़कर स्वच्छ कर देते हैं। पैर मृदुल हैं उनको स्वच्छ करने के लिए कोमल ओठ और कपोलों का प्रयोग ठीक ही है। बराबर चूमने और माँजने का हेतु यह भी है कि एक तो चरणरज की प्राप्ति होती रहेगी, दूसरे चरणों में रज नहीं रह जाएगी। दोनो कपोलों का प्रयोग होने से माँजने की क्रिया का गुरुत्व द्योतित है। *जान प्यारे*०—'जान' हैं तो 'प्राण' है ही। नामांतर ही तो है। मेरे अंगों का रंग फीका पड़ गया है आपके अंगों की छटा के रंग में डुबोने से उनका रंग ठीक हो जाएगा। मेरे अंग आपके वियोग में अंगत्व का परित्याग कर स्वयम् अनंग हो गए हैं। अंग अंग रह ही नहीं गए, वे कुअंग हो गए हैं, अन् + अंग हो गए हैं उनका अस्तित्व अनस्तित्व में परिणत हो गया है। उनकी इस अनंगता का दुःख तभी हटेगा जब आपके सत्तावान् अंगों में रँग दिए जायँ। काम अनंग है और दुख दे रहा है अंगों

को। मेरे अंगों में वह ऐसा समाया है कि मेरे अंग अब काम या कामना-मय हो गए हैं वे कामनामात्र रह गए हैं। इतनी अधिक कामनाएँ की हैं कि उन कामनाओं की भावना से ये कामना में परिणत हो गए हैं। पर अतृप्त कामना के रूप में परिणत हैं। उनकी तृप्ति आपके अंगों की 'रुचि' से ही होगी। रुचि अनेक रंग की है। जो रंग मेरे जिस अंग के लिए संवादी होगा उसी में उसे डुबो देंगे। एक रंग से काम न चलेगा तो दूसरे रंग में डुबोएँगे या मिश्रित रंगों का प्रयोग उनपर होगा। पहले बारंबार उपयोग के लिए क्रियापद की द्विरुक्ति है यहाँ 'बोरि बोरि' नहीं है। पर प्रयोजन बोरि बोरि से ही है। *कब घनआनँद०*—आप हैं आनंद के घन आपको द्रवीभूत होना रसवृष्टि करना होगा। वह रसवृष्टि मेरे लिए अमृतवृष्टि होगी पर उसे संचित करके रखने का पात्र ही ठीक नहीं है। आपकी द्रवणोन्मुख वृत्ति वाले मुखमंडल के दर्शन से ही मेरा मनरूपी घट जो विरहताप के आधिक्य से फटा है रँज जाएगा। भलीभाँति रँज जाएगा। फिर कभी उसके दरकने की संभावना न रहेगी।

व्याकरण—'सुठि' शब्द का अर्थ व्रजभाषा में सुष्ठु ही होता है। पर अवधि में 'अति' होता है।

पाठांतर—*पाय चूमि* = पिय चूमे। *देखें* = देखें सुख। *सुठि राँजिहौं* = राँजिहौ।

(सवैया)

औ बिन जौ तुम्हैं और रुची तौ रुचे न तुम्हैं बिन मोंहि जियौ जू।
आँखिन मैं ढरिआई रहै सु दहै दुखिया गहि आस हियौ जू।
सूल भयौ गुन जो तिहि अंग को दीप सो बारि बियोग दियौ जू।
हाय सुजान सनेही कहाय क्यौं मोह जनाय कै द्रोह कियौ जू।१४७।

प्रकरण—विरहिणी अपनी विरहदशा का वर्णन प्रिय को ही संबोधित करके कर रही है। उसका कहना है कि आपको जहाँ मुझे त्याग कर दूसरे की ओर जाने की प्रवृत्ति हुई है वहीं मुझे आपके बिना अन्य का रुचना तो दूर अपने प्राण भी नहीं रुचते हैं। इधर बाहर आँखों से निरंतर आँसू बरसते रहते हैं और उधर भीतर हृदय आपके पाने की आशा लगाए जलता

है। मेरे हृदय का यह गुण (आपकी ओर प्रवृत्ति) केवल वेदना में परिणत है और वह गुण (बत्ती) वियोग की अग्नि से ऐसे जल रहा है जैसे दीपक की लौ। दुख यही है कि आप स्नेही थे, मेरे प्रति मोह भी व्यक्त किया पर अब मुझी से द्रोह कर रहे हैं।

चूर्णिका—*बिन* = सिवा। *और* = अपर, अन्य। *जियौ* = जी, प्राण। *मो०* = यदि आपको मेरे अतिरिक्त दूसरे की प्रीति अच्छी लगती है तो मुझे तो आपके बिना (वियोग में) अपना जी भी नहीं अच्छा लगता। *ढरि-आई* = निरंतर ढलना, आँसू बहना। *सु* = वह (हृदय)। *दुखिया* = दुखी, बेचारा। *गहि आस* = आशा की डोर में बँधकर। *आँखिन०* = आँखों से तो निरंतर आँसू गिरते रहते हैं और वह बेचारा (मेरा हृदय) आशा में बधा जलता रहता है। *गुन* = गुण; बत्ती। *सूल०* = उस अंग (हृदय) का गुण अब केवल पीड़ा देना रह गया है, हृदय में केवल पीड़ा पहुँचाने की विशेषता रह गई है, हृदय के इस गुण (बत्ती) को वियोग की ज्वाला ने दीपक की भाँति जला दिया है। वियोग के कारण हृदय और भी पीड़ा देने लगा है। *सनेही* = प्रेमी।

तिलक—हे सुजान प्रिय, यदि आपको मेरे अतिरिक्त कोई अन्य व्यक्ति रुच गया है तो ठीक इसके विपरीत मेरी स्थिति यह है कि आपके बिना मुझे किसी अन्य का रुचना तो दूर की बात है, असंभव है, उलटे प्राण जो सभी को प्रिय हैं वे भी मुझे ऐसी स्थिति में अच्छे नहीं लगते। इच्छा होती है कि प्राण निकल जाएँ तो अच्छा। आपके विरह में आँखों से तो निरंतर आँसुओं की वर्षा होती रहती है। उधर हृदय की स्थिति यह है कि आशा के पाश में बँधकर बेचारा जल रहा है। उस हृदय की विशेषता यही थी कि वह आपके प्रति उन्मुख होकर बेचारा भीतर ही भीतर आग सुलगने से चुपचाप जल रहा था। पर वियोग के कारण निरंतर वेदना का फल यह हुआ कि उसकी वही विशेषता केवल वेदना रह गई और वह उस प्रकार जल उठा जिस प्रकार दीपक जल उठता है। आप स्नेही थे, आपके स्नेह (प्रेम; तैल) के कारण ही ऐसा हुआ है। आप थे तो स्नेही (प्रेमी) और आपने मेरे प्रति ममत्व

भी प्रकट किया था, पर अब यह क्या हुआ कि आप मुझी से द्रोह करने लगे। मोह करनेवाला द्रोह करे यह उलटी रीति है।

व्याख्या—*मो बिन०*—संसार में प्राण सबको प्रिय होते हैं पर मुझे आप प्राणों से भी अधिक प्रिय हैं तभी आपके बिना मुझे प्राण भी नहीं अच्छे लगते हैं। आपका प्रेम तो विशेषोन्मुख भी नहीं है। मेरे अतिरिक्त आपको अन्य भी अच्छे लगते हैं। आपने व्यक्ति को न देखकर केवल स्वार्थ को देखा है। मैं आपके लिए स्वार्थ का त्याग कर रही हूँ। *आँखिन मैं०*—आपके दर्शनों के बिना आँखों की स्थिति यह है कि बराबर आँसू गिरते रहते हैं। केवल आँसू ही गिरते होते सो भी नहीं। हृदय भी जलता रहता है। आग-पानी के संयोग से प्राणों की घुटन होती रहती है। हृदय भी यों ही नहीं जल रहा है। विवशता में जल रहा है। आशा की डोर से बँधा है, छूट भी नहीं सकता कि अपनी रक्षा का कुछ प्रयास करता। *सूल भयौ०*—गुण सामान्यतया दोष नहीं होता। पर यह गुण ही दोष हो गया। 'गुन' रूई को कहते हैं जो परम कोमल है वह शूल (काँटे) में परिणत हो जाए यही परम विषमता है। रूई में प्रिय का स्नेह मिला। फिर वियोग की आग। दीपक जलने के सारे संयोग इकट्ठे हो गए। वियोग का कार्य पार्थक्य करना है पर उसने रूई की बत्ती एवम् स्नेह से आग का संयोग कर दिया। *हाय सुजान०*—तीन गुण थे—सुजान होना, स्नेही रहना और मोह प्रकट करना। सुजान शत्रु से भी अच्छा व्यवहार करता है, आपने मित्र हो शत्रु से बढ़कर व्यवहार किया। सनेही में चिकनाहट या मृदुलता होती है आपने द्रोह या परम रुखाई दिखाई। मोह जहाँ होता है वहाँ कोई साधारण विरोध भी नहीं करता। आपने असाधारण वैपरीत्य द्रोह के रूप में किया।

पाठांतर—*ढरिआई* = ढरिआय। *तिहिं* = जिहि।

हाय सनेही सनेह सों रुखाई रुखाई सों ह्वै चिकने अति सोहौ।
आपुनपौ अरु आपहु तें करि हाते हतौ *घनआनँद* को हौ।
कौन घरी बिछुरे हौ सुजान जु एक घरी मन तें न बिछोहौ।
मोह की बात तिहारी असूझ पै मो हिय कों तौ अमोहियौ मोहौ।१४८।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय की निर्दयता और अपनी प्रेममय वृत्ति का

विवरण प्रिय को संबोधित करके दे रही है। प्रिय के रूप में, आचरण में पाई जानेवाली विषमता का आख्यान कर रही है। आप स्नेह से तो रूखे हैं, उदासीन हैं और रुखाई से चिकने या परिपूर्ण हैं। फिर भी आपकी यह विरुद्धधर्मा छटा भी अवलोकनीय है। आप मुझे अपने से ही दूर नहीं कर चुके हैं, मुझे अपनत्व मे भी दूर कर दिया है। आप घनआनंद हैं, या क्या हैं--निरानंद तो नहीं हैं। आप न जाने किस समय वियुक्त हुए कि अब एक घड़ी को भी वियुक्त नहीं हो रहे हैं। आपकी मोह करने की बात तो समझ में नहीं आती, पर फ़िर भी अमोही होते हुए भी आप मोह रहे हैं। यही विलक्षणता है।

चूर्णिका—*सनेह* = प्रेम; तेल। *रूखे* = उदासीन; चिकनाहट से रहित। *रुखाई* = उदासीनता; रूखापन। *चिकने* = भिनकर; चिकनाहट युक्त होकर। *ह्वै चिकने* = परिपूर्ण होकर। *सोहौं* = छजते हो। *आपुनपौ* = अपनापन। *करि हाते* = दूर करके। *आपुनपौ०* = मुझे अपनेपन और स्वयम् अपने से भी दूर करके मार रहे हो। *कौन०* = न जाने कैसी विलक्षण घड़ी (मुहूर्त) में मुझसे बिछुड़े कि मन से एक घड़ी के लिए भी नहीं हटते। *मोह* = प्रेम। *असूझ* = अलक्ष्य, न जान पड़नेवाली। *अमोहियौ* = निष्ठुर होते हुए भी, निर्दय होकर भी।

तिलक—हा, प्रिय, आप कहलाते तो हैं स्नेही पर हैं स्नेह से रूखे (उदासीन)। इधर यह और उधर रुखाई भी आपमें साधारण नहीं है आप उससे अति चिकने अर्थात् परिपुष्ट हैं। फिर भी मुझे ऐसे होकर भी आप सुहाते हैं। आपके रूखेपन के कारण आपके प्रति मेरी प्रेमासक्ति में किसी प्रकार का अंतर नहीं है। आप स्नेही होते भी जैसे लगते वैसे ही रूखे होकर भी लगते हैं। आज मुझसे दूर जा पड़े मुझको अपने से दूर कर दिया सो तो किया ही, मुझे आपके दूर हो जाने से यह भी अलाभ हुआ कि मैं स्वयम् अपने आप से भी दूर हो गई। आपने मेरी सारी अहंता का लोप कर दिया। इस प्रकार आपने मुझे समाप्त ही कर दिया। आप हैं तो घनआनंद पर मुझे दे रहे हैं घनी वेदना। आप फिर कौन हैं। घनआनंद मानने में अड़चल है। तो आप घने पीड़क तो नहीं हैं। एक ही नहीं कई

विलक्षणताएँ हैं। किस घड़ी आप मुझसे बिछुड़े कि हे सुजान, मेरे मन से एक घड़ी के लिए भी नहीं हटते। आपकी वृत्ति में मोह (प्रेम) की छान-बीन करने पर उसका पता नहीं चलता। पर अमोही होने पर भी आप मुझे मोहित करते रहते हैं। मेरे हृदय में आपके प्रति किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं हुआ। आपकी सुमुखता के समय जो वृत्ति थी वही विमुखता के समय भी ज्यों की त्यों बनी है।

व्याख्या—*हाय सनेही०* —स्नेहवृत्ति और रुखाई में विरोध है, पर आप स्नेह से चिकने न होकर उलटे रूखे हुए। स्नेह आपमें है इसका संदेह है। उधर रुखाई और चिकनेपन में विरोध है। पर आपमें रुखाई की अति चिकनाहट है। अर्थात् आपमें नहीं है तो स्नेह नहीं है। और है तो रुखाई है और वह भी अति मात्रा में है। स्नेह अगर हो भी तो इतना अल्प है कि नगण्य है। कम से कम वह दूसरे के या मेरे लिए नहीं है। अपने आपके लिए हो तो हो। फिर भी आप मुझे अच्छे ही लगते हैं। पर है यह कैसी छटा कि संसार में कहीं न मिलेगी 'सोहौ' की व्यंजना न 'सोहौ' भी है। मुझे चाहे आप भले ही लगते हों पर संसार में कोई आपको इसके लिए भला नहीं कह सकता। *आपुनपौ अरु०*—आपने मुझे अपने से ही दूर नहीं किया, ऐसा दूर किया कि मैं सबसे दूर हो गई, यहाँ तक कि अपने आपसे भी दूर हो गई। मेरी सारी अहंता का लोप आप में ही हो गया है। आप ही मेरे अहम् के रूप में हैं। मेरा अपना अहम् कुछ भी नहीं रहा। आप घनआनंद हैं और आनंद का काम जिलाना है, पर आप उसी आनंद से मुझे मार रहे हैं। ऐसा तो संसार में कोई दिखता नहीं। आपमें यह कैसा अलौकिक तत्त्व है। आनंद और विषाद की युगपत् स्थिति कहीं नहीं दिखती। *कौन घरी०*—आप सुजान हैं, आप ही जानते हों तो जानते हों, मैं कुछ भी नहीं जानती कि किस घड़ी आप बिछुड़े कि मन से बिछुड़ते ही नहीं। जब बिछुड़े नहीं थे तब मेरे मन में आप निरंतर नहीं रहते थे। कभी ऐसा सावकाश भी होता था जब आप ध्यान में नहीं भी होते थे, पर वियोग ने वह स्थिति ला दी कि आप एक क्षण को भी विस्मृत नहीं होते। संयोग की अपेक्षा वियोग में मन प्रिय में ही रमता है। शरीर से ही बिछुड़े हैं, मन में तो और भी

संपृक्त हो गए हैं। *मोह की बात*—आपमें मोह मुझे तो सूझता ही नहीं, दिखता ही नहीं। बुद्धि से तो आपमें कहीं मोह दृग्गोचर नहीं होता। पर हृदय में आपका अमोही रूप भी मुझे मोहित करता है। मूर्छित किए रहता है। 'मो हिय' और 'अमोहियौ' में शब्दजन्य भी स्पष्ट विरोध है—अ + मोहिय। आपके हृदय में मेरा हृदय नहीं समा सका। मैं आपकी न हो सकी तो न हो सकी। पर आप मेरे ही हैं—'मो हौ' (मेरे ही हो)। अहंवृत्ति का लोप हो गया। पर ममत्ववृत्ति का लोप नहीं हुआ। भेदवृत्ति भी नहीं रही, आपसे अभेद भी हो गया।

पाठां०—*सनेही* = बिसासी। जु = जू।

जा हित मात को नाम जसोदा सुबंस को चंद कला कुलधारी।
सोभा समूह भई *घनआनँद* मूरति रंग अनंग जिवारी।
जान महा सहजै रिझवार उदार बिलास में रासबिहारी।
मेरो मनोरथहू बहियै अरु हैं मो मनोरथ पूरनकारी।१४६।

प्रकरण—श्रीकृष्ण से भक्त अपना मनोरथ पूर्ण करने की प्रार्थना कर रहा है। उसका कहना है कि आप सबका मनोरथ पूर्ण करने आए हैं, मेरा भी पूर्ण कर दें। आपने जो रूप धारण किया वह घनआनंद मूर्ति इतनी सुशोभन है कि स्वयम् काम की शोभा को भी उद्दीप्त करनेवाली है। मूर्ति का मनोरथ पूरा हो गया। नरशरीर का मनोरथ यही है कि वह अत्यंत शोभा-संपन्न हो। जिस यशोदा के पास माताभाव से रहे वह यशोदा आपके ही कारण हुई। यशदातृत्व का उसका मनोरथ भी पूरा हुआ। जिस चंद्रवंश में आपने जन्म लिया वह सुवंश हो गया। उसका सुवंश होने का मनोरथ पूरा हुआ। आप गोपिकाओं पर रीझे तो उनका भी मनोरथ रास में विहार करने से पूरा हुआ। आपने अर्जुन का रथ सारथिरूप में वहन किया तो उनका भी मनोरथ पूरा हुआ। सभी का मनोरथ आप पूरा करते आए जो आपके संपर्क या संसर्ग में आया। मैं भी आपके सांनिध्य में आ गया हूँ। मेरा भी मनोरथ पूर्ण करें। मनोरथ भी कोई ऐसा नहीं जो पूर्ण करने योग्य न हो।

चूर्णिका—*जा हित* = जिसके कारण। *जसोदा* = यशोदा (यश

देनेवाली)। *जा हित०* = जिन आपके कारण माता का नाम 'यशोदा' पड़ा। आपकी माता का नाम 'यशोदा' आपके ही गुण के कारण पड़ा। *चंद* = चंद्रवंश (यदु लोग, जिनके वंश में श्रीकृष्ण जन्मे, चंद्रवंशी थे)। *कला*=चंद्र की कला; विद्या। *सुबंस०* = जिन आपके द्वारा वंश का नाम 'चंद्रवंश' पड़ा, जो सब प्रकार की कला धारण करनेवाला हुआ। आप ही के प्रभाव से 'यदुवंश' 'चंद्रवंश हुआ, जिसमें सब प्रकारके गुण आप ही के प्रभाव से दिखाई पड़े। जिससे संबंध हो जाय उसे आप महत्त्वशाली बना देते हैं। *रंग०* = अनंग रंग को जिलानेवाली अर्थात् जगानेवाली *सोभा०* = आपकी मूर्ति शोभासमूह से युक्त, अत्यंत आनंददायिनी और अनंग रंग को जागरित करनेवाली (कामोद्दीपक) है। *जान* = सुजान; ज्ञानवान्। *सहजै* = सहज में ही, थोड़े में ही *रिझवार* = प्रसन्न हो जानेवाले। *बिलास०* = विलास के लिए रास में विहार करनेवाले, यदि कोई आपके सहवास का अभिलाषी हो तो आप तो रासविहारी तक बन जानेवाले हैं, लीलापुरुषोत्तम हैं। *मनोरथ*= अभिलाष; मनरूपी रथ। *मनोरथहू०* = आपने भक्त अर्जुन के लिए उसका सारथि बनना स्वीकार किया है, उसका रथ वहन किया है। अतः आप मेरा भी मनोरथ वहन कीजिए। मेरी इच्छा पूर्ण कीजिए, उसे सिद्धि तक ले जाइए। *अरु०* = और मेरे मनोरथ भी पूर्ण करने लायक हैं (कोई बेढंगा मनोरथ नहीं कर रहा हूँ)। 'हूँ' द्वारा इसमें प्रत्ययगत व्यंजना का चमत्कार है। इस शब्दांश से ही अर्जुन की सारी कथा स्वतः आक्षिप्त हो जाती है।

तिलक—हे भगवन्, आपके ही कारण यशोदा का नाम सार्थक हुआ। यशोदा सचमुच यशोदा हो गई। अन्यथा उनके माता-पिता ने वह नाम यशोदातृत्व के कारण तो रखा ही नहीं था। हाँ, मनोरथ यही किया होगा कि मेरी बेटी, यशोदा हो, सो आपके संपर्क से वह मनोरथ पूर्ण हो गया। जिस यदुवंश में आपने जन्म ग्रहण किया वह चंद्रमा का वंश था, पर नाममात्र के लिए वह वैसा था। यदुवंश में कोई ऐसा प्रभविष्णु नहीं हुआ कि चंद्र का वंश उसके कारण सचमुच चंद्र-चंद्रिकार्चित हो

जाता, जगमगा उठता। आपके संसर्गसे वही वंश जो साधारण यदुओं का था जिनमें कोई कला या विद्या नहीं थी, सभी कलाओं से उसी प्रकार संयुक्त हो गया जिस प्रकार चंद्रमा षोडश कलाओं का धारणकर्ता होता है। चंद्रवंश सुवंश हो गया। सचमुच चंद्रवंश हो गया। चंद्र ने अपने वंश का विस्तार यही मनोरथ करके किया होगा कि चंद्रमा की भाँति यह प्रदीप्त हो। पर वह तब तक पूर्ण नहीं हुआ था जब तक आपने उस वंश में अवतार नहीं लिया था। आपके अवतार लेने से ही उस प्राक्तन मनोरथ की पूर्ति हो गई। यही क्यों आपकी मूर्ति भी शोभासमूह से युक्त हुई। नर का शरीर लेनेवाला आपके जन्म से पूर्व कोई ऐसा नहीं था कि जिसकी मूर्ति नरशरीर के इस मनोरथ की पूर्ति करती कि वह अत्यंत शोभा से युक्त हो। पर आपने नरशरीर धारण करके नरदेह का वह मनोरथ भी पूरा कर डाला। शरीर तो शरीर, जिसके कोई शरीर ही नहीं था उस अनंग कामदेव के रंग को भी जो भस्म हो चुका था जिसका रंग समाप्त हो गया था फिर से उसके रंग को जिला दिया, उसे सशरीर कर दिया। साक्षात्कृत हो गया काम। प्रत्युत साक्षात्कृत होने में उसके मरे, भस्म हुए सारे रंग या गुण कई गुणित होकर जी उठे। आप कामदेव को भी दीप्ति देनेवाले उससे बढ़कर शोभावाले हैं और जो आपके रूप के दर्शन करे उसमें काम को उद्दीप्त कर देनेवाले हैं। आप अत्यंत ज्ञानवान् हैं। काम ने भस्म होते समय ऐसा ही कुछ मनोरथ किया होगा कि मैं तो राख हो रहा हूँ पर हो सकता है कि आगे चलकर कोई ऐसा रूप आए तो मुझसे भी बढ़कर हो। सो उसका वह मनोरथ परिपूर्ण हो गया। अथवा रति ने सोचा होगा कि अब मुझे पतिदेव के रूपदर्शन कैसे होंगे। वह उनके साक्षात्कार के लिए मनोरथ लिए न जाने कब से अतृप्त थी। आपने अपने रूप में कामदेव को जिला दिया, उसके गुणों को और भी रँग दिया। अधिक रंजनकारी आपकी मूर्ति ऐसी हुई कि काम और रति के मनोरथों की पूर्ति हो गई। ज्ञानरूप सुजान थोड़े में ही प्रसन्न होनेवाले, उदार और विलास में गोपिकाओं के मनोरथ की पूर्ति के लिए रास रचानेवाले भी हैं। जो जो आपके संपर्क में आया सभी के अभिलाष पूर्ण हुए हैं। यहाँ तक कि अर्जुन के मनोरथ

की पूर्ति के लिए आपने सारथि का रूप भी धारण किया, उनका रथ चलाया। तो क्या मेरे मनोरथ की पूर्ति ही आपके लिए कठिन है। आप मेरे मनोरथ को भी उसी प्रकार चलाइए जैसे उनका रथ चलाया। मेरे मनोरथ भी ऐसे हैं कि उनकी सहज ही पूर्ति की जा सके। इसमें कोई कठिनाई नहीं है।

व्याख्या—जा हित०—यशोदा पालन करनेवाली माता थीं फिर भी उनका यशोदा नाम सार्थक हुआ। स्वयम् यशस्विनी नहीं हुई उनके कारण दूसरे भी यशस्वी होने लगे, यशोदा के नामकरण से दूसरे भी यशस्वी हो जाते हैं। चंद्रमा एक साथ सारी कलाएँ कहाँ धारण करता है केवल पूर्णिमा को उसकी कलाएँ पूरी होती हैं। पर आपका वंश सदा सभी (कुल) कलाओं को धारण करनेवाला हो गया। सारी विद्याओं से युक्त हो गया। 'वंश' बाँस को भी कहते हैं। बाँस पर चंदन के संसर्ग का प्रभाव नहीं पड़ता। पर आपने अपने प्रभाव से उसे भी प्रभावित किया उसका स्वभाव ही बदल दिया। *सोभासमूह०*—आपकी मूर्ति शोभासमूह भी हुई और घनआनंददायिन भी हुई। शोभा होने से ही आनंददायकत्व नहीं हो जाता। पर आपमें शोभा भी है और घनआनंददायकत्व भी है। अनंग में अंग ही नहीं था। उसके अंग के न होने से रंग के लिए आधार ही नहीं था। कोई रूप हो तब तो रंग हो। पर आपने उसके अंग न होने पर भी उसके रंग को प्रदीप्त कर दिया। उसे ही नहीं मूर्तिमान् कर दिया उसके रंग (प्रभाव) को भी जागरित कर दिया। *जान महा०*—आप सज्ञान ही नहीं हैं अत्यंत सज्ञान हैं। केवल सज्ञान वह होता है जो स्वयम् ज्ञानसंपन्न होता है। जो दूसरे को भी सज्ञान कर दे और उसके मन की बातें जान सके वह महासुजान होता है। आपको कुछ बताना नहीं है आप मेरे मनोरथ को स्वतः ही जानते हैं। आपको प्रसन्न करने में कोई विशेष प्रयास भी नहीं करना है। आप सहज ही प्रसन्न हो जाते हैं। प्रसन्न होकर रह नहीं जाते उदार होने से जिस पर प्रसन्न होते हैं उसका वांछित भी पूर्ण करते हैं। 'विलास' 'वि + लास' विशेष लास या नृत्य करने को प्रस्तुत हो जाते हैं। 'रलयोरभेदः' से 'ल' ही 'र' हो जाता है। लासबिहारी या रासबिहारी एक ही है। सारा जगत् आपका लास है, रास है, आपकी लीला

है। आपके संकेत पर सारी सृष्टि स्पंदित है या यों कहें कि आप ही सारी सृष्टि में स्पंदित है। *मेरो मनोरथहू*०--आप हैं 'जनार्दन' जन+अर्दन, जन या दास को अर्दन करने या चलानेवाले। तभी तो आपने अर्जुनजन को प्रेरित ही नहीं किया, उसको ही नहीं चलाया, उसके रथ को भी चलाया। मेरा मन का रथ (मनोरथ) भी चलाइए। 'मनोरथानामगतिर्न विद्यते' की भाँति मैं कोई अशक्य मनोरथ नहीं कर रहा हूँ। मेरी जो साधना है उसे आप ही सिद्धि तक पहुँचा सकते हैं। मुझमें अपनी शक्ति नहीं, इतनी शक्ति नहीं कि उसे सिद्धि में परिणत कर सकूँ। मैं भी आपका जन ही हूँ। मेरे मनोरथ पूर्ण होने योग्य है और आप ही मेरे मनोरथों की पूर्ति भी कर सकते हैं। दूसरे में वह सामर्थ्य ही नहीं है। आपकी कृपा के बिना मेरे मनोरथ पूर्ण नहीं हो सकते, अपूर्ण ही रह जाएँगे। उनकी सत्ता-संपूर्णता आपकी सत्ता-संपूर्णता के ही आश्रित है। मेरे मनोरथ अभी अभाव ही अभाव हैं। वे भावात्मक रूप आपके सौंदर्य से ही पा सकते हैं। न तो उदारता करने में आपको आयास करना है और न इस मनोरथ के पूर्ण करने में ही कोई आयास करना है, आप सहजे रिझवार, सहजै उदार और सहजै पूर्णकारी भी हैं। आपके भ्रूविलास से ही मेरा काम हो जाएगा। रास के विलासवाला या अर्जुन के रथवाला कोई बड़ा आयास नहीं करना है।

पाठांतर—*रंग* = अंग। अनंग के अंग को सजीव कर देती है। 'भई' का 'मई' हो ऐसा भी संभावित है।

अंक भरौं चकि चौंकि परौं कबहूँक लरौं छिन ही मैं मनाऊँ।
देखि रहौं अनदेखें दहौं सुख सोच सहौं जु लहौं सुनि पाऊँ।
जान तिहारी सौं मेरी दसा यह को समुझै अरु काहि सुनाऊँ।
यौं घनआनँद रैन दिना न बितीतत जानियै कैसें बिताऊँ।१५०।

प्रकरण—विरहावस्था में विरहिणी की दशा कैसी है इसी का विवरण वह प्रिय को संबोधित करके प्रस्तुत कर रही है। आपके विरह में मैं कभी तो आपको उपस्थित जान आलिंगन करती हूँ, फिर यह बोध होने पर कि आप तो यहाँ हैं नहीं, चौंक पड़ती हूँ। कभी आपको सामने आया जान आपसे लड़ती हूँ, फिर तुरंत ही यह विचार कर कि आपसे लड़ना उचित नहीं

आपको मनाने लग जाती हूँ। जब तक आपको देखती रहती हूँ तब तक तो स्थिर रहती हूँ। पर आपको बिना देखे जलती हूँ। यदि कहीं सुन पाती हूँ कि आप आ गए हैं तो सुख से सारे सोच सह लेती हूँ। मेरी यह दशा कोई समझता ही नहीं, सुनाऊँ तो किसे सुनाऊँ। रातदिन यही स्थिति है। न दिन बीतता है न रात बीतती है, फिर भी इसी में पड़ी हूँ। ये रात दिन कैसे बीतें आप ही समझें।

चूर्णिका—*अंक०* = गोद में भरती हूँ, आलिंगन करती हूँ। *चकि०* = आप नहीं हैं यह ध्यान आते ही चकपकाकर चौंक उठती हूँ। *लरौं* = कलह करती हूँ। *छिनहीं०* = क्षणभर में ही। *सुख०* = यदि यह सुन लूँ कि आप मिल जाएँगे तो सुखपूर्वक सारी सोच (दुःख) सह लूँ। *सौं* = शपथ। *जानियै* = आप ही समझिए।

तिलक--विरहिणी अपनी अवस्थित विरहदशा का अंकन कर रही है। वह प्रिय को कल्पना में ही उपस्थित मान संबोधित करके कहती है कि आप यहाँ सामने ही उपस्थित हैं यह भ्रम हो जाता है तो आपको शून्य में ही गोद भरती हूँ। पर जब यह देखती हूँ कि कोई नहीं है तो चकित हो जाती हूँ कि कौन था जिसे मैं आलिंगन कर रही थी। तब चौंक पड़ती हूँ कि वे यहाँ कहाँ हैं, मैं भूल से उन्हें प्रस्तुत समझ रही थी। पर यह स्थिति भी बनी नहीं रहती। इस प्रकार आप दिखाई पड़ते हैं तब मैं स्थिर हो जाती हूँ। फिर आप जब दिखाई नहीं पड़ते तब जलने लगती हूँ। यदि कोई यह समाचार देता है कि वे आ रहे हैं तो वे ऐसा सुनकर ही सुखपूर्वक सारा सोच सह लेती हूँ। हे सुजान, आपकी शपथ मेरी इस प्रकार की कभी कुछ और कभी कुछ दशा को कोई समझ ही नहीं पाता। केवल आप ही सुजान हैं और समझ सकते हैं। जब कोई समझता ही नहीं तो इस दशा की व्यथा किसे सुनाऊँ। इस प्रकार हे घनआनंद, न रात बीतती है न दिन ही बीतता है। मेरी समझ में नहीं आता कि इन्हें कैसे बिताऊँ, आप इनके बिताने का ढंग जानते होंगे। आप ही बताइए कि मैं इन्हें किस प्रकार व्यतीत करूँ।

व्याख्या—*अंक भरौं०*—मैं जब इस भ्रम में पड़कर कि आप प्रत्यक्ष

सामने उपस्थित हैं, आपका आलिंगन करने लगती हूँ तो उसमें वह सुख नहीं मिलता तब चकित हो जाती हूँ ऐसा क्यों है और इस विचार से चौंक पड़ती हूँ कि आप यहाँ नहीं हैं, मैंने भ्रम से ऐसा किया है। फिर आपसे कलह करती हूँ कि ऐसा आप क्यों करते हैं। दूर क्यों चले गए, आपके कार्य ठीक नहीं, आप दूसरों से प्रेम क्यों करते हैं आदि आदि। फिर क्षणभर में अपनी भूल मानकर कि प्रिय क्या करता है इसकी चिंता मुझे नहीं करनी चाहिए, मुझे तो उनसे केवल प्रेम करने का अधिकार है वे क्या करते हैं इसका विचार करने का नहीं तब मैं आपको मनाने बैठ जाती हूँ। *देखि रहौं०*—मैं आपको देखती ही रहती हूँ। जब किसी प्रकार होश में आने पर मैं आपको नहीं देख पाती तब जलने लगती हूँ, व्यथित हो जाती हूँ। यदि इतना ही समाचार मिल जाता है कि आप मिल जाएँगे तो इस समाचार के सुनने मात्र से ऐसी स्थिति हो जाती है कि सुखपूर्वक मैं सारा दुःख सह लेती हूँ। बिना आपके आए झूठमूठ ही कोई ऐसा कह भर देता है तब मैं ऐसा अनुभव करती हूँ। पर आप आते कहाँ हैं, कहनेवाले पर विश्वास करके मैं मान बैठती हूँ। जब आपके आने के समाचार में ऐसी शक्ति है तो फिर आपके प्रत्यक्ष दर्शन का प्रभाव क्या है, आप ही समझें। *जान तिहारी०*--मैंने आपकी शपथ कभी नहीं की है। आज आपकी शपथ कर रही हूँ कि आप सच मानें मेरे निकट क्या, संसार में आपके अतिरिक्त दूसरा कोई है ही नहीं जो मेरी दशा को समझ सके। ऐसी स्थिति में किसी को सुनाना भी व्यर्थ है। आपको ही सुना रही हूँ, यद्यपि आप साक्षात् संमुख नहीं उपस्थित हैं। *यौं घनआनँद०*—आप हैं आनंदघन और मैं हो गई विषादघन। आनंद में दिनरात ऐसे बीतते हैं कि उनका समाप्त हो जाना ही बुरा लगता है। पर विषाद में वे बीतते ही नहीं। आपका काल्पनिक आलिंगन आदि तो रात में करती हूँ, पर रात बीतती नहीं, उसी में चकित होना, चौंकना, लड़ना, मानना होता है। दिन में आपके आने के समाचार से उतावली होती है कि आप जल्दी क्यों नहीं आते तब दिन भी नहीं बीतता। आपके दिन रात भली भाँति बीत रहे हैं उनके बिताने की प्रक्रिया आप पूर्णतया जानते हैं। तो फिर

किससे पूछूँ आप ही से पूछ रही हूँ कि इन्हें अपने ढंग से व्यतीत करने का मार्ग मुझे भी बता दीजिए।

पाठांतर—*न बितीतत* = नहिं बीतत।

गई सुधि अंग भई मति पंग नई कछु बात जनावति हौ न।
दुराव कियें कहा होत सखी रँग और भयौ ढँग उत्तर कौ न।
हियें धरको तन स्वेद जग्यौ अरु ऐसी जँभानि की बानिहु तौ न।
बढ़ायहै वेदनि साँच कहौ *घनआनँद* जान चढ़े चित जौ न।१५१।

प्रकरण—सखी ने नायिका या गोपिका का प्रिय या श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम लक्षित कर लिया। प्रिय की प्रेमप्राप्ति से जैसी अनुगामिनी की स्थिति होती है वैसी ही उसकी देखकर सखी उससे प्रश्न करती है, पर प्रश्नों का उत्तर न पाने पर यह समझ लेती है कि श्रीकृष्ण के प्रति इसका अनुराग है। तब सावधान करती है कि यदि कहीं घनआनंद सुजान तेरे चित्त पर चढ़ गए हैं तो सत्य सत्य बता दे मैं अभी से उपाय करूँ। अन्यथा समझ ले कि वे तेरी वेदना बहुत बढ़ा देंगे। फिर मेरे लिए भी सँभालना कठिन हो जाएगा। तू बेहाथ हो जाएगी। तेरी दशा कैसी हो रही है। न तो अंगों की सुध, न बुद्धि ही व्यवस्थित है। यदि सब पहले का सा ही है तो ऐसा हुआ कैसे। कोई नई बात हुई है जिसे तू बतला नहीं रही है। पर छिपाने से कोई बात मुझसे छिपेगी। तेरे शरीर का रंग ही कुछ दूसरा हो गया है। उत्तर देने का कोई मार्ग ही नहीं है। मेरी बात अस्वीकृत की ही नहीं जा सकती। कुछ नया अवश्य हो गया है। देख न, दिल में धड़कन हो रही है, शरीर में पसीना हो रहा है, जँभाइयाँ आ रही हैं। पहले तो ऐसा नहीं था। तेरी टेक से मैं परिचित हूँ।

चूर्णिका—*गई०* = शरीर की सुध भूल गई। *भई०* = बुद्धि भी लँगड़ी हो गई; ठिकाने नहीं है। *नई०* = और तुम इतने पर भी कह रही हो कि मुझे कुछ हुआ ही नहीं, कोई नई बात ही नहीं। *दुराव* = छिपाव। *रँग०* = मुख का रंग दूसरा (विवर्ण, पीला) हो गया है, तेरे पास इसका कोई उत्तर नहीं है कि ऐसा क्यों हुआ। उत्तर देने का कोई ढंग भी नहीं दिखाई देता। रंगढंग विलक्षण हो रहे हैं। *धरको* = धड़कन। स्वेद

जग्यौ = पसीना हो रहा है। *तौ न* = तो भी नहीं। *अरु०* = जैसी जँभाई तू ले रही है ऐसी तेरी बात कभी देखी नहीं गई। *जौ न* = यदि कहीं ऐसा न हुआ तो। *बढ़ायहै०* = कहीं घनआनंद तो तेरे चित्त पर नहीं चढ़े हैं, यदि कहीं ऐसा होगा तो समझ रखो कि वेदना बहुत बढ़ जाएगी। अतः अपने भले के लिए सच्ची-सच्ची बातें मुझे बता दो।

तिलक—हे सखी, तुम्हें अंगों की सुध नहीं है, बुद्धि भी ठिकाने नहीं है। मैं पूछती हूँ कि कोई नया समाचार है तो कुछ प्रकट ह़ीं नहीं कर रही हो। इस प्रकार मुझसे भी दुराव-छिपाव करने से तुम्हारी कोई भलाई न होगी। तुम्हारा रंग पहले से बदल गया है और फिर भी मेरे प्रश्नों का उत्तर देने का कोई ढंग तुममें नहीं दिखाई दे रहा है। रंग ही नहीं बदला है, हृदय में तेज धड़कन हो रही है। देह में पसीना उठ आया है और तो और जँभाई भी आ रही है। पहले तो कभी इस प्रकार जँभाई लेने की तेरी टेव नहीं देखी गई। एक नहीं कई संकेत ऐसे हैं जो कुछ नई घटना घटित होने की सूचना दे रहे हैं। कहीं ऐसा तो नहीं है कि तुम्हारे चित्त में सुजान घनआनंद चढ़ गए हों। सच सच बतला दो, अन्यथा समझ लो कि वेदना ऐसी बढ़ जाएगी कि किसी से भी सँभल न सकेगी। मैं भी कुछ न कर सकूँगी। तुम्हारे भले के लिए तुझसे पूछ रही हूँ।

व्याख्या—*गई सुधि०*—सुध तो एकदम समाप्त हो गई। बुद्धि चौपट नहीं हुई केवल लँगड़ी भर होकर रह गई है। वह भी चली गई होती तो तुम पगली हो गई होतीं। अब कुछ बुद्धि अभी टेढ़ी-सीधी बनी है तो क्यों नहीं कोई बात व्यक्त कर देतीं। कुछ तो बता दो, सब मत बताना। इतना ही संकेत मिल जाए कि इस सबका कारण क्या है। कोई रोग है या किसी के साथ प्रेम का योग है। *दुराव कियें०*—छिपाव करने से क्या होगा। बातें तो प्रकट हो ही गई हैं। रंगढंग ही कुछ दूसरा हो गया है। तुम्हें उत्तर देने का ढंग ही नहीं आता। यह स्पष्ट है कि ये चेष्टाएँ या ये स्थितियाँ तुम्हारे बस की नहीं थीं। आपसे ही हो गई हैं। ये सब सात्त्विक भाव हैं। *हिये धरकों०*—हृदय में तेज धड़कन, प्रस्वेद और जृंभा सभी से भीतरी परिवर्तन का संकेत मिल रहा है। यह सहज नहीं है, नैसर्गिक नहीं है अभ्यासवश नहीं

है। आरोपित है, प्रेरित है। जो चेष्टाएँ अभ्यास से होती हैं। उनमें कुछ व्यक्त नहीं होता। साफ ज्ञात हो जाता है कि ऐसी प्रकृति ही है। पर यह तो विकृति है। पहले तुममें ऐसा कभी नहीं देखा गया। सखी होने के नाते तुम्हारे तौर तरीकों से मैं भली भाँति परिचित हूँ। *बढ़ायहै बेदनि०*—जैसे रंग-ढंग हैं वे प्रायः तभी होते हैं जब सुजान चित्त में आ जाते हैं। पर तुमने बिना जाने-समझे उनको मन में बसा लिया है। ये सुख बढ़ानेवाले नहीं, बेदना बढ़ानेवाले हैं। अभी चित्त में चढ़े ही भर हैं। कहीं बैठ गए तो फिर सँभल सकना कठिन हो जाएगा। पहले तो तुमने झूठ ही बोलकर बहाना बताया। अब तो सत्य कह दो, मैंने सब कुछ लक्षित कर लिया है।

पाठांतर—*जनावति*=जतावति।

(कबित्त)

कहौं जौ संदेसो ताको बड़ोई अँदेसो आहि
न्हानै मन वारे की कहैब को सुनै सु कौन।
निधरक जान अलबेले निखरक और
दुखिया कहैब कहा तहाँ कों उचित हौ न।
परदुख दल के दलन कौं प्रभंजन हौ
ढरकौहैं देखिकै बिबस बकि परी मौन।
इत की भसमदसा लै दिखाय सकत जू
लालन सुवास सों मिलायहू सकत पौन।१५२।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के निकट पवनदूत भेजना चाहती है। वह पवन से कहती है कि मैं तुम्हारे द्वारा संदेश भेजना चाहती हूँ। तुम दोनों कार्य कर सकते हो। मेरी यहाँ की भस्मदशा की राख उड़ाकर प्रिय को दिखा भी सकते हो और प्रिय की सुवास यहाँ ला भी सकते हो। आपका कार्य ही है दूसरे के दुखों का दलन करना। नाम ही प्रभंजन है। आपको द्रवीभूत देखकर विवशता से कुछ कहकर आपको वहाँ भेजना चाहती हूँ। आपसे संदेश भी क्या कहूँ। चुप रहना ही ठीक है। संदेश कहने में खटक है। मैंने छुटपन में ही प्रिय पर मन निछावर कर दिया। उसे क्या कहूँ और कौन इसे सुनना चाहेगा। उधर प्रिय बेधड़क हैं, उन्हें कोई खटक नहीं, वे अलबेले

हैं। वे सुखी हैं मैं दुखिया हूँ। सुखी से दुःख की बात करना उचित नहीं। आप ही समझकर संदेश दे दीजिएगा। कुछ कहिएगा नहीं तो मेरी दशा की राख तो पहुँचा ही दीजिएगा।

चूर्णिका—*अँदेसो* = (अंदेशा) खटका । *आहि* = है । *वारे०* = वारने की (बात)। *कहैब* = अब कहे। *न्हानै* = छुटपन से ही। *कहैब०* = मेरे छुटपन से ही मन वारने की बात (संदेश) अब कौन प्रिय से जाकर कहे और कौन सुने। *सुनै०* = ऐसा कौन है जो सुने। सु=सो, वह। *निखरक०* = बेखटके रहनेवाले के प्रति मैं दुःखी अब क्या संदेश भेजूँ। मैं संदेश अपने दुःख का ही दूँगी और यह वहाँ के लिए उचित न होगा। क्योंकि मेरे दुःख के संदेश से उनकी निश्चिंतता में बाधा ही पड़ेगी। *पर०* = दूसरे के दुःखसमूह के नाश के लिए हे पवन, तू प्रभंजन (प्रकर्ष रूप में भंजित कर देनेवाला) बनता है। *दल* = समूह; पत्ते। *ढरकौंहैं०*= ढलता हुआ, अनुकूल (पवन की प्रवृत्ति अनुकूल रहने की है)। *मौन०* = मैं तो मौन थी, पर तुझे अनुकूल देखकर विवश होकर बोल पड़ी। *भसम०* = भस्म करनेवाली, राख। *लालन०* = प्रिय की सुगंध लाकर उससे भी मिला सकते हो। तुम दोनो काम कर सकते हो, भस्म उड़ाकर ले भी जा सकते हो और सुगंध ला भी सकते हो। मेरी भस्म (दाहक) रूप दशा इस प्रकार वहाँ पहुँच सकती है और उनका पता मुझे मिल सकता है। 'गंध मिलना' मुहावरा है, जिसका अर्थ होता है 'पता चलना'। यहाँ दुहरे अर्थ में इस मुहावरे का प्रयोग किया गया है।

तिलक—विरहिणी पवन से कह रही है कि पवन, मैं यदि किसी से संदेश कहती हूँ तो उसका यही खटका बना रहता कि मैंने छुटपन में ही अपने मन को प्रिय पर निछावर कर दिया ऐसे प्रिय के प्रति संदेश ले जाना है कि आप मुझपर इतने निष्ठुर क्यों हैं। यह संदेश मैं किस प्रकार कहूँ। जो कुछ वेदना हो रही है उसकी अभिव्यक्ति एक तो शब्दों में हो नहीं पाती : दूसरे कोई मेरे ऐसे संदेश को सुनने को प्रस्तुत ही नहीं है। किसी को मेरी बातों का विश्वास ही नहीं होता। बालपन का प्रेम कोई नहीं भूलता। पर प्रिय इतने निधड़क हैं, ऐसे अलबेले हैं और ऐसे निखटक कि

यदि किसी प्रकार संदेश सुनने को कोई प्रस्तुत भी हो जाए तो कहूँ कैसे। ऐसे व्यक्ति के प्रति दुःख या वेदना का संदेश भेजना उचित ही नहीं प्रतीत होता। उनकी निश्चिंतता में मैं ही क्यों बाधक बनूँ। मेरे दुख के संदेश से उनके सुख में अवरोध क्यों उत्पन्न हो। फिर सुननेवाले संदेश सुन भी लें तो उसका भुगतान करें या न करें। उनमें परकष्ट के निवारण की वृत्ति हो तभी तो वे संदेश ठीक ठीक वहन करेंगे और उसको यथास्थान कहेंगे संसार में ऐसे व्यक्ति मिलते ही कहाँ हैं। पर आप तो दूसरे के दुःखों को उसी प्रकार दलन कर देते हैं जैसे पत्तों को सुखाकर और चूर-चूर कर देते हैं। आपका प्रभंजन नाम इसी से पड़ा कि आप दूसरे के दुःखों को प्रधान रूप से भंजित (खंडित) कर देनेवाले हैं। यद्यपि मैं अपना संदेश कहना नहीं चाहती थी, मौन ही रही हूँ अब तक, मैंने देखा कि आप मेरे प्रति अनुकूल प्रतीत हो रहे हैं तो विवश होकर मैंने आपके सामने मुँह खोल दिया, अपनी वेदना कह दी। पर मूलतः मेरी वेदना अनिर्वचनीय है। वचनों से कही नहीं जा सकती। हाँ, मेरी विरह-दशा यदि किसी प्रकार प्रियके संमुख प्रदर्शित हो जाए तो वास्तविकता का उन्हें बोध हो सकता है। आपमें विशेषता है कि मेरी विरहदशा रूपी भस्म को ले जाकर प्रिय को दिखा सकते हैं। भस्म कर देनेवाली मेरी विरहदशा, अब भस्म ही भस्म रूप में शेष है, उसी से मेरी स्थिति का संकेत मिल सकता है। आप ही ऐसे हैं कि मेरी दशा की राख उड़ाकर वहाँ पहुँचा सकते हैं। यही क्यों, दूसरा यदि संदेश पहुँचा भी दे तो प्रिय की सुवास यहाँ तक नहीं ला सकता। पर आप उनकी सुवास भी यहाँ ला दे सकते हैं। दूसरे को तो उनकी गंध तक नहीं मिलती, उनका पता ही नहीं चलता कि वे कहाँ हैं। इस प्रकार आप ही सर्वथा मेरे और उनके बीच ठीक ठीक माध्यम का कार्य कर सकते हैं। इसी से आपसे निवेदन कर रही हूँ।

व्याख्या—*कहौं जौ०*—बड़ा अंदेशा इसलिए कि न कहा जाता है है और न सुना जाता है। संदेश कहा सुना जाए तभी तो काम बने। पहले तो संदेश मैं कह सकूँगी इसमें संदेह। फिर कोई सुनेगा इसमें भी संदेह है। छुटपन के प्रेम जिससे हो जाए उसकी ऐसी करनी हो तो कहनेवाला क्या कहे। कहते समय इसकी वेदना होती है कि मौन रहने के अतिरिक्त

कोई चारा नहीं। फिर सुनने ही वाला कोई नहीं। इतनी वेदना कोई धारण ही नहीं कर सकता। सभी उससे भाग खड़े होते हैं। सुनने पर फिर विश्वास ही नहीं करते। सुनकर मेरे संतोष के लिए सांत्वना दे दें कि मैं समाचार पहुँचा दूँगा तो मुझे विश्वास नहीं कि वे ऐसा ठीक ठीक कर सकेंगे। *निधरक जान*०—सुजान के तीन विशेषण हैं। पहला है 'निधरक'। इसका तात्पर्य यह है कि अपनी ओर से किसी प्रकार का कार्य करने में उन्हें अवरोध नहीं है, बेधड़क जो करना चाहते हैं कर डालते हैं। दूसरा है 'अलबेले'—मर्यादा का बिना बिचार किए जो मन में आए उसे करनेवाले, निर्मर्याद। तीसरा विशेषण निखरक है। जो कार्य कोई करता है उसमें दूसरों से संकोच भी करता है। मैं जो कर रहा हूँ उस पर दूसरे क्या कहेंगे इसका खटका रहता है। जो ऐसे खटके की परवा न करे वह निखरक हुआ। किसी की कोई चिंता न कर काम करने वाला। न उन्हें अपनी ओर से कोई चिंता है, न किसी कार्य की कोई चिंता है और न किसी दूसरे की ही चिंता है। इतना जो निश्चित हो उसे दुखिया के प्रति पहले तो कोई समानुभूति ही नहीं होगी। जो औचित्य का विचार ही न करता हो उसको दुखी यदि अपनी वेदना सुनाएगा तो इसी आशा से कि किसी के कष्ट को दूर करना भी सामाजिक औचित्य है। इस औचित्य की ओर ऐसे का ध्यान आकृष्ट करना जो औचित्य-त्यक्त है बेकार है, निष्प्रयोजन है। यदि कोई औचित्य का ध्यान नहीं रखता तो भी दूसरे को रखना ही चाहिए। मैं औचित्य की दृष्टि से उनके सुख को भंग नहीं करना चाहती। मैं दुखी हूँ तो दुखी रहूँ पर मेरे लिए मेरे प्रिय को दुख उठाना पड़े या उनके सुख में बाधा हो यह ठीक नहीं। *परदुख*०—दूसरे का एक दुख दूर कर दे ऐसा मिल सकता है। पर ऐसा कहाँ मिलता है जो दुखों की सेना को ही दूर कर दे। 'प्रभंजन' नाम आपको इसी लिए मिला कि आप दूसरों के दुख दूर करते हैं, इसलिए नहीं कि अंधड़ या तूफान होकर तोड़-फोड़ या नष्टभ्रष्टता में लगते हैं। वायु को प्राण कहते हैं। वायु न हो, साँस न हो तो मृत्यु ही है। आप दूसरों के प्राण बचाते रहते हैं। दुख को दूर करते हैं और सुख देते हैं। आपमें 'ढरक' है, द्रवणशीलता है अनुकूलता है। दूसरा तो इस प्रकार सुमुख होता ही नहीं। वायु अनुकूल

हो तभी सारे कार्यव्यापार चलते हैं। आपकी अनुकूलता ने ही मुझे विवश कर दिया। इसी से कुछ कह गई, अन्यथा मैं चुप ही रहनेवाली हूँ। संदेश भी देना ठीक नहीं। बता ही चुकी कि संदेश निरर्थक है। सुनने से मेरी दशा का क्या ज्ञान होगा। इस दशा को दिखाना कहीं उत्तम है। प्रयोजन की सिद्धि हो सकती है। प्रिय सामने आ जाए तो यह स्थिति ही नहीं रहेगी। उन्हें परोक्ष में मेरी वास्तविक स्थिति को और कोई दिखा नहीं सकता। *इत की असम०*—आप इधर जो भस्मीभूत स्थिति है उसे बता सकते हैं। अंधड़ की भाँति अंतःकरण में कुछ होता रहता है। जो झंझाझकोर इधर है, आप उसको प्रदर्शित कर सकते हैं। प्रभंजन रूप में राख से धुंध दिखा सकते हैं। फिर दूसरा उनकी सुवास नहीं ला सकता। मेरी भस्मदशा को प्रिय की सुवास से सुवासित करनेवाला दूसरा कहाँ है, कौन है।

व्याकरण—'आहि' क्रिया अवधी में अब भी है। सामान्यतया यह अवधी की क्रिया ही मानी जाती है, पर व्रज, अवधी आदि के विकास के पूर्व यह उभयनिष्ठ रही होगी। पूर्वी अवधी में 'आह', पश्चिमी अवधी में 'आय' और व्रजी में 'ऐ' (है) रूप हो जाता है।

पाठांतर—*कहैब* = कहौब। *सुनै* = सुनौ। *कहैब* = कहै या। *तहाँ को* = तहाँ की।

(सवैया)

मुखनेह रखाई दिखाई मरौं इत की तौ चिन्हारि रही न उनै।
रचि कौन से घात लियौ है हियो बिन हेरें न जीव बिचारि गुनै।
घनआनँद ऐसी दसानि घिरयौ दुखिया जिय सोचनि सीस धुनै।
अब ऐसी भई उन जान हई दई कूक करौं पै न कोऊ सुनै।१५३।

प्रकरण—विरहिणी अपनी वियोगदशा का विवरण दे रही है। प्रिय की उपेक्षा और अपने लिए प्रिय की अपेक्षा का वर्णन कर रही है। प्रिय ने केवल ऊपरी स्नेह दिखाया, स्नेह का दिखावा किया। ऐसा भूले कि मेरी पहचान भी भूल गए। न जाने कैसे दाँव-पेच से हृदय चुराया कि उन्हें बिना देखे प्राण जीना भी नहीं चाहते। ऐसी कठिन विरहदशा में प्राण चिंता

से सिर पीट रहे हैं। उन्होंने ऐसा मारा कि मैं वेदना में चिल्लाती हूँ पर कोई सुननेवाला ही नहीं।

चूर्णिका—*मुखनेह* = मौखिक स्नेह या मुखदेखा स्नेह। *मुख०* = आपके मुँहदेखे स्नेह (प्रेम; तेल) की रुखाई (उदासीनता; रूखापन) दिखाई पड़ गई (विरोधाभास) इसीलिए मर रही हूँ, अत्यंत कष्ट पा रही हूँ। *चिन्हारि* = जान-पहचान। *उनै* = उन्हें। *इत की०* = यहाँ की (मेरी) तो उन्हें जान-पहचान ही भूल गई है। *घात* = दाँव, छल। *रचि०* = न जाने कैसी घात रचकर मेरा हृदय ले (चुरा) लिया है। *बिन०* = आपको बिना देखे मेरा जी जीने का विचार ही नहीं करता या अपने अस्तित्व को ही नहीं समझ पाता। *सीस०* = सिर पीट रहा है। *उन०* = उन सुजान ने मुझे मार डाला। *दई* = दैव। *कूक०* = चिल्लाती हूँ, रोती हूँ।

तिलक—प्रिय सुजान घनआनंद के मुँहदेखे स्नेह की रुखाई भली भाँति दिखाई पड़ गई है। इसी से मर रही हूँ, अत्यंत कष्ट पा रही हूँ। हाय! मेरी जान-पहचान तक उनमें नहीं रह गई, पहचान तक को भुला बैठे वे। कैसा छल रचकर उन्होंने मेरा हृदय चुराया, ऐसा चुराया कि उसकी वृत्ति विलक्षण हो गई। बिना देखे जो अपना कोई अस्तित्व ही नहीं समझ पाता, जीना निरर्थक सोचता है। इस प्रकार की कष्टदायिनी दशाओं से घिरा जो केवल नाना प्रकार की चिंताओं से सिर भर पिटता रहता है। अपनी अत्यंत विवशता का अनुभव करता रहता है। हे दैव, अब मेरी स्थिति तो यह हो गई है कि उन सुजान ने तो मुझे मार डाला और मरते समय अत्यंत वेदना, मरणांतक वेदना से चिल्ला रही हूँ। कोई नहीं सुनता, न प्रिय सुनते हैं न तू ही सुन रहा है, औरों की तो कथा ही क्या!

व्याख्या—*मुखनेह०*—उनके मुख पर ही स्नेह दिखाई पड़ा, भीतर तो है ही नहीं, मेरे सामने स्नेह रहता था, फिर उसका पता मुख पर भी नहीं चलता था। मेरे प्रति स्नेह से उन्होंने जो उदासीनता दिखाई, उसमें जीवन के कण ही नहीं हैं। उसमें अमृतत्व नहीं है। मेरा स्नेह उन्होंने मेरे संमुख किया। फिर मैं मरूँ न तो क्या करूँ। उनमें मेरे परिचय की एक रेखा तक

नहीं रही। मेरी ही नहीं, मेरे चतुर्दिक् जो कुछ है उसकी भी कोई रूपरेखा वहाँ नहीं रह गई। मुझे ही नहीं, मेरे पूरे संसार को वे भूल गए। उसके अस्तित्व को ही समाप्त कर दिया। *रचि कौन०*—कैसा छल किया कि कुछ भी संकेत नहीं मिला कि कपटव्यवहार किया जा रहा है। हृदय तो इस प्रकार चुराया कि वह उन्हीं की खोज में रहता है। उनको बिना देखे मेरे प्राणों ने यही समझ लिया कि जैसे होना वैसे न होना। मुझमें अपना अस्तित्व ही नहीं रह गया। यदि कोई सत्ता रह गई है तो बस केवल उनकी ही सत्ता इन प्राणों में शेष है। *घनआनँद०*—घनआनंद ने ऐसी दशाओं से घेरा, आनंद से न घेरकर विषाद से घेरा। उनके आनंदरूप में ऐसा विषाद घिरा था, उनका आनंद केवल विषाद होकर ही मुझे मिला, क्या अब कभी उनकी सुमुखता न होगी, आदि आदि चिंताओं से जी के लिए सिर पीटने के अतिरिक्त कोई मार्ग नहीं है। चिंतन मस्तिष्क से ही होता है, उसी को पीटकर चिंताओं को शांत करने का प्रयास होता है, पर वे कब शांत होती हैं। *अब ऐसी०*—अब हे दैव, मेरी यही स्थिति है, न जीने में न मरने में। उन्होंने तो मार ही डाला, पर फिर भी जी रही हूँ और विकट वेदना से चिल्लाती रहती हूँ। चिल्लाना ही जीवन हो गया है। पर जब प्रिय ही मेरी नहीं सुनता तब फिर और कोई क्यों सुनने लगा। हे दैव, तू ही मेरी पुकार सुन ले। जब जगत् का कोई अनुकूल नहीं रह जाता तब भगवान् तक पुकार पहुँचाने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं रह जाता।

पाठांतर—*दिखाई* = दिखास। *चिन्हारि* = चितार। *घिरयौ* = घिरें। *ऐसी* = कैसी।

(कवित्त)

अंतर में रहति निरंतर जगी सुजान
तहाँ तुम कैसें सोयवे कौं घर कै रहे।
गुपत लपट जाकी तन ही प्रगट करै
जतननि बाढ़ै गुरुलोग अर कै रहे।
सीरी परि जात रोम रोम *घनआनँद* हो
और या के कोटिक बिकार भर कै रहे।

बारिद सहाय सों दवागिनि दबति देखौ
विरह दवागिनि तें नैना झर कै रहे।१५४।

प्रकरण—विरहिणी विरहाग्नि की विलक्षणता पर विचार कर रही है और प्रिय को संबोधित करके वह रही है। यह दावाग्नि मेरे अंतःकरण में निरंतर प्रचंड रूप में जलती रहती है पर हे प्रिय आप उसी में निश्चित रूप में सोने का प्रबंध किए पड़े हैं। उस अग्नि की गुप्त लपटों का संकेतमात्र केवल शरीर से चलता है, भीतर ही भीतर यह सुलगती है, उसे दूर करने को गुरुजन अड़े हुए हैं, पर जितने यत्न उसे हटाने के होते हैं उतना ही वह बढ़ती है। आग के होते भी मैं रोएँ रोएँ से ठंढी पड़ती जाती हूँ, इसी प्रकार के उलटे-सुलटे इसके अनेक विकार भरे हुए हैं। बादलों की वृष्टि से दावाग्नि बुझती है बेचारे नेत्र झड़ी लगाए हुए हैं कि वह बुझे, पर कहाँ बुझती है। उसी आग ने नेत्रों में वृष्टि की स्थिति पैदा कर दी है।

चूर्णिका—*अंतर०* = हृदय के भीतर। *जगी* = विरह की दावाग्नि प्रज्वलित रहती है। *तहाँ०* = वहाँ आप सोने के लिए घर कैसे बना रहे हैं (जहाँ आग जगी रहती है वहाँ सोना विरोध है)। मैं तो आपके विरह में रोती कलपती रहती हूँ और आप सोए ही रहते हैं, मेरे विरह की आग या रोना कलपना आपको प्रभावित नहीं कर पाता। *गुपत०* = उस दावाग्नि (शरीर के भीतर) की गुप्त लपटें शरीर से ही (उसके छूने मात्र से) जान पड़ती हैं (शरीर में इतना ताप है कि उसे छूकर ही भीतर की प्रचंड आग की कल्पना की जा सकती है)। जब बाहर यह दशा है तब भीतर न जाने क्या दशा हो। *जतननि०* = यत्न करने से यह उलटे बढ़ती है। *गुरु०* = बड़े बूढ़े लोग। *अर०* = इसे शांत करने के लिए अड़े हुए हैं, पर व्यर्थ। *सीरी* = ठंढी। *सीरी०* = (इस आग की विलक्षणता यह है कि) इसके कारण रोएँ रोएँ में ठंढक पड़ जाती है, मेरे रोएँ रोएँ में शिथिलता बढ़ती जा रही है, मैं ठंढी पड़ती जाती हूँ, मरी जा रही हूँ (आग में सीरी बिरोध है)। *और०* = और भी न जाने कितने ही (करोड़ों प्रकार के) विचित्र विचित्र रूप-रंग वाले इसके विकार मेरे शरीर में भर रहे हैं। *बारिद०* = बादल की सहायता (जलवृष्टि) से वह

दावाग्नि शांत हो जाती है, किंतु यह विलक्षण दावाग्नि है. शांत होने की कौन कहे यह तो आप ही नेत्रों से आँसू बरसाती रहती है (विरोधाभास)।

तिलक—विरहिणी विरहाग्नि की विलक्षणता बतला रही है। अंत:करण में यह आग निरंतर जगती रहती है–वियोगी की आग है, विशेष योगी की आग है--योगी की भाँति जगती हीं रहती है उस आग में, जगती आग में सोना, सोने के लिए घर बनाना विलक्षणता है। जहाँ आग तक जग रही है वहाँ कोई सोने का प्रबंध करे यह विचित्रता है। इसकी लपटें भी गुप्त हैं। आग प्रचंड हो, फिर भी लपट न हो ऐसा नहीं होता। पर इसमें लपटें ही नहीं हैं, हाँ, शरीर से उन लपटों का अंदाज लग जाता है। शरीर को स्पर्श करके जाना जा सकता है कि उसकी प्रचंडता क्या होगी। इसकी विचित्रता यह भी है कि यह यत्नों से बढ़ती है यद्यपि बड़े लोग इसे शांत करने के लिए अड़े हैं। अपने अनुभव से वे जानते हैं कि शांत कैसे किया जा सकता है। पर उनके यत्नों का कोई प्रभाव नहीं। यह बढ़ती ही जाती है। फिर इसकी विचित्रता यह भी है कि इतनी आँच होने पर भी मैं प्रत्येक रोएँ से ठंढी होती जा रही हूँ शरीर में चरम कोटि की शिथिलता आती जा रही है। और भी इस आग के अनेक विकार भर रहे हैं। धुआँ होता है, राख उड़ती है, कालिख फैलती है आदि आदि। जगत् में सबसे प्रचंड अग्नि दावाग्नि होती है, वह और प्रकार से नहीं शांत होती, पर बादल की वृष्टि होने पर वह भी शांत हो जाती है। इसकी शांति किसी पानी से क्या होगी। इस नूतन आग से तो उलटे नेत्रों में ही वृष्टि हो रही है। भीतरी वेदना से ही तो आँसू भी प्रेरित हैं।

व्याख्या—*अंतर मैं०*—अंतर में रहती है पर निरंतर (निर्+अंतर= अंतररहित भी) है। कोई आग निरंतर जगी नहीं रहती, कुछ समय के लिए जगी रहती है, फिर कम हो जाती है। इनमें एक यह भी विचित्रता है कि नैरंतर्य कम नहीं होता। प्रिय की विचित्रता यह कि आग को शांत किए बिना सोने का प्रबंध कर रहे हैं। यह चिंता भी नहीं कि सोते समय यह आग मेरे घर को भी जला देगी और मुझे भी जला दे सकती है। जगत् में ऐसा निश्चित व्यक्ति नहीं देखा जाता। जिस डाल पर कोई बैठा हो

उसी को काटने लगे तो लोग उसे मूर्ख कहते हैं। आग चारों ओर लगी हो उसमें कोई सोने लगे तो उसे भी ऐसा ही कुछ कहेंगे लोग। पर आपका तो नाम ही सुजान है। सुजान होकर अज्ञान का व्यवहार यह भी विचित्रता है। प्रिय में विचित्रता है, मेरे विरह में भी विचित्रता है। *गुपत लपट०*— वह आग स्थूल आग से भिन्न है। इसमें सूक्ष्मता है, इसकी लपटें गुप्त हैं, अव्यक्त हैं। पर गुप्त होकर भी प्रकट हो जाती हैं। यह भी विचित्रता है। तन (तनु=छोटा) इसे प्रकट कर देता है उधर गुरु (बड़े) लोग अड़े रहें तो भी उसकी शांति संभव नहीं। यह भी विचित्रता है। 'तन' प्रगट करता है और ज-तन से बढ़ती है। जागतिक प्रयास उसे बढ़ानेवाले हैं। गुरु लोगों के यत्न भी उनकी अड़ भी 'अरकै' (अकैं=अर्क ही, सूर्य ही) होती है। ताप बढ़ाती है। यह भी विचित्रता है। *सीरी-परि०*--यह आग है पर मैं इसके रहते भी ठंढी हो रही हूँ। यह भी इसकी विचित्रता है। जिन रोमों में घनआनंद थे उनमें इसकी ठंढक आ गई है। प्रचंड ठंढक से रोएँ खड़े होते हैं, रोमांच हो जाता है। उधर आग प्रचंड और इधर शीतलता भी प्रचंड। केवल शीतलता ही नहीं और भी इसी प्रकार के विकार इसकी विचित्रता को बढ़ाते हैं। शरीर में वे भी भर गए हैं। एकका वर्णन आगे है ही। इस आग से पानी की, आँसू की, वृष्टि होती है। इसमें धूआँ नहीं होता, पर धुएँ का कष्ट होता है, आग से प्रकाश होता है, पर इससे अंधकार बढ़ता है। आग में राख होती है पर यह विना राख की आग है, फिर भी राख किए डाल रही है। *बारिद सहाय०*--दावाग्नि (वन की आग, दाव=वन) बादलों की वृष्टि से शांत होती है सबसे प्रचंड होकर। आँसुओं की वृष्टि से यह दबती नहीं, क्योंकि यह तो इन आँसुओं को स्वयम् ही उत्पन्न कर रही है। झर वृष्टि को भी कहते हैं, पानी की झड़ी को भी कहते हैं और झर ज्वाला को भी कहते हैं। नेत्रों से उसकी झर (आग) ही तो बरस रही है।

पाठांतर—*तन* = तम। इस आग से प्रकाश न होकर केवल अंधकार ही अंधकार होता है। *बिरह दवागिनि* = बिरह नवागिनि। नवाग्नि=नए ढंग की आग, विचित्र आग।

में पड़े कान अपनी वेदना को भूल जाते हैं, वे भी अमृत हो जाते हैं। उन बातों के बिना कानों को किस रस का पान कराऊँ। अन्य सारे वचनरस उस श्रवणामृत के सामने विषपान की भाँति हैं। हे प्रियतम, मन पीड़ा से मर रहा है आपके दर्शनों से बहल जाता था, श्रवणामृत बातों से जी जाता था। पर इनके न मिलने से अब मर जाने को है। इस मरणतुल्य वेदना से दुःखी मन को कैसे वहलाया जाए। आपसे परिचय था, अन्य किसी से तो इसका परिचय न था और न होने की संभावना ही है। कानों में भी अनन्यता है और मन में भी। मैं अब भी निराश नहीं हूँ। मरते जी को अभी मैं धारण किए रहना चाहती हूँ। पर मेरा शरीर उनके रहने योग्य तो है नहीं। उन्हें इस शरीर से निकालकर कहाँ रखूँ। केवल आपके आश्रय में ही ये रह सकते हैं। अन्यत्र नहीं। प्राणों में भी अनन्यता है।

व्याख्या—*जान छबीले०*—आप सुजान हैं आप ही बता सकें तो बता सकें दूसरे में कोई शक्ति नहीं। आप जैसे छबिमान् हैं वैसा कोई दूसरा है ही नहीं। यदि हो तो आप ही बता दें। आपके न दिखने पर ये आँखें न तो किसी को देखने योग्य ही रह जाती हैं न देखती ही हैं। इनकी मर्मवेदना आपके अतिरिक्त कोई समझ नहीं सकता। *स्रौन सुधाई०*—आपकी बातें श्रवणामृत भी हैं। और उनमें सिधाई भी है। दूसरों की वाणी कानों को विष ही नहीं लगती वंकिम भी लगती है। कानों की प्यास बहुत बढ़ गई है बिना पिए इनका मरण हो रहा है। पिलाने में जबर्दस्ती की जाए तो उसे वे पीते ही नहीं। *हाय मरयौ०*—आप हैं प्रियतम, आपसे परिचय हुआ, प्रेम हुआ, फिर परम प्रेम हो गया। इसमें जितना समय लगा वह मेरे पास कहाँ है कि किसी से परिचय प्राप्त करूँ और प्रेम करूँ। मन तो पीड़ा में पड़ा है मर सा गया है। इस प्रकार के आयास करना भी चाहे तो नहीं कर सकता। इस दुःखी को बहलाने के लिए सुख चाहिए और संसार में सभी दुःखी दिखते हैं। सुख यदि है और इसे सुख मिल सकता है तो आप से ही। *चाहत जीव०*—आशा का परित्याग अब भी नहीं किया है, नैराश्य नहीं आया है। जी को अब भी धरे रखना चाहती हूँ। कहाँ रखूँ, कहाँ रक्षा हो, आपके अतिरिक्त

आनंदघन और है ही कौन। आपकी शपथ इसी से कर रही हूँ कि प्रियतम की शपथ कोई साधारण स्थिति में नहीं करता। मेरी स्थिति असाधारण है। स्थान ही नहीं, टिकने के स्थान में प्रवेश करने की संधि भी नहीं मिल रही है। स्मृति ही ठिकाने नहीं है। बुद्धि ही स्थिर नहीं है।

पाठांतर—*सौन* = कौन। *धरयौ* = मनौ।

निसद्यौस उदास उसास थकौं न सकौं तजि आस बिसास जकी।
घनआनँद मीत सुजान बिना अँखियान कों सूझत एक टकी।
इतकी गति कौन कहै को सुनै मन ही मन मैं यह पीर पकी।
मरियै किहि भाँति कहा करियै अब गैल सँदेसनहूँ की थकी।१५६।

प्रकरण—विरहिणी अपने विरह की स्थिति किसी सखी से कह रही है। विरह की चरम वेदना पर पहुँचकर वह जिस प्रकार की अनुभूति कर रही है उसका प्रकटीकरण यहाँ है। पहली स्थिति तो यह है कि जगत् के प्रति वह उदासीन हो गई है। अपने प्रति भी उसकी स्थिति ऐसी ही है। वह उछ्वास से, अपने ही श्वास से और अधिक विरहाग्नि में धिकती या तपती है। इधर तो अपना श्वास यह कर रहा है और उधर प्रिय का विश्वासघात भी चकित कर देनेवाला है। दोनो ओर की स्थिति चकित करनेवाली है। फिर भी आशा का परित्याग वह नहीं करती। अब भी वह जीने की आशा रखती और यही विश्वास रखती है कि प्रिय में परिवर्तन होगा। यह हुई मन की स्थिति। अब बाहर तन की स्थिति क्या है। शरीर में सबसे प्रमुख होते हैं नेत्र। प्रिय को बिना देखे नेत्रों को कुछ दिखता नहीं यदि कुछ समझ में आता है तो केवल टकटकी बाँधे प्रिय के ध्यान में लगे रहना। विरहदशा कोई कहनेवाला नहीं है, स्वयम् कह पाती नहीं, दूसरा कहनेवाला मिलता नहीं। कोई कहे भी तो सुननेवाला भी कौन है। कहने से मन हलका होता है। कोई सुन ले इतने से भी सांत्वना मिलती है। पर यह सब न होने से भीतर ही भीतर पीड़ा फोड़े की भाँति पकती जा रही है। ये दिन कैसे कटें, क्या किया जाए। अब तो संदेशों के भेजने का मार्ग भी बंद ही है, न कोई कहेगा न कोई सुनेगा।

चूर्णिका—*उसास* = उछ्वास की गरम वायु से। *थकौं* = धिकती हूँ,

जलती रहती हूँ। *बिसास* = विश्वासघात। *बिसास*० = विश्वासघात के कारण मैं स्तब्ध सी हो गई हूँ (फिर भी आशा नहीं छोड़ सकती)। *एक टकी* = केवल प्रिय का मार्ग देखने के लिए टकटकी लगाए रहना ही ध्यान में आता है और कुछ नहीं। *इत की*० = यहाँ की दशा, मेरी दशा। *मन ही*० = मन के भीतर ही यह पीड़ा परिपक्व हो गई है। *भरियै*० = व्यथा के ये दिन किस प्रकार काटूँ। *कहा*० = क्या करूँ। *गैल* = रास्ता, मार्ग। *थकी* = बंद हो गई।

तिलक—रातदिन उदास रहती हूँ और उस उदासी में केवल साँसें लेती रहती हूँ। पर वे साँसें गरम निकलती हैं जिनसे विरह की आग और सुलगती है। फल यह है कि मैं भाड़ की भाँति धिकने लगती हूँ। प्रिय का विश्वासघात उधर से स्तब्ध किए हुए है। अपनी ओर से प्रचंड ज्वाला और प्रिय की ओर से स्तब्धता होने पर भी मैं आशा नहीं छोड़ पा रही हूँ। प्रिय अनुकूल होंगे और व्यथा दूर होगी, जलन जाएगी। मन को तो यही आशा सूझती है। पर नेत्रों को केवल प्रिय के न दिखने पर उनके जाने के मार्ग की ओर टकटकी लगाना ही सूझता है। दशा दिन दिन बिगड़ती ही जाती है। अपनी इस दशा को न मैं ही कह पाती हूँ, न दूसरा ही कहने में समर्थ प्रतीत होता है। मेरे कहने पर संदेशवाहक नहीं सुनता। संदेशवाहक सुन ले तो प्रिय को वह सुना नहीं सकता। वह सुनाए भी तो प्रिय उसे सुनेंगे ही नहीं। इधर पीड़ा बाहर नहीं निकलती, उधर भीतर जलन है ही। वह उसी में भीतर ही भीतर पक गई है। फोड़े की भाँति भीतर पककर अब फूट निकलना चाहती है। भीतर रुकने की स्थिति अब नहीं है। ऐसी स्थिति में व्यथा का यह समय कैसे काटा जाए, क्या किया जाए कि काम बने। संदेशों को प्रिय तक पहुँचा देना एक मार्ग था कि पीड़ा दबती, पर संदेश भेजने का मार्ग स्वयम थक गया, वह भी चलता नहीं। संदेश ले जाना और उनका भुगतान करने का उपाय अब कोई है ही नहीं। यही सबसे बड़ी विवशता है।

व्याख्या—*निसद्यौस*०—'आस' उदास में भी है, उसास में भी और बिवास में भी। 'आस' तजी ही कहाँ गई। 'उदास' 'औरों' से अपने से हो सकती

हूँ, पर उन (प्रिय) की आस उदास होने में भी है। 'उसास' से चाहे कितनी जलूँ पर 'उस' की 'आस' प्रिय की आस यहाँ भी बनी है और 'बिसास' में भले 'आस' 'विष' हो पर उस विष से वह मरी नहीं। *घनआनँद०*—एक तो वे आनंद के घन हैं, जगत् से उदास होने पर भी उनके प्रति उदास नहीं हूँ। दूसरे वे मित्र हैं। उसास मुझे जलाए तो जलाए पर मित्र के लिए साँस तो लेते ही रहना है। तीसरे वे सुजान हैं, बिसास किया होता, विश्वासघात कर डाला है, पर उनके प्रतिकार का मार्ग कोई सुजान ही तो कर सकता है। अजान से तो वह भी आशा नहीं। आँखों को एक ही दिखता है, दूसरा कोई नहीं और उसी की ओर टकटकी लगी है। *इत की गति०*—मेरी उदासी की स्थिति कहने की है नहीं देखने की है, कहे भी तो कौन कह सकता है। उसास भी सुनने से जानी जा सकती है पर प्रिय इतनी दूर है कि उसको सुन ही नहीं सकते। बिसास का प्रभाव मन की पीड़ा पर पड़ा है। उसे पका डाला है। *भरियै किहि०*—उदासी के दिन कटें कैसे, उसासों को ठीक करने का उपाय क्या हो और विश्वासघाती के पास संदेश कैसे जाए। मेरी गति ही नहीं थकी है, मार्ग तक थक गया है। संदेश इतने गए कि मार्ग उनके जाने से ही बिगड़ गया। गड्ढे हो गए, चलने योग्य ही नहीं रहा।

प्यारे सुजान के पानि को मंडन खंडन खेद अखंड कला को।
ज्यौं सरस्यौ जबही दरस्यौ बरस्यौ घनआनँद हेत झला को।
सूछम सो पै भरयौ अतुलै सुख रंग बिभौ जुग नैन पला को।
प्रीतम लौं हिय राखत हाथ बिछोह मैं ज्यावत मोह छला को। १५७।

प्रकरण—प्रिय के परदेश चले जाने पर उनकी अँगूठी प्रेमिका के पास रह गई है, उसे देखकर वह यह कह रही है। प्रिय के संपर्क के कारण मुद्रिका में भी प्रियवत् प्राणों के जिलाने की शक्ति हो गई है। उसका संसर्ग प्रिय के हाथ से रहा है। प्रिय का हाथ रक्षक है। मुद्रिका में भी रक्षा करने की सामर्थ हो गई है। प्रिय अखंड खेद दूर करते हैं, यह छल्ला भी ऐसा ही करता है। है तो यह नन्हा-सा ही, पर इसमें अतुल सुख और आनंद का वैभव भरा है। नेत्रों के पलड़े इसे तोल नहीं पाते। इसका

महत्त्व अतुलनीय है। मैं प्रियतम के हाथ में ही थी, उन्हीं के वश में थी। उनके हाथ के संपर्क से यह भी मुझे वश में किए हुए है। बिछोह में इसी के मोह से प्राण जी रहे हैं। प्रिय की प्राप्ति नहीं हो रही है, पर इसके कारण प्रिय के संसर्गजन्य सुख का अनुभव हो जाता है।

चूर्णिका—*पानि* = (पाणि) हाथ। *मंडन* = शोभित करनेवाला, गहना। *खेद०* = दुःख के पूर्ण प्रभाव को (नष्ट कर देनेवाला)। *ज्यौं०* = मेरे जी ने जब इसे देखा तब प्रसन्न हुआ, इसने प्रेम की झड़ी लगा दी। *अतुलै०* = जो तोला न जा सके, अत्यधिक। *जुग* = दो। *पला* = पलड़ा। *सूछम सो०* = है तो यह छल्ला (मुद्रिका, अँगूठी) छोटा सा ही पर इसमें दोनों नेत्र रूपी पलड़ों के लिए सुख-रंग का अतुल वैभव भरा हुआ है, नेत्र इसकी तोल कर ही नहीं पाते, वे इसका मूल्य बहुत अधिक आँकते हैं। *प्रीतम०* = प्रियतम की भाँति यह मन को हाथ में रखता है (बचाए हुए है)। [अथवा प्रियतम की भाँति अपने हाथ से इसे हृदय में लगाए रहती हूँ]। *बिछोह* = वियोग में अँगूठी का प्रेम ही जिला रहा है।

तिलक—यह छल्ला प्रिय सुजान के हाथ को सुशोभित करनेवाला गहना है। इसी से यह दुःख के परिपूर्ण प्रभाव को नष्ट कर देनेवाला है। यद्यपि यह देखने में छोटा सा है, इससे अपनी तोल बहुत कम है तथापि इसमें अतुलनीय सुख-आनंद का वैभव भरा हुआ है। नेत्रों के दो पलड़ों पर रखकर और तोलकर इसकी जाँच की गई पर यह उनपर तुल ही नहीं सका। आँखें इसे अतुल समझ रही हैं, इसका महत्त्व उनकी दृष्टि में बहुत अधिक है। नेत्रों को यह अत्यंत प्रिय जान पड़ता है। जिस प्रकार प्रियतम के हाथ में मेरा हृदय है उसी प्रकार इसके हाथ (वश) में मेरा हृदय हो जाता है, यह उनकी रक्षा करता है अथवा जैसे प्रियतम इसे अपने हाथ में रखते हैं उसी प्रकार हृदय इसे अपने हाथ में रखना चाहता है। हृदय को यह सुशोभित करनेवाला, उसके लिए सुखद है। प्रिय तो बिछोह में दूर हैं, पर यह उनके वियोग में अपने दर्शन और स्पर्श से जिला रहा है। इसका मोह ही मेरे जीने का संप्रति कारण हो रहा है। यह न होता तो मैं जीती नहीं रह सकती थी।

व्याख्या—*प्यारे सुजान*०—प्रिय के और सुजान प्रिय के हाथ का शोभित करनेवाला। खडन और मंडन दोनो में प्रवीण है। मेरी विरहावस्था को प्रिय के निकट खंडन-मंडन की पद्धति से प्रस्तुत करने में समर्थ है। आनंद का मंडन और विषाद का खंडन यही तो मुझे चाहिए। प्रिय के पाणि तक मुझे पहुँचा दे सकता है। *ज्यौं सरस्यौ*०—इसकी आनंददायकता इसी से प्रमाणित है कि ज्यों ही यह दिखाई पड़ा त्यों ही सरसता आ गई। भीतर से ही सरसता नहीं आई, प्रत्युत बाहर से भी आनंद ही आनंद की सरसता है। भीतर-बाहर सर्वत्र सरसता कर देनेवाला है यह। यह निरंतर प्रिय के प्रेम की ही वृष्टि करता रहता है। *सूछम सो*०—'अणोरणीयान् महतो महीयान्' की स्थिति स्पष्ट है। यह अणु है, पर सुखरंगदायक होकर महनीय भी है। प्रिय के संसर्ग के कारण ही इसमें ऐसी विशेषता है। यह ऐश्वर्य वहीं से इसे मिला है। प्रिय की छाया इसमें वर्तमान है। *प्रीतम लौं*०—स्वयम् तो प्रिय के हाथ में रहता है पर उस हाथ के संसर्ग से अन्यों को अधीन कर लेने की वृत्ति प्रिय की भाँति इसमें भी आ गई है। प्रिय से भी बढ़कर इसमें विशेषता आ गई है। प्रिय तो बिछोह में मारते हैं। पर यह उसके विपरीत आचरण करता है।

पाठांतर—*खेद*=बैद, बेद। *सरस्यौ* = तरस्यौ। *रंग* = रंक।

घूमत सीस लगै कब पायनि चायनि चित्त मैं चाह घनेरी।
आँखिन प्रान रहे करि थान सुजान सुमूरति माँगत नेरी।
रोम ही रोम परी *घनआनँद* काम की रोर न जाति निबेरी।
भूलनि जीतति आपुनपो बलि भूलौ नहीं सुधि लेहु सबेरी।१५८।

प्रकरण—विरहिणी विरह में होनेवाली अपने अंगों की दशा का विवरण दे रही है। एक तो सिर चक्कर खा रहा है। उसकी लालसा है कि प्रिय के चरणों में कब जा लगे। चित्त में उमंग की तरंगें उठ रही हैं। उसकी लालसा बहुत घनी हो गई है। प्राण आँखों में आ टिके हैं। वे प्रिय सुजान की शोभन मूर्ति का नैकट्य चाहते हैं। प्रत्येक रोम में काम का कोलाहल मचा है। शांत ही नहीं होता। प्रिय, मुझे भूल जाना मेरे अपनत्व को जीत चुका है। इसलिए प्रिय आप मेरी सुध लें, भूलें न, शीघ्रता करें।

चूर्णिका—*घूमत०* = मेरा यह चक्कर खाता हुआ सिर चाव के साथ कब उनके पैरों से जा लगे, केवल इसी की चित्त में प्रबल इच्छा है कि कब उनके चरण आएँ और मैं उनपर अपना सिर रखूँ। *आँखिन०* = केवल आँखों में ही प्राण रह गए हैं। इनमें ही सजीवता है, क्योंकि इन्हें आपके दर्शन की उत्कंठा है। ये आपकी वह सुंदर मूर्ति अपने निकट माँग रही हैं, उसे देखती रहना चाहती हैं। *रोर* = शोर, हलचल। *रोम ही०* = काम की हलचल रोएँ रोएँ में हो रही है, इससे किसी प्रकार छुटकारा नहीं मिल पाता। *बलि* = बलिहारी। *सबेरी* = शीघ्र [अथवा 'सुधि' का विशेषण मानें तो 'वह सुध जो शीघ्र ली जाय']। *भूलनि०* = आपका मुझे भूलना मेरा अपनापन भी जीत लेता है। (इस असंगति या विलक्षणता की) बलिहारी है, आप मुझे भूलें न, शीघ्र ही सुध लें। 'भूलनि०' में असंगति अलंकार व्यंग्य है—भूलते तो आप हैं और उसका प्रभाव मुझ पर होता है (मैं अपनापन भूल जाती हूँ)।

तिलक—हे प्रिय सुजान, आपके वियोग में नाना प्रकार की लालसाएँ मेरे अंगों में संचित हो गई हैं। एक तो सिर घूमता ही रहता है, वह चाहता है कि कब आपके पैरों में जा लगूँ। चित्त में इसी की घनी उत्कंठा है कि उसकी उमंगें कैसे पूर्ण हों। प्राण अब उतावले होकर आँखों में निकलकर आ विराजे हैं। वे चाहते हैं कि आपकी रमणीय मूर्ति निकट दिखाई दे। मेरे प्रत्येक रोएँ में काम की हलचल मची है, वह किसी प्रकार हटती ही नहीं। आपके मुझे भूल जाने ने मेरे अपनेपन को जीत लिया है, बलिहारी है कि भूलें आप मुझे और मैं अपने को भी भूल जाऊँ। इसलिए आप भूलें न, मेरी सुध शीघ्र लें।

व्याख्या—*घूमत सीस०*—गति पैरों का गुण है, पर उनका ध्यान करते करते सिर में गति आ गई है, विशेष गति आ गई है। वह आगे नहीं जा पाता इसी से जहाँ का तहाँ चक्कर खा रहा है। चित्त में उमंगें उठती हैं, पर उनकी पूर्ति नहीं होती। इसलिए चाह के रूप में वे उमंगें राशीभूत हो रही हैं। एक पर एक उनका ढेर लग गया है। उतावली मस्तिष्क में भी है और अंतःकरण में भी। *आँखिन प्रान०*—प्रिय की मूर्ति तो बहुत

दूर है और प्राणों को इतनी दूरी नहीं भाती कि वे शरीर के भीतर ही रहें। प्रिय के दर्शन में दूरी उतनी ही कम हो जाए जितनी शरीर के भीतर से आँखों तक की है, इसी से वे तुरंत प्रिय की मूर्ति देख लें अतः आँखों में ही आ लगे हैं। प्राणतत्त्व अब कहीं नहीं है केवल आँखों में शेष रह गया है। प्राणवत्ता तो वस्तुतः सुजान (सु + जान = प्राण) में है, उसी को वे निकट करना चाहते हैं। *रोम ही रोम* ०—कामनाएँ भी अब भीतर न रहकर बाहर आ गई हैं और रोओं में आ टिकी हैं। वहाँ भी हड़बड़ी पड़ी है कि प्रिय कैसे मेरी पूर्ति करें। लौटाने से भी वे लौटती नहीं हैं। यह कोलाहल मुझे परेशान कर रहा है। पर यह शांत तभी होगा जब कामनामूर्ति आपके दर्शन हों। *भूलनि जीतति*० —इस प्रकार आपके द्वारा हुए विस्मरण ने मेरे अपनत्व को विवश कर दिया है। मस्तिष्क की वह स्थिति, चित्त की यह स्थिति, प्राणों का वह व्यवहार और कामनाओं का यह हाल। सब मेरी परवा न कर केवल आपके ही वश में हैं। मेरा अपनापन आपमें ही समा गया है। अपने पास जो हो उसे भूलते नहीं बनता। इसी से निवेदन है कि मेरी सुध जो आपके पास ही है, उसे अपनाइए।

ललचौंहीं लगौंहीं भईं तुम सौंहीं इतै अँखियाँ सुख साध भरीं।
उत आप निकाई निधान सुजान ये बावरी ह्वै अरराय परीं।
घनआनँद **जीवन प्रान सुनौ बिछुरें मिलें गाढ़ जँजीर जरीं।**
इनकी गति देखन जोग भई जु न देखन मैं तुम्हैं देखि अरीं।१५९।

प्रकरण—विरहिणी प्रियवियोग से आकुल आँखों की दशा का विवरण दे रही है। आँखों में दो आदतें थीं—वे लालच से भरी थीं और आँखों से लगना चाहती थीं। वे सुख की इच्छा से आपके संमुख हुईं। वहाँ आपके सौंदर्य का क्या कहना। आप तो सौंदर्य के भांडार ही थे। बस फिर क्या था ये आँखें उस सौंदर्य को देखकर पगली हो गईं और उसे देखने में भहरा पड़ीं। इन आँखों ने आपके सौंदर्य को जो देखा तो ये तन्मय हो गईं। इन्हें आपका सौंदर्य ही दिख रहा है अब भी, यद्यपि आप संमुख नहीं हैं। सौंदर्य का ऐसा गाढ़ा परिवेश इनके चारो ओर हो गया कि प्रत्यक्ष तो उस सौंदर्य

दर्शन से आवृत थीं हीं वियुक्त होने पर भी उससे मुक्त नहीं हैं। वही इनकी छाया है। आपने ऐसा तमाशा कभी न देखा होगा। आइए इन आँखों का यह तमाशा भी देख लीजिए कि ये आपके वियोग में आपको न देखती हुई भी आपको देखने में ही डटी हैं।

चूर्णिका—*ललचौंहीं* ० = इधर तो सुख के अभिलाष से भरी मेरी आँखें जो ललचने और लगने वाली थीं तुम्हारे संमुख हुईं। *उत*० = उधर आप भी सौंदर्य के निधान (भांडार) दिखाई पड़े। *ये*० = ये पगली होकर आपको देखने के लिए टूट पड़ीं। *बिछुरें*० = बिछुड़ने और मिलने दोनो दशाओं में। *गाढ़* = गाढ़ी, कड़ी। *जँजीर*० = जँजीर से जकड़ गईं, बंधन में पड़ गईं। *जीवन* ० = हे प्राणों के प्राण (प्राणप्रिय), ये संयोग और वियोग दोनो अवस्थाओं में घोर बंधन में पड़ी रहीं। *न देखन* ० = आपको न देखते हुए भी। *अरीं* = अड़ी हुई हैं। *इनकी* ० = (संयोग की अवस्था तो बतला चुकी अब वियोग की अवस्था सुनिए) इनकी दशा तो देखने लायक हो रही है कि आपको प्रत्यक्ष न देखने पर भी ये आँखें आपको देखती हुई अड़ी रहती हैं—इनका यह तमाशा देखने ही योग्य है।

तिलक—हे घनआनंद, आप मेरे जीवन के प्राण हैं, इसी से आपको और अधिक नहीं केवल आँखों की स्थिति बता रही हूँ। ये बड़ी लालची और लगनेवाली थीं, पर कहीं किसी के सौंदर्य के देखने को उन्मुख नहीं हुईं। सुख की उत्कट इच्छा से इन्होंने अपने को उन्मुख आपके सौंदर्य के संमुख किया। उधर आपके सौंदर्य का क्या कहना। वह भी चरम सीमा का था। आपमें सौंदर्य लबालब भरा था। अति सौंदर्यदर्शन के मद से मत्त होकर ये पगली हो गईं। फिर क्या था सौंदर्य के देखने में टूट पड़ीं। जैसे कोई बुभुक्षित सुखाद्य की प्राप्ति पर उसपर टूटता है। वहाँ पहुचकर ये सौंदर्य के बंधन में इतने कड़े रूप में बँध गईं कि इनका अस्तित्व ही समाप्त हो गया। ये सौंदर्यमय हो गईं। आपका सौंदर्य ही इनमें रह गया इनकी विशेषता समाप्त हो गई। इसलिए जो स्थिति आपके संयोग के समय थी वही वियोग के समय भी है। पगली जिस प्रकार किसी को बिना देखे भी देखती और तदनुकूल आचरण करती है उसी प्रकार इनका भी गति

हो गई है। तमाशा यह है कि यद्यपि आप यहाँ नहीं हैं, दिखाई नहीं पड़ रहे हैं, तथापि ये प्रत्यक्षवत् आपको ही देखने में डटी हैं। 'अवसि देखिए देखन जोगू'--जरा यह तमाशा ही आप देख जाते।

व्याख्या—*ललचौहीं०* = लालच सुख की उत्कट इच्छा का था और लगना उसकी प्राप्ति का प्रयास था। आपके संमुख क्या हुईं ये आपसहित (सौं = सम = सहित) हो गईं। लालच और लगन दोनो में अतिमा थी। इच्छा की भी अतिमा थी। *उन आप०*--आपमें भी सौंदर्य की अतिमा थी। पागल होने में इनकी ही वृत्ति कारण नहीं थी। आपका सौंदर्य भी कारण हो गया। दो दो हेतु हो गए। भीतरी वेग और बाहरी वेग टकरा गए। इससे भहरा पड़ना स्वाभाविक था। *घनआनँद०*--आप ही घनआनंद हैं और इनको जिलानेवाले प्राण हैं। ये जीवन्मृत सी हो रही हैं। इसलिए कि आपके प्रत्यक्ष सौंदर्यदर्शन में ही ये नहीं तन्मय थीं, स्वयम् भी ये तन्मय हैं। अपनी चेतना का इन्होंने विसर्जन कर दिया है। आप ही की सत्ता अब इनमें रह गई है। *इनकी गति०*--इनकी यह दुर्गति दर्शनीय है। न देखकर भी देख रही हैं। ये और कुछ नहीं देख रही हैं, केवल आपको ही देख रही हैं। पूर्ण विश्वास के साथ आपको अब भी देख रही हैं।

(कबित्त)

सुरति करौं तौ बिसरे जौ होहिं जान प्यारे
वे तौ चित्त चढ़े रंगमूरति महा रहैं।
सुधि करैं वेई सुधिहू की ऐसी भूलि जाय
बे सुधि किये से सुधि माँझ या प्रकार हैं।
गूढ़ गति ब्यौरिबे की भूलियौ सुरति मोहिं
रातिद्यौस छाए *घनआनँद* घटा रहैं।
सुधि कबहूँ न आवै भूलेऊ तनक नाहिं
सुधि तिन ही मैं तेई सुधि मैं सदा रहैं।१६०।

प्रकरण—विरहिणी विरह की स्थिति में अपनी स्मृति की स्थिति का ब्यौरा दे रही है। वह कहती है कि विरह की ऐसी विलक्षण स्थिति है कि कुछ कहा नहीं जा सकता। वियोग में उनकी स्मृति का मेरे लिए प्रश्न ही

नहीं उठता। वे विस्मृत हों तब न। वे तो चित्त में ही छाए हैं। जब चित्त में वे हैं ही तो मेरी सुध को भी वे ही सँभाले हुए हैं। पर मेरी सुध उन्होंने क्या सँभाली कि मैं अपने को भी भूल गई। वे मेरी सुध में क्या आए कि मुझे बेसुध कर दिया। ऐसी बेसुध हूँ कि साधारण बातें भी ध्यान में नहीं आतीं। फिर उनके गूढ़ रहस्य को मैं क्या समझ सकूँगी। उनका रहस्य समझ में आए वा न आए, पर मुझ पर छाई उन्हीं की घटा है। मुझे अपनी सुध नहीं आती और उनकी सुध नहीं जाती। उनमें ही मेरी सुध बसी है और मेरी सुध में वे बसे हैं।

चूर्णिका—*सुरति*० = उनकी सुध तो मैं तब करूँ जब उन सुजान प्यारे को भूली होऊँ। वे तो क्रीड़ा की मूर्ति निरंतर चित्त में चढ़े ही रहते हैं, भूले जाते ही नहीं। *सुधि करैं*० = मेरी सुध की सँभाल वे (प्रिय) ही करते हैं, मुझे अपनी सुध की भी सँभाल नहीं रहती। मुझमें सुध है ही नहीं, इसी से वे मेरी सुध की सँभाल ऐसी करते हैं कि मुझे अपनी भी सुध भूल जाती है। *बेसुधि*० = मेरी सुध में वे इस प्रकार रहते हैं कि मैं बेसुध रहती हूँ, वे रहते तो हैं मेरी सुध में ही हैं पर मुझे बेसुध किए हुए। *गूढ़*० = उनकी गूढ़ (रहस्यमय) चाल का विचार करने की सुध भी मुझे भूली हुई है, उनकी गूढ़ता को समझने की सुधबुध खो बैठी हूँ। *राति*० = पर वे आनंदघन रातदिन मेरे मन में अपनी घटा छाए ही रहते हैं। यद्यपि मैं सुधबुध खो बैठी हूँ तथापि वे मेरे चित्त में निरंतर विराजते रहते हैं। *सुधि*० = मुझे अपनी सुध कभी नहीं आती, पर वे थोड़े भी भूले नहीं जा सकते। *सुधि तिनही*० = मेरी सुध उन्हीं में बसी है और मेरी सुध में वे ही बसे हुए हैं।

तिलक—विरहिणी सखी को अपनी स्मृति की विलक्षणता का ब्योरा दे रही है। मैं उनकी स्मृति क्या करूँ। स्मृति उसकी होती है जो भूला हो। वे विस्मृत कहाँ हुए कि उनकी सुध करूँ। वे प्रिय सुजान जो अत्यंत आनंद की मूर्ति हैं मेरे चित्त पर चढ़े रहते हैं। चित्त से उतरे कहाँ हैं कि उन्हें चित्त पर चढ़ाया जाए। चित्त पर चढ़ाने को ही तो स्मृति कहते हैं। मेरी सुध ऐसी हो गई है कि उसकी मुझे अब सँभाल ही नहीं करनी है। उसकी

सँभाल भी वे ही करते हैं। मेरी सुध भी मेरे पास नहीं है। वे इस प्रकार उसे सँभाले हुए हैं कि उनकी स्मृति करना तो दूर मुझे अपनी भी स्मृति नहीं रह गई है। इस प्रकार मैं अपनी सुध से सब प्रकार रहित हो गई हूँ। उन्हीं के कारण मैं बेसुध हूँ। उधर उनकी स्थिति यह है कि मुझे बेसुध करनेवाले उसी सुध में स्वयम् बसें हुए हैं। यदि कोई यह पूछे कि उनका यह रहस्य क्या है तो उस गूढ़ रहस्य का विश्लेषण करने की वृत्ति हो तभी तो मैं उसे समझूँ या समझाऊँ। उनसे ही अवकाश नहीं मिलता, उनके रहस्य तभी जाने जा सकते हैं जब उनसे छुट्टी मिले और मैं उनकी समीक्षा करूँ। मेरी दशा तो अब यह है कि अपनी सुध मुझे आती नहीं, उनकी सुध मुझसे जाती नहीं। मेरी सुध उनमें बसी है और सुध में वे बसे हैं। केवल उन्हीं की स्मृति रह गई है और सारी स्मृतियाँ समाप्त हो गईं। वे ही वे रह गए हैं। न मैं रह गई और न यह जगत् ही रह गया।

व्याख्या—*सुरति करौं०*—उनकी अत्यंत रँगीली मूर्ति चित्त पर चढ़ी है, चित्त उनके ही रंग से रँग गया है। वह रंग हटता ही नहीं। फिर उनसे वियोग ही कहाँ है जो सुध करूँ। मैं चाहे उनके चित्त से उतर गई होऊँ पर वे तो उसी पर चढ़े हैं। *सुधि करैं०*—अब चित्त में रहकर उसकी सँभाल का काम भी उन्हीं पर आ पड़ा। उन्होंने चित्त को ऐसा सँभाला कि मेरी सुध को भी अपनी सुध भूल गई। मेरे चित्त पर वे क्या चढ़े कि मेरी सुध को भी ले बीते। मैं बेसुध हो गई। जब सुध ही न हो तो मैं क्या सोच-विचार करूँ। *गूढ़ गति०*—इस रहस्यात्मक स्थिति का विश्लेषण करना तो दूर उसकी ओर प्रवृत्त होने की भी चेतना नहीं है। उधर उनकी स्थिति यह है कि वे रातदिन मुझपर आनंदघन की ही घटा छाए हुए हैं। फिर भी चेतना का नाम नहीं। न सत्ता रही न चेतना रही, केवल आनंद ही आनंद रह गया। *सुधि कबहूँ*—अपनी चेतना नहीं रही, पर उनकी चेतना बराबर है। उनकी चेतना के आगे का परिणाम यह हुआ कि वे ही शेष रह गए और कुछ भी नहीं रहा। उनका रहस्य यही है कि उनकी चेतना आ जाने पर सारी सत्ताएँ हट जाती हैं, उन्हीं की सत्ता रह जाती है।

पाठांतर—*महा* = कहा। *ब्यौरिबे* = धारिबे।

(सवैया)

जब तें तुम आवन आस दई तब तें तरफौं कब आयहौ जू।
मन आतुरता मन ही मैं लखौ मनभावन जान सुभाय हौ जू।
बिधि के दिन लौं छिन बाढ़ि परे यह जानि बियोग बितायहौ जू।
सरसौ *घनआनँद* वा रस कों जु रसा रस सो बरसायहौ जू।१६१।

प्रकरण—विरहिणी को प्रिय का यह आश्वासन मिला है कि मैं आऊँगा। उसी आशा के कारण होनेवाले कष्ट का विवरण वह दे रही है। आपने जब से यह आश्वासन दिया कि मैं आऊंगा तब से यह लालसा और उत्कंठा बनी है कि आप कब आ रहे हैं। मेरे मन में क्या आकुलता है यह अपने मन में ही देख लें। मैं यही समझती हूँ कि आपके मन में भी आतुरता होगी ही। आप ठहरे मनभावन और वह भी नैसर्गिक। पर आप आए अब भी नहीं। मेरी उतावली इस सीमा पर है कि एक क्षण ब्रह्मा का दिन हो रहा है। पर मेरा वियोग अब भी समाप्त नहीं हुआ। मुझे तो वही रस चाहिए जिससे सारी पृथ्वी आनंदित होती है। जिससे सारी पृथ्वी को रस मिलता है वह रस मुझे भी मिले।

चूर्णिका—*मन आतुरता०* = मेरे मन की व्याकुलता अपने मन से ही अनुभव करके समझ लीजिए क्योंकि आप स्वभाव से ही चतुर हैं। *बिधि०* = प्रतीक्षा के ये क्षण ब्रह्मा के दिन की भाँति बढ़ गए हैं। एक एक क्षण बीतता नहीं। यह समझकर (इस पर विचार करके) कि आप शीघ्र से शीघ्र वियोग दूर करने का उपाय करेंगे। *रसा* = पृथ्वी। *सरसौ* = हे आनंदघन मेरे लिए तुरंत आकर उस रस (प्रेम; जल) की धारा बहाइए जिसे प्रेमपूर्वक आप पृथ्वी पर बरसानेवाले हैं।

तिलक—हे प्रिय, आपने जब से यह आशा दिखाई कि मैं आऊंगा तभी से मैं तड़प रही हूँ कि आप कब आएँगे। आपने आने का समय नहीं बताया। इसी से समझती हूँ कि आप अब आए अब आए। पर आप आते नहीं। मेरे मन में क्या विह्वलता है इसे आप अपने मन से ही देख-समझ लें। आप मनभावन हैं। मन को भानेवाले हैं और सुजान भी हैं।

इसलिए मन से अनुभव करके और ज्ञान से समझकर जान लें। आपके ये गुण मैं समझती हूँ कि सहज हैं, आरोपित नहीं हैं। इधर मेरी आतुरता ऐसी हो गई है कि प्रत्येक क्षण आपके आने की संभावना लिए आता है, पर आप नहीं आते। वह इतना बड़ा लगता है जितना ब्रह्मा का एक दिन होता है। आप यही जान लें कि ब्रह्मा के एक दिन की पूर्ति में कल्पांत हो जाता है। फिर मेरा वियोग अंत को क्यों न प्राप्त हो। आप इस विस्तार का ही ध्यान करके मेरा वियोग समाप्त करें। आप हैं आनँद के घन। घन पृथ्वी को रस देता है, पृथ्वी भी रसा इसी से कहलाती है कि वह घन के रस को प्राप्त करती है। पृथ्वी को जो रस मिलता है वही रस मुझे दें। सरसता के साथ उस रस की वृष्टि मेरे लिए भी करें।

व्याख्या—*जब तें तुम*—आपने यदि आने की आशा न दिखाई होती तो तड़पन न होती। अपने अभाग्य को ही न मानकर माथा ठोंक लेती। आशा ने चिंता का रूप धारण कर लिया है। आशा सुखद है, पर उसकी पूर्ति न होने से वह दुःखद भी हो जाती है। आने की अवधि न होने से प्रतिक्षण आपके आने की संभावना है और प्रत्येक क्षण नैराश्य में परिणत हो जाता है आपके न आने पर। *मन आतुरता०*—अपने मन की आतुरता आप कैसे समझेंगे। आपके आने पर वह समाप्त हो जाएगी। इसलिए इसे आप अपने मन से ही अनुभूत करें। आप मनभावन हैं, मन की भावना जाननेवाले हैं। मन की कल्पना कर लेनेवाले हैं, मन भावन (कल्पना) यही तो आपकी विशेषता है। फिर आप सुजान भी हैं। अनुभव करके ही रह जानेवाले नहीं हैं उस अनुभव के अनंतर वांछित कष्ट को दूर करने की वृत्ति आपमें है। वह भी निसर्गजन्य है, आरोपित नहीं है। वह आपका स्वभाव है, परभाव नहीं है। भाव और भावन दोनों आपमें है। *बिधि के दिन०*—आप मेरे वियोग को आकर दूर करेंगे यह जब से जाना है तब से एक एक क्षण बीत नहीं रहा है। वियोग बीते तो क्षण भी बीते। क्षण यदि मनुष्य का दिन हो जाए तब भी बहुत बड़ा होगा, पर वह ब्रह्मा का दिन हो जाए तो उसके विस्तार का क्या कहना। ब्रह्मा का दिन परिवर्तन को सूचना-संभावना से युक्त होता है।

इस सीमा पर तो परिवर्तन होना ही चाहिए। मैं इस सीमाविस्तार पर भी अभी आशान्वित ही हूँ। बीता क्षण आशा को समाप्त नहीं कर पाता। हाँ, वियोग का समाप्त करना उसके वश का नहीं, वह आपके ही वश में है। *सरसौ०*—आप स्वयम् आनंद के घन हैं, आपमें सरसता है, हृदयवत्ता है, यदि ऐसी सरसता घन में न होती तो पृथ्वी जो जड़ है उसे भी वह अपने रसदान से सरस कर उसका रसा नाम सार्थक न करता। मेरी हृदयभूमि भी सरस हो ऐसी आनंद की, प्रेम की वृष्टि कीजिए। आइए और सरसता लिए आइए और उसकी वृष्टि भी कीजिए। उस सरसता का अनुभव मैं भी कर सकूँ, यह अवसर लाइए। जड़ को सरस करते हैं तो चेतन को सरस करने में तो उतना आयास भी न होगा।

अभिलाषनि लाखनि भाँति भरीं बरुनीन रुमांच ह्वै काँपति हैं।
घनआनँद जान सुधाधर मूरति चाहनि अंक मैं चाँपति हैं।
टगलाभ रहीं पल पावड़े कै सु चकोर की चोपहि झाँपति हैं।
जब तें तुम आवनि औधि बदी तब तें अँखियाँ मग माँगति हैं।१६२।

प्रकरण—विरहिणी अपनी आँखों के व्यापार का वर्णन कर रही है। आँखों में विरह के कारण सात्त्विक भाव होते हैं। अनुभूति के अनिवार्य अनुभाव, चेष्टाएँ क्या हैं इन्हीं का कथन है और उनकी वृत्ति का आख्यान है। आँखों में रोमांच है, कंप है। रोमांच और कंप का कारण है अनेक प्रकार के अभिलाष। रोमांच बरौनियों के रूप में होता है। कंपन आँखों की पुतलियों में होता है। चाह के आलिंगन में प्रिय की मूर्ति को भेंटती है। टकटकी लगाकर पलक के पाँवड़े बिछाए चकोर से बढ़कर उत्कंठा लिए हुए जड़िमा में पड़ी हैं। प्रिय के आगमन का मार्ग नापती रहती हैं। क्योंकि प्रिय ने आने की अवधि बता दी है।

चूर्णिका—*अभिलाषनि०* = लाखों प्रकार के अभिलाषों से भरी हुई। *बरुनी०* = बरौनियाँ जो खड़ी हो जाती हैं और हिलती हैं वही इन आँखों का रोमांच और कंप है। *चाहनि०* = प्रेमपूर्वक आलिंगन करती रहती हैं। *टग०* = टकटकी लगाकर। *चकोर०* = चकोर की उमंग को भी

ढक लेती हैं, इनकी उमंग के आगे चकोर की उमंग दब जाती है (प्रतीक अलंकार) *बदी* = निश्चित की, ठहराई।

तिलक—हे प्रिय, जब से आपने आने की समयसीमा निर्धारित कर दी है तब से इन आँखों में लाखोलाख अभिलाष हैं। उन अभिलाषों से ये त्रिविध प्रकार से भर जाती हैं और उनकी प्रेरणा से इनमें बरौनियों के खड़े होने और हिलने के रूप में रोमांच और कंपन होता है। सुजान घनआनंद की सुधाधर (चंद्रमा, सुधा + अधर) मूर्ति को चाहरूपी आलिंगन में भेंटती रहती हैं। आपके आने के मार्ग पर पलकों के पाँवड़े बिछा रखे हैं। चंद्रमा में जो उत्साह-उमंग होती है वह इनके सामने दबी दिखाई देती है। चकोर को चिनगी चुगने की वृत्ति होती है, पर ये आपके मुखचंद्र की ही किरणें ग्रहण करेंगी तो करेंगी और कुछ भी नहीं। वे आपके आने के मार्ग को नापती रहती हैं।

व्याख्या—*अभिलाषनि०*—अभिलाष भी लाखो हैं और उनके भरने के प्रकार भी लाखो हैं, रोमांच भी तदनुरूप लाखो ढंग हैं और कंप भी लाखो रूप हैं। 'अभिलाख' 'लाष' का ब्रजभाषा का उच्चारण 'लाख' 'अभितः' चारो ओर से है, सर्वत्र है, सर्व प्रकार से है। जहाँ वह होगा वहाँ भी लक्ष लक्ष होगा और उसकी सत्ता की अभिव्यक्ति जिस माध्यम से होगी वह भी लक्ष लक्ष होगा। भराव का घनत्व रोमांच और कंपन से प्रकट होता है। अस्थिरता से कोई बैठा खड़ा हो जाता है, खड़े होने से भी शांति नहीं होती तो टहलने लगता है। यहाँ आँखों की बरौनियों में दिखता है। *घनआनँद०*—घनआनंद भी है सुधाधर भी है। आनंदामृत का सा सहयोग है। एक ओर मूर्ति है दूसरी ओर चाह है। चाह में ही मूर्ति बसी है। मूर्ति ऐसी बसी है कि उसके पृथक् होने की संभावना नहीं है। आनंद के घन भी हों और चंद्रमूर्ति उससे ढके न ऐसा नहीं हो सकता। पर यह मूर्ति इन बादलों से ढकी भी अनावृत है। सुधा के अधरों पर चाह के चिह्नों का दाग है। सुधाधर में भी तो अंक (चिह्न, कलंक) होता है। *टगलाय०*—चकोर की उमंग चंद्र के प्रत्यक्ष दर्शन से होती है। बिना चंद्रमा के देखे उसकी मूर्ति की कल्पना करके वह वैसी उमंग नहीं दिखाया करता जैसी प्रत्यक्ष

दर्शन के समय होती है। इसलिए चकोर की चोप से बढ़कर इनकी चोप है। *जब तें तुम०* – आपने जब कहा तब से समय की जो सीमा थी उसकी परिसमाप्ति की प्रतीक्षा बिना किए ही उसी समय से मार्ग नापने लगीं, उनमें उत्सुकता तभी से हो गई। मग नापने का मानदंड भी बड़ा छोटा है, मग लंबा और नापदंड छोटा, आयास नापने मे विशेष, फिर भी आँखें वही कर रही हैं।

पाठां०—*रुमांच* = रोमांच। *चाहनि* = बाहनि। *टग* = टक। *पल* = पग। *माँपति* = नाँपति।

मग हेरत दीठि हिराय गई जब तें तुम आवनि औधि बदी।
बरसौ कितहूँ *घनआनँद* प्यारे पै बाढ़ति है इत सोच नदी।
हियरा अति औटि उदेग की आँचनि च्वावत आँसुनि मैन मदी।
कब आयहौ औमर जानि सुजान बहीर लौं बैस तौ जाति लदी।१६३।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के आगमन के निश्चय पर होनेवाली आँखों की स्थिति का ब्यौरा दे रही है। प्रिय का मार्ग देखने में तभी से ऐसी दृष्टि लगी कि वह खो गई। आपने आने की कही और दृष्टि चली गई। आपके आगमन पर आपके दर्शन किस माध्यम से होंगे। यहाँ आकर आप बरसते नहीं, पर बरसते चाहे जहाँ हों पर बाढ़ यहीं आती है, सोच की नदी आपके अन्यत्र बरसने से बढ़ती ही जा रही है। सोच-प्रवाह भी बह निकला। हृदय उद्वेग की आँच से औटकर कामना की शराब बना जा रहा है। आँसू क्या टपक रहे हैं, शराब चुलाई जा रही है और शराब का रूप हृदय ही धारण कर रहा है। आँखों की दृष्टि गई, निश्चितता गई, हृदय गया, कामनाएँ गईं, वयस् (उम्र) भी जा रही है। शरीर से सारी फौज ही चली जा रही है तो उसका सामान भी तो जाएगा ही।

चूर्णिका—*मग०* = आपका मार्ग देखते देखते मेरी दृष्टि खो गई। *कितहूँ* = कहीं दूसरे स्थान पर। *इत* = मेरे यहाँ (असंगति अलंकार) *च्वावत* = टपकाता है। *हियरा०* = हृदय को व्याकुलता की आँच में औटकर काम आँसुओं के रूप में मदिरा टपका रहा है। *बहीर* = सेना का सामान। *बैस* = (वयस्) उम्र। *लद जाना* = बीत जाना (जैसे

'दिन लद गए, जमाना लद गया')। *बहीर लौं०* = उम्र तो सामान की भाँति लदी जा रही है (ढलती जाती है)।

तिलक—मार्ग के देखने में मेरी दृष्टि खो गई। आपको कैसे देख सकूँगी आपके आने की सीमा क्या निश्चित थी, वह मेरे लिए अच्छी नहीं हुई, बदी (बुरी) हुई। आगमन हो जाता तो वृष्टि यहाँ होती, पर न आने से न जाने कहाँ कहाँ आप बरसते फिरते हैं। पर उस बरसने का प्रभाव उतनी दूर से तो पड़ता ही, सरसता आकर सुखद होती, पर यहाँ तो बाढ़ आ जाती है। चिंता की नदी कूल कगारे तोड़ती बढ़ जाती है। उस नदी से आग भी शांत नहीं होती। उधर हृदय उद्वेग की आँच से औटकर आँसू क्या बहाता है कामना की मदिरा ही टपकती है। आप सुजान हैं, आने का अवसर स्वयम् जान लें और यहाँ आएँ। अन्यथा उम्र भी अब लदी जा रही है, वह भी बीत ही रही है।

व्याख्या—*मग हेरत०*—दृष्टि मुझे ही नहीं मिल पा रही है, आपको क्या मिलेगी, आपसे क्या मिलेगी। मार्ग को देखते देखते आपको देखने पहुँच गई होगी। यहाँ तो है नहीं आपके आगमन का समय नहीं आया और दृष्टि का गमन हो गया। आगमन पर उसका आगमन होगा इसकी कोई संभावना नहीं रही। आप तो दृष्टि चली थी आपका मार्ग खोजने पर खोजी जाने योग्य वही हो गई। पहले दृष्टि खोजी जाए, फिर मार्ग खोजा जाए, तब आप खोजे जाएँ। आपके आगमन की अवधि ने नेत्रों का निरवधि गमन कर दिया। आपके आने का पता नहीं और दृष्टि के जाने का पता नहीं, आप लापता, दृष्टि लापता। *बरसौ कितहूँ०*—आनंद के घन की वृष्टि कहीं हो, उसका प्रभाव यहाँ पड़ता तो है, पर आनंद के रूप में न पड़कर निरानंद के रूप में पड़ता है। प्रिय के द्वारा यह अप्रिय प्रसंग हो रहा है। आपकी आनंद की वृष्टि भी अन्यत्र विशेष होती होगी। बाढ़ अधिक हो रही है तो फिर वृष्टि भी अधिक होती होगी, तभी न ऐसा हो रहा है। न जाने कितनी वृष्टि करते हैं, यह बढ़ती भी इतनी जा रही है कि पता नहीं क्या होगा। *हियरा अति०*—हृदय खूब चुरा, आँसू खूब टपकाए गए। आँसुओं में तेजी मदिरा की सी हो गई है। इन्हें पीना

पड़ रहा है और बेहोशी बढ़ती जा रही है। शराब के खिचने में तीव्रता होती ही है—

अंगूर में धरी हैं पानी की चार बूँदें।
जब से वो खिच गई हैं तलवार हो गई हैं।

जहाँ पानी धरा हो वहाँ धार में भी तेजी होगी ही। *कब आयहौ०*—उम्र रहते आते तो अवसर था फिर तो अनवसर होगा। अवसर मेरे बतलाने की वस्तु नहीं। यह तो उस प्रकार का उपयोग करनेवाले पर है। अवसर चूक रहे हैं, चूकना न चूकना आपके पक्ष में है।

तुम ही गति हौ तुम ही मति हौ तुम ही पति हौ अति दीनन की।
नित प्रीति करौ गुनहीनन सों यह रीति सुजान प्रबीनन की।
बरसौ *घनआनँद* जीवन कों सरसौ सुधि चातक छीनन की।
मृदु तौ चित के पन पै इत के बिधि हौ हित के रुचि मीनन की।१६४।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय को सर्वस्व मानकर प्रिय को ही संबोधित करके कह रही है। हे आनंद के घन प्रिय, आप ही गति हैं, आप ही मति हैं और आप ही पति (प्रतिष्ठा) हैं—मेरे ऐसे दीनों के लिए। जो बेचारे गुणहीन हैं उनसे आप नित्य (निरंतर, सदा) प्रेम करते हैं। यही आप ऐसे सुजान प्रवीणों की रीति है। प्रमाण लीजिए। आप जीवन (प्राण; जल) की वृष्टि करते हैं। आपके हृदय में चातक ऐसे क्षीण की स्मृति सरस होती रहती है। आप तो कोमलचित्त हैं प्रेम के प्रण के लिए तो प्रेम के समुद्र ही हैं, मीन की इच्छा भी पूर्ण करते हैं। फिर मुझमें तो चातक और मीन से भी वढ़कर दैन्य की स्थिति है। मेरी पुकार भी सुनिए।

चूर्णिका—*गति* = आश्रय। *पति* = प्रतिष्ठा। *जीवन* = जल; प्राण। *सरसौ* = सरस करो; हरी भरी करो (सुध लो)। *छीन* = (क्षीण) दुर्बल। *मृदु०* = आप तो मनरूपी चातक के पन पर मृदु चित्त रखनेवाले, प्रेम के समुद्र तथा प्रभूत वृष्टि करके (नेत्ररूपी) मीनों की रुचि (इच्छापूर्ण करनेवाले) हैं।

तिलक—हे आनंद के घन, आप ही दीनों के आश्रयस्थान, उनकी प्रज्ञा और प्रतिष्ठा भी हैं। यदि कहीं आश्रय मिल सकता है तो आपके यहाँ,

उनकी बुद्धि ठिकाने रह सकती है। तो आपके कारण और यदि उनकी प्रतिष्ठा बच सकती है तो आपसे ही। केवल दीनों को आपकी विशेषता का लाभ नहीं मिलता। आप गुणहीनों से प्रेम करते हैं और नित्य प्रेम करते हैं। आप ऐसे सुजान और प्रवीणों की रीति भी यही है। हे आनंद के घन, आप जीवन (जल; प्राण) की वृष्टि करते हैं और पिपासा से क्षीण चातकों की स्मृति को हरी भरी करते रहते हैं, जिससे उन्हें स्वाती का वांछित जल मिलता है। आप चित्त के कोमल हैं। साधक या उपासक की अंगीकृत साधना (पन) के लिए हित (अनुकूलता) के समुद्र ही हैं और जल से वियोगासहत्ववाले मीनों की वह रुचि हैं जिससे वे जल का आभिमुख्य ही जीवन का व्रत बनाए रहते हैं।

व्याख्या—*तुम हीं गति०*—गति शरीरी की बाह्यशक्तिबोधक स्थिति है, मति आभ्यंतरशक्तिसूचक है और प्रति (प्रतिष्ठा) सामाजिक समान के लिए है। जो दीन होगा, निराश्रय होगा, उसके जीवनयापन के लिए कोई आश्रय (गति) चाहिए। जो गुणहीन होगा उसे गुण (मति) चाहिए। जो 'पन' करनेवाला है उसकी 'पति' की रक्षा वांछित होती है। समाज में अभावात्मक स्थिति भी त्रिस्थानीय है, जीवन धारण के लिए अपेक्षित वस्तु का अभाव, यह दीनों को होता है। दीन गुणसंपन्न हो सकता है। गुणरहित में अन्य संपन्नता होते भी किसी प्रकार के वैशिष्ट्य का अभाव होता है। यह आभ्यंतरिक अभाव हुआ। 'पन' करनेवाले को निर्वाह का खटका रहता, सामर्थ्य अपेक्षित होता है। यही सामर्थ्य का अभाव अप्रतिष्ठा का हेतु हो सकता है। 'दीन' विशेषण सर्वव्यापक है इसी से दरिद्र ही नहीं गुणहीन, पन के निर्वाह में अशक्त सभी का बोधक है। किसी प्रकार का अभाव जिसमें हो वह 'दीन' है। *नित प्रीति०*—गुणी तो सभी को प्रिय होते हैं, सर्वशक्तिमान् के लिए संभव है कि वह गुणहीन को भी प्रिय बनाए और नित्य बनाए रखे। जो स्वयम् गुणसंपन्न होगा वही ऐसा कर सकता है। सुजान में ज्ञान सैद्धांतिक या विचारपक्ष का होता है, आचारपक्ष नहीं भी हो सकता। प्रवीण में उसका आचारपक्ष प्रबल होता है, व्यवहारपक्ष प्रमुख रहता है। इसी से दो विशेषण

रखे हैं। *बरसौ०*--यहाँ दृष्टांत है। प्रमाण है। चातक की पिपासा शांति के लिए उसका ध्यान आने की अपेक्षा है और उसे जल देने की भी आवश्यकता है। आप दोनो करते हैं। दीनता, हीनता के अनंतर यह क्षीणता का आख्यान है। दीन और गुणहीन को अन्य अभाव हो सकता है, पर जल का अभाव नहीं होता। पर चातक के लिए जल का अभाव ही सर्वप्रमुख है। 'सरस' में सर्व प्रकार से अनुकूलता है। सुमुखता में भी और विमुखता में भी। 'सरस' सीधा उलटा एक सा होता है। *मृदु तौ चित०*--चातक को जल चाहिए। वह जल में रहता नहीं। अपने में जल रखना चाहता है। मीन जल से विरहित नहीं होना चाहता। चातक उससे विरहित रहकर अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति में अधिकाधिक लगना चाहता है।--तुलसी चातक के मते स्वातिहु पियै न पानि। प्रेमतृषा बाढ़ति भली घटे घटैगी कानि। जल चातक के प्राणों का पोषक है। मीन का तो प्राण ही है। चातक को तो सभी नक्षत्रों का जल नहीं चाहिए। केवल स्वाती का जल चाहिए। मीन को जलाशय चाहिए। घन केवल स्वाती में ही जल नहीं देता। बरसता रहता है सभी नक्षत्रों में। उसकी वृष्टि होती चातक के लिए ही है। 'देत जो भूभाजन भरत'। भूमंडल रूपी बड़े से बड़ा पात्र उसके लिए भर देता है। वह 'घूँघट पानी' मात्र लेता है। पर मीन को जितना अधिक जल मिले उतना ही अच्छा। उसे वही बादल समुद्र भर देता है। चातक के लिए वह 'उपल बरसि गरजत तरजि' भी होता है, पर मीन को कोमल वृत्ति से देखता है। गर्जन-तर्जन से किसी प्रकार का कष्ट तक नहीं होने देता।

व्याकरण—'निधि' शब्द का अर्थ 'खजाना' होता है। पर उस अर्थ में शब्द स्त्रीलिंग है। यह जब पुंलिंग हो तो हिंदी में इसका अर्थ 'समुद्र' होता है। संस्कृत में इसका अर्थ समुद्र नहीं होता।

अति दीनन की गतिहीनन की पतिलीनन की रति के मन हौ।
सब ही बिधि जान करौ सुखदान जिवावत प्रान कृपातन हौ।
घनआनँद चातकपुंजनि पोषन तोषन रंक महा धन हौ।
जन सोच बिमोचन सुंदरलोचन पूरनकाम भरे पन हौ।१६५।

प्रकरण—आनंद के घन प्रिय की विशेषताओं का निदर्शन इसमें किया गया है। अत्यंत दीन, आश्रयहीन, प्रतिष्ठारहित में जो आपके प्रति प्रेम है उसके समझनेवाले आप ही हैं। आप सब प्रकार से सुजान, सुखदान करनेवाले, प्राण जिलानेवाले कृपामूर्ति हैं। चातकों के पोषक और रंक की तुष्टि के लिए महाधन हैं। दास की चिंता दूर करनेवाले, सुंदर लोचनों से युक्त पूर्णकाम और अपने पन से पूर्ण हैं।

चूर्णिका—*गतिहीन* = पंगु, लाचार, आश्रयहीन। *पतिलीन* = जिनकी प्रतिष्ठा लीन हो गई हो, प्रतिष्ठारहित। *रति०* = प्रेम के मन हो अर्थात् उनके प्रेम को समझनेवाले हो। *कृपातन* = मूर्तिमती कृपा हो। *पोषन* = पोषण करनेवाले (आनंद के बादल हो)। *तोषन०* = रंक को तोष देनेवाले आप अधिक धन हो। *जन०* = सेवक या उपासक का दुःख दूर करनेवाले। *पूरन०* = पूर्णकाम (जिसकी सब कामनाएँ पूरी हो गई हो)। *भरे०* = प्रतिज्ञा से भरे हुए, प्रतिज्ञा पालन करने में सच्चे, अपने बाने का निर्वाह करनेवाले।

तिलक—हे प्रिय घनआनंद, आप अत्यंत दीनों, गतिरहितों, प्रतिष्ठाहीनों में आपके प्रति जो प्रेम है उसे समझनेवाले हैं। उस प्रेम की अनुभूति आपको ही भली भाँति हो सकती है। आप सब प्रकार से सुख का दान करते हैं, प्राणों को जिलाते हैं और साक्षात् कृपा की मूर्ति हैं। दीनों के लिए सुख का दान, गतिहीनों को प्राणवत्ता का दान और प्रतिष्ठाहीनों के लिए दया का दान अपेक्षित है। आप आनंद के घन होकर चातकों का पोषण करनेवाले और गरीबों की मनस्तुष्टि के लिए महाधन हैं। आप उपासक की चिंता दूर करनेवाले, सुंदर नेत्रों वाले और पूर्णकाम हैं और अपने प्रण की पूर्ति से परिपूर्ण हैं।

व्याख्या—*अति दीनन०*—मन, तन, धन और पन चार रूपों में घनआनंद प्रिय की कल्पना की गई है। पहले अनुभूतिमय रूप की कल्पना है। दीन के प्रेम का रूप, गतिहीन के प्रेम का रूप और पतिहीन के प्रेम का रूप भिन्न-भिन्न होता है। दीन को सामान्यतया द्रव्य या संपत्ति या जिनका अभाव हो उसकी अपेक्षा होती है। उसका वांछित जो भी होगा उसमें

द्रव्यात्मक तत्त्व अधिक होगा। उसकी स्थिति तीसरी श्रेणी की है। द्रव्यादि का लाभ तमोगुणविशिष्ट है। वह प्रिय को उन द्रव्यों की प्राप्ति के लिए चाहता है। गतिहीन को आश्रय चाहिए, उसका रंजन स्थान की प्राप्ति से होता है। प्रिय का सांनिध्य या वरद हस्त उसे चाहिए। उसकी श्रेणी दूसरी है, रजोगुणविशिष्ट है उसका वांछित। पतिलीन को प्रतिष्ठा से प्रयोजन है। उसका वांछित पहली श्रेणी का है सतोगुणविशिष्ट है वह। इस प्रकार त्रिधा प्रेम की और मन की भी स्थिति हो गई। *सब ही बिधि०*—आप सब प्रकार से ज्ञानसंपन्न हैं। जिसमें ज्ञान न होगा वह किसी के वांछित को समझेगा भी क्या। सब प्रकार का जिसमें बोध होगा वह सबकी आवश्यकता-अपेक्षा को जान सकेगा। फिर ज्ञान ही होकर भी क्या होगा। उसे उदार भी होना चाहिए। सो प्रिय सुख का सभी को दान करते हैं। सुख का दान करने से भी कुछ भी न होगा यदि वह सुख उस सीमा तक न दिया जाय जिस सीमा पर प्राण तक की प्राप्ति हो। उदारता के लिए यदि अर्थियों को अपनी ओर से कुछ कहना पड़े तो वह भी पूर्ण न होगा। आप कृपा की मूर्ति हैं। अपनी ही ओर से किसी के कष्ट को समझकर उसे परिपूर्णकष्ट विनिर्मुक्त कर देते हैं। *घनआनँद*—आप आनंद के बादल होकर चातकों का पोषण ही नहीं करते, किसी भी रंक को धन ही नहीं महाधन देते हैं। पोषण ही नहीं, मनस्तुष्टि तक देते रहते हैं। *जन सोच०*—कोई किसी की चिंता दूर करता है तो प्रसन्नता से वैसा नहीं भी कर सकता है। प्रसन्नमन से चिंता दूर करनेवाले हैं। आपके नेत्रों में कृपा का प्रसन्न सौंदर्य है। किसी का सोच दूर करनेवाला बदले में भी कुछ चाहता है। सो आपको कोई प्रतिदान नहीं चाहिए। आप पूर्णकाम हैं, कोई कामना किसी से कुछ पाने की नहीं है। पर पूर्णकाम होने पर भी आप अपनी अंगीकृत रीति के पालन में भी लगे रहते हैं। वह पन यही है कि दीन-दुखियों का कष्ट अवश्य दूर किया जाए। कोई दीन-दुखी न रहे, यही आपकी प्रतिज्ञा है। आप साक्षात् ब्रह्म हैं। सच्चिदानंदघन हैं।

(कबित्त अनंगशेखर)

सदा कृपानिधान हौ कहा कहौं सुजान हौ
अमान दान मान हौ समान काहि दीजिये।

रसाल सिंधु प्रीति के भरे खरे प्रतीति के
निकेत नीति रीति के सुदृष्टि देखि जीजियै।
टगी लगी तिहारियै सु आप त्यौं निहारियै
समीप ह्वै बिहारियै उमंग रंग भीजियै।
पयोद मोद छाइयै बिनोद कों बढ़ाइयै
बिलंब छाड़ि आइयै किधौं बुलाय लीजियै।१६६।

प्रकरण—विरहिणी गुणकथन करके प्रिय को बुला रही है। यदि प्रिय न आएँ तो मुझे ही वहाँ बुला लें। प्रेमी के प्रति अनुकूलता के जितने गुण हैं वे सब आपमें हैं। आप कृपालु हैं, सुजान हैं, दानी हैं, अनुपम हैं। प्रेम के समुद्र हैं, विश्वसनीय हैं नीति और रीति के घर हैं, सुदृष्टि हैं। आपको ही निहार रही हूँ, मेरी ओर न देखकर अपने गुणों की ओर देखिए। निकट आइए, उमंग और आनंद से युक्त कीजिए। आनंद के घन छा दीजिए, विनोद बढ़ाइए।

चूर्णिका—*अमान* = प्रमाण से परे अथवा निरभिमान। *दान०* = दान को ही मान माननेवाले, भारी दानी। *समान०* = किससे आपकी समता की जाए, आप अनुपम, अद्वितीय हैं। *रसाल०* = मधुरस से भरे हुए (खारे नहीं)। *खरे०* = विश्वास के खरे, विश्वास के सच्चे। *जीजियै* = जीती हूँ। *टगी०* = आपको देखने की टकटकी लगी है। *त्यौं* = ओर। *सु आप०* = जरा अपनी ओर तो देखिए, अपने बड़प्पन का तो विचार कीजिए। *पयोद मोद* = मोद का बादल; घनआनंद।

तिलक—हे प्रिय सुजान घनआनंद, आप सदा कृपा के भांडार हैं, क्या कहूँ आप सुजान भी हैं, आप बेपरिमाण बहुत बड़े दानी भी हैं, आपकी समानता किसी से नहीं हो सकती। आप प्रेम के समुद्र हैं, पर आपमें खारापन न होकर मधुरिमा है, आप विश्वास में भी खरे हैं, नीति और रीति के तो आप निकेतन ही हैं। आपकी सुदृष्टि (अनुकूलतायुक्त दृष्टि) से ही मैं जी रही हूँ। आपकी ओर ही मेरी टकटकी लगी है, मेरी ओर देखिए। प्रत्युत आप अपनी ही ओर देखिए, अपने बड़प्पन का विचार कीजिए, मेरी लघुता का विचार मत कीजिए। मेरी विरहवृत्ति को दूर करने के लिए उमंग की

विशेषता से रससिक्त होकर मेरे निकट विचरण करने का विचार अपने मन में लाइए। मेरे निकट आनंद के घन छा दीजिए, मेरे विनोद (सुख) को बढ़ाइए। यहाँ बिना विलंब के पधारिए। यदि ऐसा करना संभव न हो तो मुझे ही अपने निकट बुला लीजिए। मुझे आपके सांनिध्य की आकांक्षा है और कुछ नहीं चाहिए।

व्याख्या—*सदा०*—आप कृपा के भांडार तो हैं ही साथ ही आप यह भली भाँति जानते हैं कि कृपा का पात्र कौन है। कृपा का दान करने में आप बड़े दानी हैं, इतने बड़े कि उसका मान (लेखा-जोखा) करना संभव नहीं। इस विषय में संसार में दूसरा कोई नहीं जो आपकी बराबरी कर सके। कृपा, ज्ञान और दान आपमें सदा हैं और ऐसा किसी में है ही नहीं। *रसाल०*—प्रेम के अथाह समुद्र हैं आप। समुद्र में जल खारा होता है, पर आपमें मीठपन या मधुरता है। प्रेम की मोहमयी तामसी वृत्ति आपमें न होकर सात्त्विक निर्दोष वृत्ति है। विश्वास के इतने सच्चे हैं कि जो आपमें विश्वास करे उसका विश्वास फलीभूत होता है। नीति और उसकी रीति का क्या कहना, वह तो अन्यत्र कहीं नहीं आप ही में बसी है। इधर आपकी सुदृष्टि ही मुझे जिलाती है। मुझे पूरी आशा है कि आपकी अनुकूलता मुझे मिलकर रहेगी। इसी विश्वास से मैं जी रही हूँ। *टगी लगी०*—केवल आपकी ही ओर मेरी टकटकी लगी है, अन्यत्र मुझे कुछ दिखता नहीं। मेरी त्रुटियों और लघुता को देखने की आवश्यकता नहीं। देखना अपने बड़प्पन को ही है। फिर उसी की प्रेरणा से आपमें उमंग होगी और उमंग के रंग से सिक्त होकर आप मेरे निकट आएँगे यही विश्वास है, इसे पूरा कीजिए। *पयोद मोद०*—मुझे मोद भी चाहिए और विनोद भी चाहिए। मेरे अंतःकरण में प्रसन्नता अपेक्षित है और ऐसी प्रसन्नता अपेक्षित है जो मेरे मन तक ही न रहे जगत् के सारे पदार्थ मनोरंजन करनेवाले हो जाएँ। अभी तो आपके विरह में सर्वत्र से विषाद का ही संचय हो रहा है। अब पर्याप्त विलंब हो चुका है। आप नहीं आएँगे तो मुझे ही प्राण का परित्याग करके आपके निकट आना पड़ेगा।

छंद—यह छंद अनंगशेखर कहलाता है। जिसका शाब्दिक अर्थ है

कामनाओं का शिरोभूषण। अत्यंत कामना। इसमें लघु-गुरु क्रम से १६ बार एक चरण में पड़ते हैं।

(सवैया)

चेटक रूप रसीले सुजान दई बहुतै दिन नेकु दिखाई।
कौंध मैं चौंध भरे चख हाँय कहा कहौं हेरनि ऐसें हिराई।
बातैं बिलाय गईं रसना पै हियो उमड़यौ कहि एकौ न आई।
साँच की संभ्रम हौ *घनआनँद* सोचनि ही मति जाति समाई।१६७।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के अल्पकालिक दर्शन के अनंतर उनके अति-कालिक वियोग के कारण होनेवाली अपनी स्थिति का आख्यान कर रही है। प्रिय आप जादू से भरे हैं और वही जादू ही इधर मुझपर छाया है और दर्शन तो नाममात्र को ही हुए। देखने में आपके प्रकाश की चकाचौंध इतनी हुई कि नेत्र उसी से भर गए और देखना ही खो गया। प्रकाशाधिक्य को न सँभाल सकने के कारण नेत्रों की ज्योति ही नहीं रही। वे देखें तो क्या देखें। आपके रूप का निरूपण करने के लिए हृदय उमड़ा, पर जिह्वा तक पहुँचकर बातें भी समाप्त हो गईं। एक भी बात कही नहीं जा सकी। बुद्धि तो इसी सोच में समाप्त हो गई कि आप सत्य हैं या भ्रममात्र हैं।

चूर्णिका—पहली पंक्ति का अन्वय यों होगा—रूप रसीले सुजान नेकु दिखाई बहुतैं दिन चेटक दई। *रूप०* = हे रसीले रूप वाले सुजान, आपने थोड़ा सा दिखाई देकर (अपनी थोड़ी सी झलक दिखाकर) बहुत दिनों तक के लिए मेरे ऊपर जादू डाल दिया। *कौंध०* = चमक। *चौंध०* = चका-चौंध, तिलमिली। *भरे* = भर गए। *चख* = (चक्षु) नेत्र। *हेरनि०* = मेरी दृष्टि यों ही (विना कुछ देखे ही) खो गई। *हिय०* = हृदय उमंगित तो हुआ पर जीभ से कुछ कहा नहीं गया। *साँच* = सत्य। *संभ्रम* = भ्रम मात्र, धोखा ही धोखा। *सोचनि०* = सोचने में ही बुद्धि विलीन होती जा रही है।

तिलक—हे सुजान, आप मुझे थोड़े से दिखाई क्या पड़े आपके रसीले रूप ने मुझपर बहुत दिनों के लिए, सदा के लिए जादू डाल दिया। दिखाई भी क्या पड़े। आप की प्रबल चमक की चकाचौंध से ही नेत्र भर गए। फल

यह हुआ कि दृष्टि ही खो गयी। आपकी झलक भर दिखाई पड़ी, पूर्ण दर्शन तो हुए ही नहीं। आपकी जो झलक मिली उसके स्वरूप और उस स्वरूप-दर्शन से होनेवाले आनंद की अभिव्यक्ति के लिए हृदय उत्साहित तो हुआ पर अनुभूति हृदय को हुई थी और कहना जीभ को था इसलिए उस अनुभूति की अभिव्यक्ति वह रसना नहीं कर सकी, वह कुछ भी कह नहीं सकी। अनुभूति के अनुकूल वाणी ही नहीं मिली। आपकी झलक की सत्ता सत्य है अथवा धोखे ही धोखे हैं। इस सत्य और भ्रम के निर्णय का विचार करती हुई बुद्धि अशक्त होकर विलीन हो गई। वह विचार पथ में भी आपको नहीं ला सकी। आपका निरूपण करना किसी प्रकार संभव नहीं। आप रहस्य के रहस्य ही बने रह गए।

व्याख्या=-*चेटक रूप०*—आपका रूप जादू ही नहीं है, बड़ा रमणीय है, इसी से नेत्र उसके दर्शन के लिए लालायित हुए। पर उस रूप के दर्शन हों तब न। एक झलक सामने आने पर फिर उसका जादू ही जादू रह गया। वह सत्य झलक नहीं रह सकी। *कौंध में चौंध०*—नेत्रों में आपका प्रकाश ही भर गया। देखा किसे जाए और देखे कौन। नेत्रों में मेरी सत्ता नहीं रही। आपके प्रकाश की ही सत्ता रह गई। आपकी झलक देखकर उन्होंने अपनी दृष्टि खो दी। उनकी अहंता का आप ही में लोप हो गया। *बातैं बिलाय०*—वाणी भी आपके रूप का आख्यान नहीं कर सकी। मन में उसका उत्साह उठा अवश्य। पर हृदय स्वयम् तो कहता नहीं। वाणी के माध्यम से कहता है। वाणी भी आप ही में विलीन हो गई। वह क्या कहे। आप अनिर्वचनीय हैं, केवल अनुभवगम्य हैं। *साँच०*—पर बुद्धि जिसका काम निश्चय करना है कोई निश्चय नहीं कर सकी कि आपकी झलक सत्य है या उस झलक के अनंतर होनेवाला जादू सत्य हैं। आपमें नेत्र विलीन हुए, वाणी विलीन हुई और अंततोगत्वा बुद्धि भी उसी में विलीन हो गई।

पाठांतर—*उमड़्यौ* = उमग्यो।

(कबित्त)

जीवहि जिवाय नीकें जानत सुजान प्यारे
याही गुन नामहि जथारथ करत हौ।

चिरजीजै दीजै सुख कीजै मनभायो मेरो
मेरो अभिलाषनि की निधि कों धरत हौ।
चाह बेली सफल करन *घनआनँद* यों
रस दै दै उर आलबालहि भरत हौ।
प्यारे सों छकौंह ढरकौंहीं मृदु बानि बस
बिबस ह्वै आप ही तें मो पर ढरत हौ।१६८।

प्रकरण—प्रिय की प्रेमी पर द्रवीभूत होने की वृत्ति का कथन यहाँ किया गया है। आप प्राणों को भली भाँति जिलानेवाले हैं। इस प्रकार अपने नाम को यथार्थ सिद्ध करते हैं। आपके प्रति मेरी मंगल कामना है कि आप चिर-काल तक जीएँ, मुझे सुख दें, मेरा मनचाहा करें। आप मेरी आकांक्षा के भांडार हैं। अपनी रसवृष्टि से मेरी इच्छा पूर्ण करनेवाले हैं। आपकी प्रेमी को छकाने और उसके प्रति द्रवित होने की वृत्ति है इसी से आपसे आप मुझ-पर द्रवीभूत होते हैं।

चूर्णिका—*जीवहि०* = आप जी को जिलाना भली भाँति जानते हैं। *जथारथ* = (यथार्थ) सत्य, सार्थक। *याहि०* = जी जिलाने के ही गुण से आप अपना नाम (सुजान-जान अर्थात् जी के लिए जो सु = साधु अर्थात् अनुकूल हो) सार्थक करते हैं। *चिरजीजै* = चिरंजीवी हों। *निधि* = खजाना, थाती। *सफल* = फलयुक्त, पूर्णमनोरथ। *रस* = जल; प्रेम। *आलबाल* = थाला। *छकौंहीं* = छका देनेवाली। *ढरकौंहीं* = ढरकनेवाली, अनुकूल होने-वाली, नीचे की ओर ढुलकनेवाली (मेह या जल के पक्ष में)। *बिबस०* = मैं आपको पाने की अधिकारिणी नहीं हूँ, पर आप अपने मृदु स्वभाव से विवश होकर मुझपर सदा अनुकूल हो जाते हैं।

तिलक—हे सुजान प्रिय, आप प्राणों को भली भाँति जिलाना जानते हैं और इसी गुण के द्वारा आप अपने नाम 'सुजान' को सार्थक सिद्ध करते हैं। सुजान का अर्थ ही है जो प्राणों (जान) के लिए अत्यंत अनुकूल हो। इसलिए मेरी कामना यही है कि आप चिरकाल तक जीवित रहें और मुझे अपने प्रेमी को सुख भी दें तथा मेरी मनोवांछित वृत्तियों की पूर्ति भी करें। मेरी धारणा यही है कि आप मेरे अभिलाषों के भांडागार हैं। मेरी काम-

नाएँ आप ही के आश्रित हैं। साथ ही सारी कामनाएँ आप ही को लेकर हैं। आप आनंद के घन हैं। मेरी इच्छा की लता को अपना रस दे देकर और उसके हृदयरूपी थाले को भर भर उसे सफलता देनेवाले हैं। मेरी इच्छाएँ केवल होकर नहीं रह जातीं वे सिद्धि तक पहुँचती हैं। पूर्णतया उनकी पूर्ति होती है। प्रेमी को भली-भाँति छका देनेवाली (परितृप्त कर देनेवाली) और उसके प्रति अनुकूलता प्रदर्शित करनेवाली (ढुलकनेवाली) ऐसी कोमल बान आपमें है जिसके कारण आप स्वतः ही विवश होकर मेरे ऐसे प्रेमी के अनुकूल आचरण करते हैं। आपको पाने के लिए उपासक को अपनी ओर से किसी प्रकार का आयास नहीं करना पड़ता।

व्याख्या—*जीवहि०*—जी का अपना काम जीना ही है। पर वह तब तक जी नहीं सकता जब तक उसे पोषक तत्त्व न मिलें। जीव जीता न रह जाता यदि सुजान का सांनिध्य उसे प्राप्त न होता। ब्रह्म भी सुजान, ज्ञान रूप है, वह भी जीवों को जिलाता है। उसके गुण और नाम में यथार्थ तत्त्व है। नाम बिना गुण का विचार किए भी धर दिया जाता है। पर यहाँ नाम और गुण में पूरा अन्वय है। जी को जिलाने और निकाई से जिलाने में अंतर है। साँस लेना जीना नहीं है। जीना होता है जब उसकी कामनाएँ पूर्ण हों। जीवन सच पूछा जाय तो कामनाओं का पुंज है। कामनाओं की पूर्ति जो करे तत्त्वत. वही जीवन है। सुजान ही जीवन हैं। प्रेमी का जीवन उसका अपना जीवन नहीं है। उसमें सुजान ही जीते हैं। जीव में ब्रह्म ही जीवन है। जीवन की सारी चेतना सारा ज्ञान ब्रह्म ही है। *चिरजीजै०*—इस प्रकार यदि यह कामना हो कि आप चिरकाल तक जीएँ तो मेरा भी चिरकाल तक जीवन रहे। सुख आपके द्वारा मिलेगा ही। कामनाएँ पूर्ण होंगी ही। अभिलाष मनुष्य के वश के नहीं हैं। ईश्वर ही उनके पूर्ण करने में हेतु है। ईश्वर ही अभिलाष है। जीवन की सारी कामनाओं का उत्स वहीं है। वह जीवनतत्त्व भी है और वही कामतत्त्व भी है। *चाह बेली०*--लता को घन का जल चाहिए। मेह से उसके थाले को भरना चाहिए। ईश्वर भी इच्छा का पूरक है। सारा विश्व उसकी ही इच्छा है, लीला है, खेल है। वही उसे रस देता हैं। वह 'रसो वै सः' है। वह जीवन का सर्वस्व है। *प्यारे सों०*—घन

लता की जल से परितृप्ति करता है। उसका जल लता के निकट ढुलककर पहुँचता है। घन का जल उसके काम नहीं आता। वह अपने जल से वनस्पति जगत् का पोषण करता है। वह मृदु है, द्रवीभूत होता है। यही उसका स्वभाव है। ईश्वर भी अपनी ओर से ही स्वतः सब कुछ करता है। मौन रहनेवाले की पुकार आप से ईश्वर के अतिरिक्त और कौन सुन सकता है।

पाठांतर—*सुजान* = जानजू।

(सवैया)

मुखचाहनि कों चित चाहत है चखचाहनि ठौरहि पावति ना।
अभिलाषनि लाखनि भाँति भरे हियरा मधि साँस सुहावति ना।
घनआनँद जान तुम्हैं बिन यौं गति पंगु भई मति धावति ना।
सुधि दैन कही सुधि लैन चही सुधि पाएँ बिना सुधि आवति ना।१६६।

प्रकरण— विरहिणी अपने विरह की लालसा और उसमें होनेवाली स्थिति का ब्यौरा दे रही है। चित्त तो यही चाहता है कि आपके दर्शन हों, पर नेत्रों को अपने टिकने का कोई आधार मिलता ही नहीं। साँसें अवश्य चल रही हैं। पर हृदय में भरे हैं अभिलाष, जब तक उनकी पूर्ति न हो तब तक साँसें व्यर्थ हैं, जीना निरर्थक है। प्रिय आनंदघन के वियोग में बुद्धि की गति मारी गई। वह कहीं जा ही नहीं पाती, पंगु होकर जहाँ की तहाँ पड़ी है। आपने अपने समाचार नहीं दिए। उनके बिना मिले बेहोशी दूर न होगी। मेरा जीना आप पर ही आश्रित है।

चूर्णिका—*चाहनि कों* = देखने के लिए। *चाहनि* = दृष्टि। *चख०* = दृष्टि को कोई वस्तु देखना नहीं रुचता। *साँस०* = साँस लेना नहीं रुचता। *गति०* = हिलना-डुलना भी कठिन है। *मति०* = बुद्धि काम नहीं करती। *सुधि०* = आपने अपनी सुध (समाचार) देने की बात कही थी, मैंने भी आपकी सुध (पता) लेनी चाही। इसीलिए आपकी सुध (खोज) मिले बिना मुझे सुध (होश, चेतना) नहीं आती (मैं अचेत ही रहती हूँ)।

तिलक—हे आनंद के घन सुजान प्रिय, मेरा चित्त तो निरंतर यही चाहता है कि आपके मुख के दर्शन हों। पर दर्शन करनेवाले नेत्र जब

उसके लिए प्रयत्नशील होते हैं तब उनकी दृष्टि को कोई ठौर-ठिकाना नहीं मिलता। बिना आपको देखे न तो नेत्र कहीं किसी को देख पाते हैं और जब तक उन्हें आप नहीं दिखते तब तक चित्त की भी इच्छा पूर्ण नहीं होती। हृदय अभ्यासवश साँसें तो ले रहा है पर साँस अब रुचती नहीं है, क्योंकि हृदय लाख लाख अभिलाषों से भरा है। वे अभिलाष जब वहाँ से निकलें और उनकी पूर्ति हो तभी साँसें भी अच्छी लगें। आपके बिना मेरी अर्थात् मेरे शरीर की ही गति पंगु नहीं हो गई है, मेरा ही हिलना-डुलना बंद नहीं हो गया है मेरी बुद्धि भी जो पहले नाना प्रकार के विषयों में दौड़ती थी अब नहीं दौड़ती। वह भी पंगु हो गई है। अंतःकरण भी निष्पंद सा है। यह अचेतना इसलिए है कि आपने अपनी सुध (खबर) देने की बात कही थी और मैं भी चाहती रही कि आपकी सुध (पता) मिले। पर आपने समाचार दिया नहीं और मैं आपका पता लगाने में मनसा, कर्मणा असमर्थ हो गई। इसलिए जब तक आपकी सुध (खोज) न मिलेगी तब तक मेरी सुध (चेतन) भी नहीं लौटेगी। आप क्या गए मेरी चेतना को भी लेते देते चले गए।

व्याख्या—*मुख चाहनि०*—'चित्त' ही चेतना का मुख्य आधार है। उस चेतना के प्रेरक आप हैं। नेत्रों की ज्योति आपके मुख से ही आती है। *अभिलाषनि०*—लाख लाख सासें लाख लाख अभिलाषों के भरे रहने से ठीक से चलती ही नहीं हैं। साँस लेने में भी कष्ट होता है। प्रत्येक साँस अभिलाष से टकरा जाती है। अभिलाष उन साँसो को रहने भी नहीं दे रहे हैं। अभिलाष सुहाते हैं। अभिलाष पूर्ण हों तो साँसें भी सुहाने लगें। *घनआनँद०*—आप ही जान (प्राण) हैं। आप ही नहीं तो स्पंदन भी नहीं। पंगु तो गति हुई और दौड़ना मति का भी बंद हो गया। सारी गतियाँ बंद हैं। *सुधि दैन०*—आपने सुध देने की कही मैंने भी उसे लेना चाहा। लेन-देन ठीक से चल ही नहीं रहा तो जीवन का व्यापार कैसे चले। सुध मिले तो सुध आए। आप आइए तो सुध भी आए। आप ही के कारण सब कुछ है। आप नहीं तो फिर कुछ नहीं।

(कबित्त)

रसिक रसीले हौ छबीले गुन गरबीले
रंगनि ढरीले हौ छकीले मद मोह तें।
जीवन बरस घनआनँद दरस आछो
सरस परस सुख सींच्यौ हँसि जोहतें।
अचिरजनिधि हौं तिहारी सब बिधि प्यारे
कृपा होति फलित ललित लता छोह तें।
मिलन तें ज्यौं ही बिछुरन करि डार्यौ वारी
त्यौं ही किन कीजै हाहा मिलन बिछोह तें।१७०।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय का गुणकीर्तन करती हुई कहती है कि जिस प्रकार आपने मिलन के अनंतर वियोग किया उसी प्रकार वियोग से मिलन क्यों नहीं कर डालते। आप रसिक हैं, रूपवान् हैं, गुणी हैं, आनंद या रंग से भरे हैं, मदमोह से छके हैं, जीवन की वृष्टि करनेवाले, आनंद के घन हैं, सुदर्शन हैं, आपने हँसकर देखा तो सुख से युक्त कर दिया। आश्चर्य के खजाने हैं। प्रेम की लता में कृपा फलित हो जाए तो कैसा उत्तम हो आदि गुणकथन हैं।

चूर्णिका—*रंगनि०* = रंग में ढले हुए, रंग से भरे हुए। *छकीले०* = प्रेम के मद से छके हुए, प्रेम के नशे में चूर। *जीवन* = जल; प्राण। *बरस* = वर्षा। *सरस* = आनंदप्रद। *परस* = स्पर्श। *सुख०* = हँसकर मेरी ओर निहारते हुए आपने मुझे सुख से सींच दिया था। *अचिरजनिधि* = आश्चर्य के भांडार। *हौं०* = मैं सब प्रकार से आपकी ही हूँ। *कृपा०* = यदि आपकी मुझपर कृपा हो जाय तो आपके प्रेम से (प्रेम पाकर) मेरी जीवनलता भली भाँति सफल हो जाय, मेरा जीवन सार्थक हो जाए। *ज्यौं ही०* = जिस तरह। *वारी* = मैं बलिहारी जाती हूँ। *किन०* = क्यों नहीं करते।

तिलक—हे घनआनंद प्रिय, आप रसिकों में सबसे रसीले हैं, छविवाले भी हैं, गुण से गर्वीले भी हैं। रंग से भरे हुए भी हैं। मोह-मद से छके भी

हैं। आप जीवन की वृष्टि भी करते हैं, आनंद के घन ही ठहरे। दर्शन भी आपका रुचिकर है, अच्छा है। आपका स्पर्श भी आनंददायक है। आपने मेरी ओर देखा तो हँसते हुए देखा। इस प्रकार देखने का फल यह हुआ कि आपने मुझे सुख से सींच दिया। आपमें एक नहीं अनेक आश्चर्यजनक विशेषताएँ हैं, आप आश्चर्य के भांडार ही हैं। इधर मैं सब प्रकार से आपकी ही हूँ, आप ही मेरे प्रिय हैं। आपका मेरे प्रति जो छोह है, प्रेम है, ममत्व है उसकी ललितलता में यदि कृपा के फल लग जाते तो क्या ही उत्तम होता। तब होता यह कि जिस प्रकार आपने संयोग से वियोग की स्थिति ला रखी है उसी प्रकार वियोग से फिर संयोग की स्थिति हो जाती। बलिहारी जाती हूँ, दैन्य प्रकट करती हूँ आप ऐसा ही करें।

व्याख्या—*रसिक रसीले०*—रसिक और रसीले सामान्यतया पर्याय-वाची शब्द प्रतीत होते हैं। पर दोनों में अंतर है। रसिक वह होता है जिसमें रस के प्रति सद्वृत्ति हो। रसीला वह होता है जो भीतर-बाहर सर्वत्र रसमय हो। आप केवल अंतःकरण से ही रसमय नहीं हैं। आप बाहर से भी रसमय हैं। केवल रसमय नहीं हैं, छविमय भी हैं। केवल छविमय नहीं हैं गुणमय भी हैं—'यत्राकृतिस्तत्र गुणा वसन्ति'। गुण भी साधारण नहीं असाधारण हैं, अतः गर्व करने योग्य हैं और उन गुणों के कारण आप गर्व का अनुभव करते हैं। गुणमय ही नहीं आप रंगमय भी हैं। रंगमय ही नहीं मदमय भी हैं। मदमय ही नहीं मोहमय भी हैं। *जीवन बरस०*—आप आनंद के घन हैं और जल क्या, जीवन की ही वृष्टि करते हैं। केवल वृष्टि ही नहीं करते आपके दर्शन भी सुशोभन हैं। आप बाहर से ही सुशोभन नहीं भीतर से भी सुशोभन (सरस) हैं। आपका स्पर्श भी सुशोभन है। आपकी हँसी क्या है सुख का सेचन है। *अचिरजनिधि०*—इतनी विशेषताओं का एक साथ होना आश्चर्यकारक है। आप आश्चर्यमय हैं। जितनी विशेषताएँ हैं वे सफलता तक, सिद्धि तक पहुँचनेवाली हैं। फिर प्रेम की सुशोभन लता फलवती होनी ही चाहिए। अभी तक नहीं हुई है यही आश्चर्य है। आपकी कृपा हो तो वह भी हो जाए। *मिलन तें०*—मिलन को वियोग में परिणत करनेवाले आप ही हैं। यहाँ से अन्यत्र

आप अपनी इच्छा से आए हैं। वहाँ से यहाँ आएँगे भी तो अपनी ही इच्छा से।

पाठांतर—हौं = है।

(सवैया)

कहा कहियै सजनी रजनीगति चंद कढ़ै कि जियैं गहि काढ़ै।
अमीनिधि पै बिषसार स्रवै हिमजोति जगाय कै अंगनि डाढ़ै।
सु या पतिसंग न जानति है *घनआनँद* जान बिछोह की गाढ़ै।
बियोग मैं बैरिनि बाढ़ति जैसी कछू न घटै जु सँजोगहू बाढ़ै।१७१।

प्रकरण—विरहिणी रात्रि के बढ़ने के संबंध में यह आकांक्षा करती है कि जिस प्रकार यह वियोग में बढ़ी हुई प्रतीत होती है यदि उसी प्रकार संयोग में भी बढ़ जाया करे। विरह में तो उसकी गति कुछ कही ही नहीं जा सकती है। चंद्र क्या निकलता है जी को ही पकड़कर निकाल लेता है। है वह अमृत का भांडार (सुधाधर) पर टपकता है बिष, उसकी ज्योति ठंढी होती है पर अंगों को जलाती है। यह तो अपने पति (निशानाथ चंद्रमा) के साथ सदा रहती है। उसे क्या पता कि सुजान प्रिय के वियोग का कष्ट कैसा होता है।

चूर्णिका—*रजनी०* = राति की दशा (कष्ट)। *जियैं* = जी को ही। *गहि०* = पकड़कर निकाल लेता है। *अमीनिधि०* = चंद्रमा अमृत का भांडार (सुधाधर) होकर भी विषसार टपका रहा है। *हिमजोति०* = शीतल ज्योति वाला होने पर भी। *जगाय कै०* = प्रकाशित करके। *डाढ़ै* = जलाता है। *या* = यह रात्रि अथवा इस रात्रि को। *पति०* = यह रात्रि अपने पति चंद्रमा के साथ रहती हुई, मेरे प्रिय के वियोग का कष्ट नहीं समझ पाती [अथवा पति के साथ (संयोग में) यह पता ही नहीं चलता था कि कब रात आई और कब निकल गई]। *है०* = पर इस समय प्रिय के वियोग (की विपत्ति के) कारण यह कठिनता से बीतती है। *बैरिनि* = यह रात्रि। *कछू०* = उसका और मेरा कुछ भी न घटे, कोई हानि न हो। *जु०* = यदि संयोग में भी यह ऐसी ही बढ़े।

तिलक—हे सखी, रात की दशा (कष्टदायकता) क्या कहूँ। इसके आने पर चंद्रमा जब निकलता है तब वह प्राणों को पकड़कर निकालने लगता

है। यद्यपि वह अमृत का भांडार है, पर टपकता रहता है विष का सारतत्त्व। इसकी ज्योति शीतल है, पर उस शीतल ज्योति को प्रकाशित करके यह अंगों को जलाता है। यह रात्रि स्वयम् जब पति के साथ रहती है तब इसे क्या पता कि आनंदघन सुजान प्रिय के वियोग से जो कष्ट होता है वह कैसा मर्म-भेदी है। संप्रति वियोग के समय यह जैसी बढ़ी हुई प्रतीत होती है यदि वैसी ही प्रिय के संयोग के समय भी यह बढ़े तो इसका कोई घाटा न होगा।

व्याख्या—*कहा कहियै*०—रजनी को रंजन करनेवाली होना चाहिए, पर उसमें प्राण निकाले जाते हैं। प्राण अपने आप नहीं निकलते उन्हें विवशतापूर्वक निकाला जाता है। *अमीनिधि*०—अमृत और हिम दोनो ही विपरीत हो गए हैं। विषसार में परम विष की स्थिति हो जाती है। विष का निचोड़ प्रबल प्रभावकारक होता है। रात सोने का समय है, पर ज्योति जगती रहती है, इस प्रकार स्वयम् जगने का कष्ट सहकर अंगों को जलाती है। *सु या पति*०—इसके पति सुजान हैं नहीं इसी से यह जानती नहीं। मेरे प्रिय सुजान हैं। *बियोग मैं*०—वियोग में ही यह बैरिन हुई है। संयोग में तो सखी रहती है तब इसका क्या घटेगा। मित्र की बाढ़ वृद्धि करनेवाली ही तो होगी।

जान सुखारे रहौ रहि आए हौ होति रही है सदा चितचीती।
हैं हम ही धुर की दुखहाई बिरंचि बिचारि कै जाति रची ती।
प्रान पपीहन के घन हौ मन दै *घनआनँद* कीजै अनीती।
जानौ कहा अनुमानौ हियें हित की गति कों सुख सों नित बीती।१७२।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय की और अपनी स्थिति का मिलान कर रही है। हे प्रिय, आप सुखी रहे हैं और आप जैसा चाहते रहे हैं वैसा ही होता रहा है। पर मैं आरंभ ही से दुखी हूँ और रहूँगी। ब्रह्मा ने नारीजाति का निर्माण सोच-विचारकर दुख के लिए ही किया है। आप मनमाना अन्याय कीजिए फिर भी मेरे प्राण चातकों के लिए आप मेघ ही हैं। आप समझेंगे क्या, अनुमान भी नहीं कर सकेंगे मेरे हृदय की स्थिति का। आपके दिन सदा सुख से जो बीतते रहे हैं।

चूर्णिका—*सुखारे* = सुखी। *रहि*० = सुखी ही रहते आए हो।

चित० = मनचाही। *धुर की* = अत्यधिक। *दुखदाई* = दुख की मारी। *बिरंचि* = ब्रह्मा ने। *जाति०* = स्त्री की जाति। *रची ती* = बनाई थी [अथवा ती जाति रची = स्त्री की जाति बनाई]। *मन दै* = मन लगाकर, भली भाँति। *अनीती* = अनीति, अन्याय। *जानौ०* = आप क्या जानें और किस प्रकार हृदय मे अनुमान ही कर सकें। *हित०* = प्रेम की दशा। *सुख०* = आपकी तो सदा सुख से ही बीतती आई है।

तिलक—हे सुजान प्रिय, आप सदा सुखी रहते आए हैं, ईश्वर करे आप सुखी ही रहें। केवल सुखी ही नहीं रहे हैं आपने मन से जैसा चाहा सदा वैसा ही होता आया है। मन के प्रतिकूल कोई घटना तक भी नहीं घटित हुई। ब्रह्मा आपके अनुकूल ही रहा है। हाँ, मैं अवश्य आरंभ से ही अत्यधिक दुख की मारी रही हूँ और वैसे ही रहना भी है। ब्रह्मा ने हम नारी जाति की रचना ही यह समझकर की है कि इन्हें सदा दुख ही सहना है—(अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी। आँचल में है दूध और आँखों में पानी)। मेरे प्राणरूपी चातक के लिए आप ही मेघ हैं। चातक की भाँति इन प्राणों को भी आपके द्वारा किए अन्याय उसी प्रकार सहने हैं जिस प्रकार वह मेघ की उपलवृष्टि और वज्रपात को सहता है। इसलिए आप मनमाने अन्याय कीजिए मुझे चिंता नहीं है। आनंद के घन होकर मुझे निरानंद घन बनाते रहिए। मैं तो जानती हूँ कि प्रेम की गतिविधि से आप किसी प्रकार परिचित नहीं हैं, उसे जानते तक नहीं। फिर अंतःकरण से उसका अनुमान आप क्या लगा सकेंगे। आपकी सदा सुख से बीतती रही है और मेरी दुख से। इसलिए आपके लिए दुख दूर है और मेरे लिए सुख।

व्याख्या—*जान सुखारे०*—मेरे दिन दुख के हैं या मैं दुखी हूँ इसलिए दूसरे भी दुखी हो जाएँ यह वृत्ति अनुचित है, फिर आप तो प्रिय हैं आप सुखी रहें, आपको दुख होनेवाला भी हो तो मुझे ही हो जाए, आप तक उसकी पहुँच भी न हो। 'अपनी चीती होति नहीं, हरि चीती तत्काल' का सिद्धांत आप पर नहीं लगता। आप भाग्यशाली हैं। कभी आपके मन के विपरीत नहीं हुआ। *हैं हम ही०*—हमी हैं, अर्थात् न आप हैं और न और कोई है। आरंभ से, मूल से कोई वैसा दुखी नहीं जैसी मैं हूँ। ब्रह्मा ने

नारी जाति को जो बनाया सो तो बनाया ही, मुझे बनाते समय मेरी भाग्यरेखा बहुत बुरी देखी तो उसने सोचा कि इतना दुख तो पुरुष सह ही नहीं सकते, नारी भी नहीं सह सकती। पर करता बेचारा क्या, बहुत सोच-समझकर उसने यही निश्चय किया कि नारी बनाना ही ठीक है, वही सह ले तो सह ले, पुरुष तो सह ही नहीं सकता। *प्रान पपीहन*—अन्याय करने का अधिकार केवल मेघ को है, चातक को तो सहने का ही अधिकार है। आपको अनीति करनी है मुझे सहनी है। आप एक ओर आनंद के घन और दूसरी ओर अनीति के घन, दो विपरीत स्थितियाँ आप में ही रह सकती हैं। यहाँ विपरीतता का भाव ही नहीं है। *जानौ कहा०*—आपको जानना चाहिए था, सुजान हैं आप। फिर भी आप नहीं जानते। रहा अनुमान सो वह अंतःकरण से होता है, हृदय से होता है। वह हृदय हो तब न, सहृदयता के विना कोई निरर्थक अनुमान के चक्कर के क्यों पड़े। 'हिय की गति' हो, हृदय का स्पंदन हो तो 'हित की गति' प्रेम का प्रस्पंदन भी हो। जिसके दिन सुख से बीतते हैं उनमें हार्दिकता की कमी हो ही जाती है। आप के सुख में बाधा होगी यदि आप दुख के अनुमान में पड़ें। दुख की अनुभूति दूर रहे। किसी के दुख का अनुमान करने में कम से कम अनुमान करने का आयास तो होगा। यह आयास भी आप क्यों करने लगे।

पाठांतर——*घन हौ* = धन हौ।

जित चाहत हौ तित जाय मिलै चित रावरो कोबिद केलिकला।
जिनकों तुम भोरि बिसास करौ सु न साँस भरै बपुरी अबला।
घनआनँद जान रहौ उनए से नए बरसौ नित नेहभला।
नटनायक लायक मायक हौ गति पाय परै न तिहारी लला।१७३।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के प्रेमव्यापार की मायामयी विशेषता का विवरण दे रही है। आप क्या करें, आपका चित्त केलिकला में कोविद है। आप जहाँ जिससे चाहते हैं। वहीं उससे वह जा मिलता है। प्रेमी पक्ष से कुछ प्रतिवाद भी नहीं होता। आप जिसके साथ विश्वासघात करते हैं वह बेचारी अबला होती है, उसे साँसें भरने की भी फुरसत नहीं मिलती। प्रतीत यही होता है कि आप छाए हैं और प्रेम की नित्य नवीन वृष्टि कर रहे हैं।

होते हैं। 'गति' के साथ 'पाय' (पाना, पाद = पैर का) प्रयोग ध्यान देने योग्य है। पैरों में उस गति का समाना संभव नहीं। बड़ी तीव्र और विकट गति है।

पाठांतर— *जित* = जिन। *पाय* = पाई।

(कबित्त)

मेरो चित चाहै *घनआनँद* सुजान कों पै
ढकी लाग आग की लपेटैं जीव ही सहै।
वे तौ गौं गवेले हौं गहाऊँ सो न गहैं गेल
रहैं छैल भए नए लेस ताहू को न है।
पातनि तकत मूल भूले फिरैं फूले बृथा
आली बनमालीजू के फल कहा कहै।
आवरी ह्वै बावरी तू तावरी परति काहे
ते ह्वाँ घर बसे ह्याँ उजारि बसि को रहै।१७४।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के कार्यकलापों का विवरण देती हुई कहती है कि चित्त तो सुजान को चाहता है और प्राणों को छिपी आग का कष्ट सहना पड़ता है। प्रिय केवल अपनी बात के फेर में रहते हैं और मेरे कहे में नहीं हैं। वे छैल बने रहते हैं। मूल को छोड़कर पत्तों को ही देखते हैं और फूले फिरते हैं। फल की उन्हें चिंता नहीं। हे सखी, तू व्याकुल और पगली, उनकी बातों से मूर्छित क्यों हो रही है उन्होंने जब वहाँ घर बसा लिया तब मैंने जो अपना घर उजाड़ दिया तो मैं ही यहाँ क्या बसूँ।

चूर्णिका—*घनआनँद* = आनंद के बादल, शीतलता देनेवाले। *ढकी* = छिपी, भीतरी। *लाग०* = प्रेम की आग। *लपेटैं* = झकोरों को। *जीव०*=जी ही सहता है। *गौं गवेले* = अपनी घात से चलनेवाले। *हौं०* = मैं जो रास्ता पकड़ाती हूँ उमसे नहीं चलते। *रहैं०* = वे नए छैला बने घूम रहे हैं। *लेस०*=उनमें तो प्रेम का लेश भी नहीं है। *पातनि०* = वे तो पत्तों को देखते हैं, जड़ को भूले हुए हैं और व्यर्थ फूले फूले घूमते हैं (उनमें सच्चा प्रेम नहीं है, वे केवल ऊपर की शोभा देखनेवाले हैं, हृदय को देखने या पहचाननेवाले नहीं)। *फल०* = उनके फल (कार्यकला के परिणाम) की क्या बात।

आवरी = व्याकुल । *बावरी* = पगली । *तावरी०* = मूर्छित क्यों होती है । *ते०* = वे तो वहाँ घर बसा रहे हैं, दूसरे से प्रेम कर रहे हैं । *ह्याँ०*= यहाँ उजाड़ में बसकर कौन रहे । दुःख की ऐसी दशा मुझसे अब तो नहीं सही जाती ।

तिलक—मेरा चित्त यद्यपि आनन्द के घन सुजान प्रिय को चाहता है पर वह यह नहीं जानता कि इसका परिणाम क्या होगा । उसकी चाह का फल प्राणों को भोगना पड़ता है । इसके कारण प्रेम की जो आग भीतर ही भीतर सुलगती है उसकी प्रचंडता के झकोरों को केवल प्राण ही सहते हैं । वे प्रिय अपनी घात के अनुसार ही चलनेवाले हैं । जिस मार्ग पर मैं उन्हें चलाना चाहती हूँ उस पर चलते ही नहीं । यदि मेरे बनाए मार्ग से वे चलते तो ऐसा कष्ट मुझे न भोगना पड़ता । वे नित्य छैल छबीले बने से रहते हैं । मेरे यहाँ उसका लेशमात्र भी नहीं है । फिर वे किस प्रकार आकृष्ट होकर मेरी मरजी से चलें । वे केवल पत्तों को ही देखते हैं । बाहरी या ऊपरी तड़क-भड़क के ही चक्कर में रहते हैं । जड़ को एकदम भूले हुए हैं । इस बाहरी तड़क-भड़क के फेर में ही वृथा फूले फूले फिरते हैं । अब विचारणीय बात यह है कि जिसने जड़ को ही भुला दिया वह फल फिर कहाँ से पाएगा । इसलिए उनसे फल की कोई आशा नहीं है । मैं जिस रूप में उन्हें पाना चाहती हूँ उसमें वे मिलने से रहे । मेरी इन बातों से ऐ पगली सखी तू व्याकुल होकर बेकार ही मूर्छित हो रही है । जब उन्होंने वहाँ घर बसा लिया, किसी अन्य से प्रेम करना आरंभ कर दिया तब उनके कारण जो मेरा घर उजाड़ हो गया है उसमें मैं ही क्या बसूँ, अब तो मर जाने के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है । मेरी तो विवशता है । मैं जान-बूझकर तो प्राण दे नहीं रहीं हूँ ।

व्याख्या—*मेरो चित०*—मेरे चित्त ने चाह करने में भूल नहीं की, उसने चाहा आनंद के घन को, सुजान को । उनके अंतःकरण में क्या है इसे तो बेचारा चित्त जानता ही नहीं था । जिस प्रकार उनकी वास्तविक स्थिति आवृत थी, ऊपर से उसका कोई संकेत नहीं मिलता था उसी प्रकार मेरे जी में की प्रीति की आग भी आवृत ही है । 'लाग' शब्द में भी तो 'आग

छिपी है (ल + आग)। यही 'ल' 'लपट' होकर आग की लपटों में परिणत होकर प्राणों को कष्ट दे रहा है। प्राण ही सह भी सकते हैं और कोई सह भी नहीं सकता। *वे तौ०*—वे अपनी घात में ही रहते हैं। दूसरे की घात का उन पर कोई असर नहीं होता। तू व्याकुल होकर व्यर्थ गरम हो रही है। ('तावरी'=मूर्च्छित या गरम)। उन्होंने वहाँ घर बसाया। घर बसाना ही था तो मेरे उजड़े घर को बसाते, पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। मेरा बसा घर उन्हीं के कारण उजड़ा। अब उस उजड़े घर में मैं कैसे बसूँ।

पाठांतर—*गवेले* = गहेले।

उघरि दुरे हौ नीकें मिलन उरे हौ गाढ़े
रंगनि घुरे हौ घनआनँद सुजान जू।
उर बैठि दाहत हौ चाहनि मैं चाहत हौ
घात ही निबाहत हौ प्रानन के प्रान जू।
हँसि हँसि र्‌वावत हौ छाँहौं नहीं छ्वावत हौ
जागि जागि स्वावत हौ आपैहू तें आन जू।
सूझत हौ बूझत हौ चाहत हौ भाखत हौ
रहत हौ राखत हौ मौन हौ बखान जू।१७५।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय की विषम विलक्षण स्थिति का व्यौरा दे रही है। उघड़कर छिपे हैं, मिलन में भी दूर हैं, गाढ़े रंगों में घुले हैं, हृदय में बैठकर भी जलाते हैं, केवल देखने में प्रेम करते हैं, निर्वाह घात का करते हैं, हँसकर रुलाते हैं, छाँह भी छूने नहीं देते हैं, जगकर सुलाते हैं अपने से भी पराए रहते हैं। सूझते हैं और बूझते भी हैं, देखते और कहते भी हैं, रहते हैं रखते भी हैं, मौन हैं और बखानते भी हैं।

चूर्णिका—*उघरि०* = एक बार अपनी छटा दिखाकर छिप गए हैं। *उरे* = पृथक्, दूर। *नीकें०* = मिले हुए भी दूर हैं। *गाढ़े०* = गाढ़े रंग में घुले हैं, बड़े गहरे दाँव घातवाले हैं। *उर०* = हृदय में पैठकर जलाते हैं। *चाहनि०* = देखने में प्रेम करते से जान पड़ते हैं। पर वस्तुतः आपमें प्रेम नहीं है। ऊपरी प्रेम दिखाते हैं। *घात०* = अपना दाँव ही साधते रहते हैं। *हँसि०* = स्वयम हँस हँसकर मुझे रुलाया करते हैं। *छाँहौं०* =

अपनी छाया भी नहीं छूने देते, आपके मन का कुछ भी पता नहीं चलता। *जागि*० = स्वयम् जगकर (सावधान रहकर) दूसरों को सुलाते (बेसुध किए) रहते हैं। *आपै*० = अपनत्व से भी पराए बने रहते हैं। अपने को भी नहीं पहचानते। *सूझत*० = दिखाई देते हैं और दूसरे को देखते हैं, स्वयम् समझते हैं और समझकर कहते हैं। *रहत*० = स्वयम् रहते भी हैं और दूसरों को रखते भी हैं। *मौन*० = क्या कहूँ आपका बखान तो मौन ही है, आपका वर्णन कर सकना संभव नहीं। आपके हृदय का पता लगा लेना बहुत कठिन है। आप अनिर्वचनीय हैं।

तिलक—हे आनंद के घन सुजान प्रिय, आपका स्वरूप ऐसा है कि उसका ब्योरा देना कठिन है। आप उघड़कर छिपे हैं। उघड़ना और छिपना, प्रकट होना और गुप्त होना एक साथ है। आप प्रत्यक्ष ही छिपे हैं। छटा दिखाते भी रहते हैं और छिपे भी हैं। हृदय में मिले भी हैं और उससे दूर भी हैं। मेरे हृदय में बसे हैं, पर सहृदयता का स्पर्श भी आपमें नहीं है। हृदय में रहकर सहृदय होना चाहिए था, पर ऐसा नहीं हुआ। आप सुजान हैं, आनंद के घन हैं। पर आप पर जगत् का गाढ़ा रंग भी चढ़ा है। नाम क्या और काम क्या है। बैठे हृदय में ही हैं और मुझे जलाते भी उसी हृदय में हैं। अपने जलने का भी भय नहीं है। आपके देखने में चाह दिखती है, बस देखने भर को दिखती है, आपमें वास्तविक चाह नहीं है। देखने में देखना क्या होगा, पर आपके चाहने में चाहना है। निर्वाह तो आप क्या करेंगे मेरे प्रेम का, हाँ, अपनी घात का निर्वाह अवश्य करते हैं। प्राणों के प्राण नहीं होते, पर आप मेरे प्राणों के प्राण हैं, मुझे अत्यंत प्रिय हैं। ऐसी करतूतें होने पर भी अत्यंत प्रिय हैं। आप स्वयम् तो हँसते हैं पर मुझे रुलाते हैं। हँसकर दूसरे को हँसाना चाहिए, पर वैसा नहीं होता। आपके हँसने पर भी आपका सांनिध्य नहीं मिलता, उलटे आपकी छाया का भी स्पर्श कर सकना कठिन है। आप तो जगते हैं, सावधान रहते हैं, पर दूसरे को सुलाते हैं, असावधान या बेहोश कर देते हैं। आप दूसरे से पराए रहें सो तो अलग, आप अपने से भी पराए रहते हैं। अपने आपको भी पहचान नहीं पाते, फिर दूसरे को क्या पहचानेंगे। आप दिखाई देते हैं, स्वयम् ही दिखाई नहीं देते

दूसरे को भी बूझते हैं, उन्हें भी देखते हैं। आप चाहते भी हैं और कहते भी हैं, देखते भी हैं और जिसे देखते हैं उसके दर्शन में लीन नहीं होते, उसका विवरण भी देते रहते हैं। आप स्वयम् जहाँ रहते हैं वहीं दूसरों को भी रखते हैं। आप मौन भी हैं और बखाने भी हैं। आप कहते कुछ नहीं हैं फिर भी आप कहे जाने योग्य हैं। सचाई यह है कि आप कुछ कहे ही नहीं जा सकते, आप अनिर्वचनीय हैं।

व्याख्या—*उघरि दुरे*०—उद्घाटित होते छिपना, तत्त्वतः उद्घाटित न होना है, 'मिलन में पार्थक्य' में पार्थक्य होने की विशेषता है। गाढ़े रंग में घुलने का तात्पर्य है कि साधारण या हलका रंग तो कभी काम आता नहीं। सुजान में विशेषता यही होनी चाहिए कि वह साधारण से साधारण रंग से रँग जाए। पर यहाँ उलटा है। *उर बैठि*०—जिस डाल पर बैठे उसे ही काट रहे हैं। हृदय में रहकर जलाना ऐसा ही है। फिर हृदय को मानस कहते हैं। मानस मानसरोवर होता है। जल में आग लगाना साधारण काम नहीं देखने में देखना या चाहने में चाहना। यह भी उलटा ही है। देखा कोई अन्य जाता है, चाहा कोई अन्य जाता है। देखना और चाहना अपना कैसा। आत्मदर्शी में ऐसा हो सकता है। आत्मदर्शी को जगत् से क्या प्रयोजन। घात मारने को कहते हैं। मारने का निर्वाह कोई अच्छी बात नहीं है। फिर घात या मारने का निर्वाह करनेवाले को कोई प्राणों का प्राण नहीं कह सकता। फिर भी उन प्रिय को वैसा ही माना जाता है। *हँसि हँसि*०—हँसना किसी को रुलानेवाला हो तो भी ठीक नहीं। फिर जिसकी छाया भी न छू जा सके वह देवता होगा या प्रेत। संसार में ऐसा क्यों मिलने लगा। स्वयम् जागे और दूसरे को सुलाए तो ऐसा ठग होगा। अपने को भी पराया समझे ऐसा पागल होगा। *सूझत हौ*०—दिखाई देते हो, समझते हो, देखते हो, कहते हो, रहते हो और रखते हो पर आपकी सारी क्रियाएँ मौन हैं।

पाठांतर—*मिलन* = मिले न। *उरे* = वुरे। *घुरे* = धुरे। *बैठि* = बैठे। *आपै* = आयै। *चाहत* = चाखत।

(सवैया)

नीके नए अति जी के लगौंहैं सुधारे हैं तून प्रसून के सायक।
चैगुनी चोपनि तैसोई चाप चहौरि दै हाथ सज्यौ भटनायक।
पौन तुरंग चढ़यौ बनि यौं बनितानि अहेरैं कढ़यौ दुखदायक।
हौ *घनआनँद* जान कहाँ रितुराज भयौ रतिराज सहायक।१७६।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय से एकांतभाषण के रूप में कह रही है कि वसंत क्या आया है कामदेव का सहायक ही बनकर आया है। आप यदि मेरी सहायता नहीं करते तो यह मार ही डालेगा। इसके बाण तीखे, नए और घाव करने वाले हैं। धनुष भी वैसा ही है। पवन के घोड़े पर सवार होकर नारियों का आखेट कर रहा है।

चूर्णिका—*नीके* = अच्छे, जो टूटे नहीं हैं। *अति०* = हृदय पर गहरी चोट करनेवाले। *सुधारे०* = तरकस में सजाकर रख लिए हैं। *प्रसून०* =फूलों के बाण। *चाप* = धनुष। *चहौरि कै* = सहेजकर, सँभालकर। *भटनायक* = योद्धाओं का नेता बनकर। *पौन०* = वायुरूपी घोड़े पर। *बनि* = बन-ठनकर, सज-धज के साथ। *बनितानि०* = स्त्रियों का शिकार करने के लिए। *कढ़यौ* = बाहर निकला है। *रितुराज* = वसंत। *रतिराज* = कामदेव।

तिलक—हे घनआनंद सुजान प्रिय, यह ऋतुराज वसंत मानो कामदेव की सहायता करने के लिए आया है। इसने अच्छे अच्छे, नए और हृदय में गहरी चोट करनेवाले फूलों के बाण भली भाँति तरकस में धर रखे हैं। फूलों का ही धनुष भी इसने चौगुनी उमंग से सहेजकर हाथ में सजा लिया है। प्रत्यंचा आदि सब चढ़ा रखी है। वीरों के नेता के रूप में यह वायु रूपी घोड़े पर सवार होकर निकला है और वनिताओं का शिकार भी करना चाहता है। शिकारियों के यहाँ मादा को बचाया जाता है पर यह इसकी चिंता नहीं करता। आप ही रक्षा कर सकते हैं इससे।

व्याख्या—*नीके नए०*—सुधारे में सुधारकर रखना ही नहीं है—'सुंदर धारवाले' भी छिपा है। *चौगुनी०*—बाण की अपेक्षा धनुष के बनाने में अधिक आयास अपेक्षित है। हाथ में सजने में पूर्णतया प्रस्तुत होने का

भाव है, शिकार करने को तैयार बैठा है। *पौन०*—'पवन' शीतल-मंद सुगंध है। तुरंग तेज चलनेवाले घोड़े को कहते हैं। मंद होकर भी तीव्रगामी का काम कर रहा है पवन। 'बनितानि' में बनि+तानि भी है। संधत्तधनु होकर निकला है। *हौ घनआनँद०*—आप हैं आनंद के घन और वह है दुःखदायी, 'कहाँ हौ' में परम वेदना की पुकार है। प्राण निकल ही रहे हैं। बचा लें तो अच्छा है।

पाठांतर—*चाप* = चाय।

नित लाज भरे हित ढार ढरे निखरे सु खरे सुखदायक हौ।
घनआनँद झूमि कटाछन सों रसपान तृषाहि सहायक हौ।
जिय बेधन कौं अनियारे महा पै सुधाहि सुधारन सायक हौ।
घिरि घूँघट पैठत जान हियें निपटै निबटे नटनायक हौ।१७७।

प्रकरण—प्रिय के नेत्रों का वर्णन है। वे लज्जा से भरे, प्रेम की अतृप्तिवाले, अत्यंत सुखद हैं। झूमकर कटाक्ष करते हुए रसपान कराते और प्यास बुझाते हैं। हृदय को बेधने में अनीवाले हैं पर अमृत ही अमृत देते हैं। घूँघट से घिरे रहने पर भी हृदय में पैठते हैं। पूरे नटनागर हैं।

चूर्णिका—*हित०* = प्रेम की ढार से ढलनेवाले हैं। *निखरे* = साफ सुथरे, स्वच्छ। *झूमि०* = कटाक्षों के मद से झूमनेवाले। *रसपान०* = रसपान की प्यास बढ़ानेवाले हैं (देखने पर देखने की इच्छा बढ़ती है): *बेधन०* = देखने के लिए। *अनियारे* = अनीवाले, तीखे। *सुधा०* = सुधा धारण करनेवाले बाण। *घिरि०* = घूँघट से घिरे रहने पर भी। *जान* = सुजान, प्रिय। *हियें* = हृदय में। *निपटै* = अत्यंत। *निबटै* = पूरे, पहुँचे हुए।

तिलक—प्रिय के नेत्र लज्जा से भरे हैं। प्रेम की ढार पर ढलनेवाले हैं। अत्यंत सुखदायक हैं। घने आनंद से झूमते हुए कटाक्षों से रसपान कराते हैं और प्यास की सहायता करते हैं। प्यास बुझाते भी हैं और प्यास बढ़ाते भी हैं। प्राणों को बिद्ध करने में अत्यंत तीखे हैं। पर प्राणों को बेधते हुए भी अमृत को ही सुधारते रहते हैं। प्राणों को बेधने में विष होना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। प्राणों को वह बेधना अच्छा लगता है। घूँघट से

घिरे रहने पर भी उस आवरण का प्रभाव नहीं होता, अवरोध नहीं होता। हृदय में वाण की भाँति धँस ही जाते हैं। आप अत्यंत प्रवीण नट-शिरोमणि हैं, अपनी कला में पहुँचे हुए हैं। यदि नटविद्या न होती तो घूँघट से घिरे रहने पर भी हृदय में कैसे पैठ जाते।

व्याख्या—*नित लाज०*—लज्जा नित्य रहती है, हित की ओर ढलना भी नित्य है। लज्जा प्राय: बाधक होती है, पर उससे हित में बाधा नहीं पहुँचती। लज्जा संकोच से होती है। संकोच दुःख के वर्ग का है, पर नेत्र अत्यंत सुख ही देते हैं। *घनआनँद०*—घने आनंद के झूमने पर रसपान होना, ठीक ही है। प्यास का बुझना भी ठीक है। पर प्यास का बढ़ना उलटा है। *जिय बेधन०*—प्राणों को बेधनेवाला अमृत को सँवारे यही उलटी गति है। *घिरि घूँघट०*—घूँघट में घिरे रहने से अवरोध होना तो दूर और अधिक आघात करने की शक्ति दिखती है।

पाठांतर—*हौ* = हैं। (चारो चरणों में)। *लायक* = सायक।

सब ठौर मिले पर दूरि रहौ भरि पूरि रहे जिहि रंग झिलौ।
इहि लायक हौ वहौ नायक हौ सुखदायक हौ पुनि पाय खिलौ।
घनआनँद मीत सुजान सुनौ कहूँ ऊखिल से कहूँ हेत हिलौ।
हम और कछू नहिं चाहति हैं छिन कौं किन मानस रूप मिलौ।१७८।

प्रकरण—प्रिय के विलक्षण रूप का ब्यौरा विरहिणी दे रही है। आप सर्वत्र मिले भी हैं और दूर भी हैं। जिस रंग में डूबे उसमें रंग नहीं आप ही दिखते हैं। आप समर्थ हैं, स्वामी हैं, सुखद हैं। फिर आप मिलें और प्रसन्नता से मिलें। यह क्या है कि मुझसे तो अजनबी बने रहते हैं और अन्यत्र प्रेम ठानते हैं। मैं और कुछ नहीं चाहती, केवल क्षण भर के लिए आप उस रूप में मिलें जिस रूप में मेरा मन आपको चाहता है।

चूर्णिका—*मिले* = मिले रहने पर भी। *भरि०* = भली भाँति घुल-मिल जाते हो। *झिलौ* = लीन हो जाते हो। *वहौ०* = उस पर भी आप स्वामी हैं। *पुनि०* = फिर आप मुझे पाकर प्रसन्न हों, खिलें। *ऊखिल* = अपरिचित (व्रज की बोलचाल का शब्द), अजनबी, पराए, बेगाने। *हेत०* = प्रेम करते हो। *कहूँ०* = कहीं तो अपरिचित बने रहते हो और

कहीं प्रेम ठानते हो। *छिन कौं* = क्षण भर के लिए ही। *मानस रूप* = मेरे मन में आपका जैसा रूप है, मैं जिस रूप में आपको चाहती हूँ मेरी जैसी भावना है वैसा रूप।

तिलक—हे घनआनंद सुजान प्रिय, आप सब स्थानों में मिले भी रहते हैं और सबसे दूर भी रहते हैं। आप जिस रंग में लीन होते हैं, घुलते मिलते हैं उसमें आप ही आप भरे पूरे दिखते हैं, रंग की विशेषता समाप्त हो जाती है। आपमें ऐसी योग्यता है और उतने पर भी आप ही स्वामी हैं, सुख देनेवाले हैं। ऐसा क्यों नहीं करते कि आप जिससे मुझे पाइए और प्रसन्न होइए, मैं भी सुखी और प्रसन्न होऊँ। आप मित्र हैं। पर यह क्या कि कहीं पराए बने रहते हैं और कहीं प्रेम ठानते हैं। पर मुझे तो और कुछ भी नहीं चाहिए। मैं तो इतना ही चाहती हूँ कि आपका जिस रूप में अपने मन में ध्यान करती हूँ उसी रूप में आप एक छण के लिए मुझे मिल जाएँ।

व्याख्या--*सब ठौर०*--मिलने को तो आप सभी स्थानों पर मिलते हैं। मुझे जहाँ दिखाई पड़ते हैं आप ही दिखाई पड़ते हैं। पर आपका सांनिध्य कहीं प्राप्त नहीं होता। आप जिस रंग में मिलते हैं उसी पर हावी हो जाते हैं पर मुझे वहाँ भी आप नहीं मिलते। न स्थान मे मिलते हैं न रंग में मिलते हैं। *इहि लायक०*--आप समर्थ भी हैं, नेता भी हैं, सुखदाता भी हैं पर मिलें मुझे तभी तो सबकी सार्थकता हो। एक बार मुझे खिले-खिलाए मिलें तब तो मेरा काम बने। *घनआनँद०*--आप आनंद के घन हैं, मित्र हैं, सुजान हैं। आनंद के घन होकर विषाद नहीं देना चाहिए, मित्र होकर शत्रु का सा आचरण नहीं करना चाहिए और सुजान होकर अजान की सी वृत्ति नहीं रखनी चाहिए। पर यह क्या कि मुझसे पराए से और अन्यों से प्रेमी से मिलते हैं। विषाद, शत्रुता और अज्ञान तीनों की इसमें चरितार्थता है। *हम और०*--मुझे कोई और कार्य नहीं साधना है केवल एक क्षण के लिए आपकी अनुकूल वृत्ति भर चाहिए, फिर चाहे जो हो।

पाठांतर--*बहो नायक* = बहुनायक।

हिय की गति जानन जोग सुजान हौ कौन सी बात जु आहि दुरी।
पटक्योई परै यह अंकुर आँसलो ऐसी कछू रस रीति घुरी।
बिछुरें कित सांति मिलेंहू न होति छिदी छतिया अकुलानि छुरी।
तुम ही तिहि साखि सुनौ घनआनँद प्यार निगोड़े की पीर बुरी।१७६।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय को कल्पना में लाकर संबोधित कर कहती है। प्रिय की वृत्ति और अपनी विरहपीड़ा का अंतर बताती है। एक तो सुजान होने से कोई बात आपसे छिपी नहीं है। पर आपकी रसरीति मेरे लिए ऐसी मिली कि वेदना का अंकुर फूटता चला आ रहा है। वियोग की बात क्या मिलने पर भी शांति नहीं होती। व्याकुलता की छुरी से छाती छिदी जा रही है। आप ही साक्षी हैं कि प्यार की पीड़ा कितनी बुरी होती है।

चूर्णिका—*दुरी* = छिपी। *पटक्योई०* = फूटा पड़ता है; निकला आ रहा है। *आँस* = वेदना, पीड़ा। *आँसलो* = वेदनावाला [अथवा आसलो = असली] *ऐसी०* = हृदय में रस (प्रेम; जल) की आर्द्रता ऐसी घुल रही है कि वेदन का अंकुर फूटा पड़ रहा है। *बिछुरें* = बियोग की क्या बात, मिलने पर भी शांति नहीं मिलती; संयोग और वियोग दोनो में अशांति ही बनी रहती है। *छिदी०* = व्याकुलता की छुरी से हृदय छिद गया है। *साखि०* = साक्षी।

तिलक—हे घनआनंद प्रिय, आप सुजान हैं इसलिए हृदय की गति समझने की आपमें पूर्ण योग्यता है। कौन सी बात ऐसी है जो आपसे छिपी हो। फिर भी मुझे कहना यह है कि आपकी रसरीति इस प्रकार से सींच रही है कि वेदना का ही अंकुर फूटता चला आ रहा है। यही क्यों सामान्यतया अशांति वियोग से होती है, पर आपकी रसरीति ऐसी है कि मिलन में भी शांति नहीं होती। खटका निरंतर बना रहता है कि न जाने कब किस क्षण वियोग हो जाए। इससे जो व्याकुलता होती है वह छुरी की भाँति हृदय को छेदती रहती है। इसकी साखी भरनेवाला आपके अतिरिक्त कोई नहीं है। आप ध्यान देकर सुन लीजिए कि इस निगोड़े प्यार की पीड़ा बुरी है। संयोग और बियोग दोनो में पीड़ा होती है।

व्याख्या—*हिय की गति०*—आपसे मुझे जो कुछ कहना है वह

इसलिए नहीं कि आप कुछ जानते ही नहीं। आप स्वयम् सुजान हैं, हृदय की दशा को जानने की क्षमता भी आपमें है, कोई ऐसी बात नहीं जो आपकी सूक्ष्म दृष्टि से छिपी हो। पर कहना इसी से पड़ रहा है कि सब कुछ जानते-बूझते आपका आचरण ऐसा नहीं होता जो संगत प्रतीत हो। असंगति यह है कि प्रेम जो रसरूप है, आनंदस्वरूप है उससे आशा यही की जाती है कि रस या आनंद ही मिलेगा। *पटक्यौई परै०*—पर होता विपरीत है। आपके प्रेम की रीति निराली है। उस प्रेम से आनंद का अंकुर न निकल कर विषाद का निकल रहा है। वेदना भी विलक्षण है। सामान्यतया वेदना का हेतु वियोग होता है पर ऐसा न होकर होता यह है कि संयोग और वियोग दोनो में वेदना ही वेदना मिलती है। *बिछुरें कित*—वियोग को तो सभी जानते हैं कि उसमें अशांति, अस्थिरता, व्याकुलता होती है। पर यहाँ मिलन में भी वही स्थिति है। निरंतर व्याकुलता का अनुभव हृदय में छुरी के प्रहार की स्थिति बनाए हुए है। छाती में कहीं स्थान नहीं है वह छलनी हो रहा है। व्याकुलता के आघात सर्वत्र छा गए हैं कोई स्थान शेष नहीं है। सारी छाती छिद गई है। *तुमही तिहि०*—किसी से कहने या दिखाने जाएँ तो वह विश्वास नहीं करता कि इस प्रकार अनन्यभाव से और निरंतर प्रेम करनेवाले की ऐसी दशा हो सकती है। इसलिए आपके अतिरिक्त कोई दूसरा इसका साक्षी भी नहीं है। आप स्वयम् तो घनआनंद हैं, पर मेरा अनुभव यही है कि इस निगोड़े प्रेम की पीड़ा बुरी होती है। पीड़ा कहीं, किसी क्षण रुकती हो तब तो, यह तो सतत बनी है। जब पीड़ा न होनी चाहिए तब भी बनी है।

पाठांतर—*पटक्योई* = टपक्योई। *आँसलो* = ओस लौं। *साखि* = साधि।

नाहि पुकार करै सुनि आहिन को कित है किहि दोष लगैयै।
संगम पै बिछुरे मरियै यहि भाँतिन क्यौं जियराहि जरैयै।
ओटनि चोटनि चूर भयौ चित मो बिन हो किन बाहिर ऐयै।
ह्वै घनआनँद मीत सुजान कहा अब हेत सुखेत सुखैयै।१८०।

प्रकरण—विरहिणी अपनी विरह की विवशता और प्रिय के अनमेल

आचरण का ब्यौरा दे रही है। मेरी आहों को सुनकर कोई गुहार नहीं लगता। कोई पास है भी नहीं। किसे न सुनने का दोष दूँ। प्रिय से हृदय के भीतर संयोग होने पर भी वियोग में मरती हूँ। इस प्रकार प्राणों को जलाना व्यर्थ है। फिर भी मैं जल रही हूँ। आपकी ओर से होनेवाली चोटों से चित्त चूर चूर हो गया है। भीतर से बाहर प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखते। आप आनंद के घन, प्रिय और सुजान होकर भी प्रेम के खेत को सुखा रहे हैं, यही समझ में नहीं आ रहा है।

चूर्णिका—*नाहि०* = कोई ऐसा नहीं दिखाई पड़ता जो मेरी आहों को सुनकर उनपर ध्यान दे। *को०* = कौन कहाँ है (कोई नहीं), दोष भी दूँ तो किसे दूँ। *संगम०* = हृदय में आपका संयोग रहने पर भी वियोग से मर रही हूँ। *ओटनि०* = आपके ओट में रहने (परोक्ष होने) की मार से। *हो* = खेदव्यंजक अव्यय। *मो०* = इस प्रकार यदि भीतर रहते हुए भी मुझसे पृथक् रहते हैं तो बाहर आकर प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखाई पड़ते। *सुखैयै* = आनंद के घन, प्रिय और सुजान होकर आप प्रेम का खेत क्यों सुखा रहे हैं।

तिलक—हे प्रिय, कोई ऐसा नहीं है जो मेरी आहों को सुनकर पुकार करे। (गुहार लगे), उसपर ध्यान दे। पर मैं ऐसा जो कह रही हूँ वह भी ठीक नहीं। क्योंकि कोई यहाँ कहाँ है जिसके लिए कहूँ कि उसने मेरी आहें नहीं सुनीं। जब कोई है ही नहीं तो दोष किसे दूँ। मैं तो एकांत में केवल आपको कल्पना में लाकर सब कुछ कह सुन रही हूँ। दूसरा यहाँ हो तब तो। रहा यह कि आप क्यों नहीं सुनते। सो आपकी स्थिति तो और भी निराली है। आपसे हृदय के द्वारा पूरा संयोग होने पर भी मैं वियोग में मर रही हूँ। इस प्रकार आप मेरे जी को क्यों जला रहे हैं। भीतर ही बैठे हैं और मेरे कष्ट को देखते भी कोई उपाय उसे दूर करने के लिए नहीं कर रहे हैं। इस प्रकार आप परोक्ष रहकर जो आघात मुझे पहुँचा रहे हैं उससे यह बेचारा चित्त चूर चूर हो गया है। आप ही मेरे बिना भीतर कैसे रह रहे हैं। समझ में नहीं आता। भीतर से बाहर प्रत्यक्ष क्यों नहीं दिखाई देते कि आपसे अपनी व्यथा कहकर जी हलका कर लूँ। सबसे बड़ा अचरज तो मुझे यह हो रहा

है कि आप स्वयम् आनंद के घन हैं, फिर मित्र भी हैं और सबसे ऊपर यह कि सुजान हैं, सब कुछ जानते-समझते हैं, फिर भी आप प्रेम के खेत को इस प्रकार सुखाए डाल रहे हैं।

व्याख्या—*नाहिं पुकार*०—मैं आहों से पुकार कर रही हूँ पर उसकी सहानुभूति में पुकार करनेवाला कोई नहीं। मैं भूल कर रही हूँ। यहाँ कोई दूसरा होता तो अवश्य सुनता। संसार में अभी ऐसा टोटा नहीं है कि दूसरे की वेदना या पुकार पर कोई कुछ भी करने को प्रस्तुत न हो। आपके अतिरिक्त मेरे पास कोई दूसरा नहीं है। प्रशंसा करूँ तो आपकी करूँ और निंदा करूँ तो आपकी करूँ। दूसरा बेचारा जब यहाँ है नहीं तो किसी को व्यर्थ ही दोष भी क्यों दिया जाए। *संगम पै*० = आपके संयोग का अनुभव निरंतर होता रहता है और फिर भी वियोग सह रही हूँ। इसमें मेरा भी कोई दोष नहीं है। है तो आपका ही। पर यही समझ में नहीं आ रहा है कि आप प्राणों को इस प्रकार जला क्यों रहे हैं। *ओटनि चोटनि*०—केवल जलाते ही नहीं हैं। भीतर बैठे रहकर भी आप कुछ नहीं कर रहे हैं यह आघात सतत ऐसा लगता रहता है कि चित्त तो चूर चूर हो गया। प्राण जानते हैं, चित्त चूर हो गया। इस प्रकार की बिभीषिका के उपस्थित होने पर भी आप मेरा साथ नहीं दे रहे हैं। इतना भी नहीं करते कि भीतर से बाहर आकर दिखाई पड़ें। आपको देखने से ही सांत्वना मिल सकती है। पर उतना भी आप नहीं कर रहे हैं। *हौं घनआँनँद*०—कहने को तो बहुत है पर क्या कहूँ। कुछ समझ में आए तब तो। यही नहीं समझ में आ रहा है कि एक तो आप आनंद के घन हैं। आनंद की वृष्टि होनी चाहिए। आनंद न बरसे तो कोरी वृष्टि तो हो सकती है, खेत तो हराभरा हो सकता है उस वृष्टि से। पर आप खेत को सूखता देखकर भी वृष्टि तक नहीं कर रहे हैं। यदि कोई कहे कि मेरे लिए आप क्यों बरसें तो आप मित्र हैं। मित्रता का कर्तव्य है कि अवसर आने पर मित्र की सहायता की जाए तो वह भी नहीं हो रहा है। यदि यह कहा जाए कि मित्र होने पर भी आपकी समझ में ही नहीं आया कि खेत सूखा जा रहा है तो यह भी नहीं है। आप जान ही नहीं सुजान हैं। भली भाँति सब कुछ जानते-समझते हैं फिर भी प्रेम के खेत को सूखने दे रहे

हैं। इसे क्या कहा जाए, यह अभाग्य ही है कि सब प्रकार की अनुकूल परि-स्थिति होने पर भी मेरे लिए जो हो जाना चाहिए था सो नहीं हो रहा है। तब फिर न और को दोष दूँ, न आपको दोष दूँ अपने को ही दोष दूँ, अपने भाग्य को ही कोसूँ।

पाठांतर—*हैं* = ह्वै। *किहि* = किन। *यहि* = इमि।

आवत ही मन जान सजीवन ऐसो गयौ जु करी नहिं लौटनि।
द्यौस कछू न सुहाय सखी अरु रैनि बिहाय न हाय करौटनि।
अंग भए पियरे पट लौं मुरझे बिन ढंग अनंग खरौटनि।
हौ सुचितै *घनआनँद* पै हमैं मारति है बिरहागिनि औटनि।१८१।

प्रकरण—विरहिणी बिरह के कारण अपने मन और तन पर पड़नेवाले प्रभाव का उल्लेख कर रही है। मन में प्रिय के आते ही वह उन्हीं के साथ चला गया और ऐसा गया कि आज तक नहीं लौटा। फल है कि दिन में कुछ अच्छा नहीं लगता। रात भी कटती नहीं। करवट बदलते बीतती है। अंग पीले पड़ गए, ढीले पड़ गए। कामना की शिकनें उनपर पड़ गईं वस्त्र की भाँति। आश्चर्य है कि आप इतने पर भी निश्चिंत बैठे हैं और मुझे विरह की आग औटे डाल रहा है।

चूर्णिका—*आवत०* = आते ही, मन आया ही था कि ('मन आना' मुहावरा है—'किसी पर मन का मुग्ध हो जाना')। *करी०* = फिर लौटा ही नहीं, गया सो गया। *रैनि०* = करवटें बदलती रहती हूँ, रात किसी प्रकार बीतती ही नहीं। *पट०* = (पीले) वस्त्र की भाँति (शरीर पीला पड़ गया है। *मुरझै०* = (शरीर रूपी पट में) काम की बेढंगी शिकनें पड़ गई हैं, वह मुरझा गया (मलिन हो गया) है। *सुचितै०* = निश्चिंत, बेपरवा। *औटनि* = ताप से।

तिलक—हे सखी, प्रिय पर मेरा मन आया (मुग्ध हुआ)। आते ही वह ऐसा चला गया कि फिर लौटा ही नहीं। 'आया' क्या वह तो 'गया'। उसके चले जाने का परिणाम यह हुआ है कि दिन में तो कुछ अच्छा ही नहीं लगता है। पर वह किसी प्रकार कट जाता है। किंतु

हा ! रात तो कटती ही नहीं। केवल करवटें बदलती रह जाती हूँ। निद्रा जो गई सो तो गई ही, वेदना से किसी प्रकार चैन नहीं मिलता। शरीर के अंग मेरे पीले वस्त्र की भाँति पीले पड़ गए हैं और वे ऐसे मुरझा गए हैं (मलिन होकर सिकुड़ गए हैं) कि यही प्रतीत होता है कि शरीर के वस्त्र में सलवटें पड़ गई हों। ये सलवटें कामनाओं की हैं, काम की हैं। इतना सब कांड हो जाने पर भी आप हे प्रिय आनंद के घन, निश्चित ही हैं। इधर मुझे विरह की अग्नि औटे डाल रही है। घन से पानी बरसे तो आग भी बुझे और पानी पाकर शरीर का औटना भी कम हो जाए।

व्याख्या—*आवत ही*०—आप सुजान भी हैं। और सजीवन भी हैं। फिर भी यह नहीं समझ में आया कि आप पर मन आया ही था कि चला गया। सुजान के निकट हानि नही होनी चाहिए। सजीवन तो मरते को जिलाने की शक्ति से संपन्न है, फिर भी मन गया सो गया। न लौटा है न लौटने की कोई संभावना ही है। *द्यौस कछू*०—मन रह जाता तब दूसरी स्थिति होती, उसके जाने से दिन भी गया, रात भी गई और निद्रा भी गई, सुख भी गया। दिन स्वयम् कुछ भी अच्छा नहीं लगता और दिन में कोई अन्य वस्तु भी अच्छी नहीं लगती। न रात बीतती है, न हाय बीतती है और न करौटन बीतती है। *अंग नए*०—मेरे पीले वस्त्र की भाँति ही अंग पीले पड़ गए जिससे वस्त्र और अंग में अंतर ही नहीं रहा। करवटें बदलने में वस्त्र में सलवटें पड़ती हैं तो शरीर भी तो वस्त्र ही हो गया उसमें भी सलवटें पड़ गईं। करवटें वेदना और कामना से होती हैं। सलवटें बेढंगी पड़ती हैं, कामनाएँ भी बेढंगी हैं, फिर शरीर में सिमटाव भी बेढंगा ही है। पीले होनेवाले तो स्वयम् अंग हैं और काम अनंग है जिसकी सलवटें पड़ी हैं। 'अंग' पिय का ध्यान करते करते 'पिय + रे' हो गए हैं। पट होकर पट पड़ गए हैं। *हौं सुचितै*०—मैं तो कुचित्त हो गई, अचित्त हो गई, बिना चित्त की हो गई आप केवल सचित्त ही नहीं सुचित्त बने बैठे हैं। दुग्धवत् मेरे शरीर पर विरह की अग्नि का प्रभाव यह है कि वह औटा जा रहा है, 'खोया' हो जाएगा। इसकी रक्षा आनंद के घन ही तो कर सकते हैं। आग भी बुझे यदि रसवृष्टि हो और दूध

में पानी मिलने से वह भी औटे न। आप सुचित यहाँ आग की सुचिता दोनों की संगति नहीं बैठती।

विशेष—'हाय' के साथ सु + हाय, बि + हाय भी हाय हाय ही है।

कैसें करौं गुन रूप बखान सुजान छबीले भरे हिय हेत हौ।
औसर आस लगे रहैं प्रान कहा बस जौ सुधि भूलि न लेत हौ।
चेटक हौ सब भाँतिन जू घनआनँद पीवत चातिक चेत हौ।
रावरी रीझि न बूझि परै तनकौ मिलि क्यौं बहुतै दुख देत हौ।१८२।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के रूप-गुण का ब्यौरा और अपनी स्थिति का निवेदन कर रही है। वह कहती है कि आपके गुण और रूप का वर्णन मेरे लिए संभव नहीं। आप रूप में छबीले हैं और गुण में हृदय के प्रेम से भरे हैं। आपके पाने के अवसर की आशा लगाए मेरे प्राण पड़े हैं। पर मेरा बस नहीं चलता। क्योंकि आप भूलकर भी सुध नहीं लेते। आप सब प्रकार जादू की भाँति आकर्षक और साथ ही मायामय हैं। आप चातक को जल पिलाने के बदले उसी का होश-हवास पी रहे हैं। आपकी रीझ समझ में नहीं आती। मिले तो थोड़े और दुःख दिया बहुत।

चूर्णिका—*औसर०* = मिलन के अवसर की आशा में। *कहा०* = मेरा इसमें क्या वश जो आप भूलकर भी मेरी सुध नहीं लेते। *चेटक* = मायावी। *चातिक०* = चातक की सारी चेतना पी लेते हो, उसे बेसुध कर देते हो। *रीझि* = रुचि। *न०* = समझ में नहीं आती। *तनकौ* = थोड़ा सा भी।

तिलक—हे सुजान प्रिय, आपके गुण और रूप की प्रशंसा और वर्णन कैसे करूँ। न तो उनका वर्णन किया जा सकता है और न मुझमें वर्णन करने की शक्ति ही है। हाँ, इतना स्पष्ट दिखाई देता है कि रूप में आप छबीले हैं। आपके समान छवि किसी दूसरे की नहीं दिखाई देती। गुण में यह दिखता है कि आप हृदय के हित से भरे पूरे हैं। ऐसा नहीं है कि आपमें प्रेम हो ही नहीं। वह परिपूर्ण है। फिर भी मुझे उसकी प्राप्ति नहीं होती। इसी से इस आशा में कि उस प्रेम की कभी न कभी प्राप्ति मुझे भी होगी और आप आ मिलेंगे ये प्राण अब तक टिके हैं। आशा लगाए

निकल नहीं पा रहे हैं। मेरी इस प्रकार की अनन्यवृत्ति होने पर भी मेरी इच्छा पूर्ण नहीं होती। जब आपको मेरी सुध निरंतर करनी चाहिए, आप भूलकर भी मेरी सुध नहीं ले रहे हैं। मेरा तो कोई वश चलता नहीं। सुध लेना आपके ही वश की बात है। आप तो ऐसे मायामय हैं कि आनंद के घन होने के नाते जब आपको चातक की प्यास बुझाने के लिए स्वाती के जल की वृष्टि करनी चाहिए थी, उसके पीने के लिए जल देना चाहिए था तब उलटे आप ही उसकी चेतना पिए जा रहे हैं। जिससे वह बेचारा अचेत होता जा रहा है। आपका यह उलटा जादू कैसा है। आपकी रुचि कैसी है कुछ भी समझ में नहीं आ रही है। मिले तो आप नाममात्र के, बहुत थोड़े समय के लिए आपके दर्शन हुए पर वियुक्त होकर आप थोड़ा नहीं बहुत दुख दे रहे हैं। बहुत समय के लिए मिलते तो बहुत अधिक दुख भी समझ में आता।

व्याख्या—*कैसे करौं*०--गुण आपके अनंत हैं, रूप क्षण क्षण बदलनेवाला है फिर उसका बखान किया ही कैसे जा सकता है। आपकी शोभा देखते रहने को ही जी चाहता है और आपके गुण सुनते या गुनते रहने की ही इच्छा होती है। उसका ब्यौरा देने की वृत्ति ही नहीं होती। जैसा रूप वैसा ही गुण भी है। ऊपर से सुशोभन और भीतर से हृदय से भी सुशोभन हैं। *औसर आस*०--यदि आपके हृदय में हित न होता, आप रूपसंपन्न न होते तो आशा भी न रहती। पर इनके कारण आशा लगी है। प्राण उस अवसर की ताक में हैं जब आपकी अनुकूलता मिलेगी। पर किसी की अनुकूलता सहसा तो मिलती नहीं। उसके संकेत पहले से ही मिलते हैं। आप तो सुचित होकर मेरी सुध लें यही समुचित है, पर होता विपरीत है। आप भूलकर भी सुध लें तो काम बन जाए। पर वैसा भी नहीं होता। मेरा वश तो चलता नहीं। केवल मैं आशा कर सकती हूँ और मुँह खोलकर कह सकती हूँ। मुझे कहने की भी आवश्यकता न होनी चाहिए। फिर भी कहती हूँ। पर उसका परिणाम भी उलटा ही होता है। *चेटक*०—आप सब प्रकार से मायावी हैं। आपके रूप में जादू, आपके गुण में जादू, आपके कर्म में जादू। मन, वचन, कर्म सब प्रकार से जादू

ही जादू दिखाई देता है। यह भी तो सब प्रकार का जादू ही हुआ कि आप आनंद के घन हैं आपके पास पीने के लिए जल की कमी नहीं है। स्वयम् पीने की बात क्या, दूसरे को पिलाने के लिए भी किसी प्रकार की कमी नहीं है। पर उलटे आप ही चातक की चेतना पी रहे हैं। किसी का जो रूप-गुण जगत् में प्रसिद्ध हो उसी के अनुरूप उसका आचरण होना चाहिए। पर आपका आचरण वैसा नहीं है। सर्वत्र विरोध है। जादू में यही न होता है कि देखने की वस्तुएँ जैसी दिखाई देती हैं वैसी नहीं होतीं, उसके विपरीत होती हैं। असत् होती हैं। जादू में दिखाई भी कुछ का कुछ देता है। आपकी भी स्थिति वैसी ही विलक्षण है। *रावरी*०—आपकी रुचि किसी प्रकार समझ में आए तब न। वह तो ऐसी है कि सोचनेवाला उसके संबंध में जो सोचता है उस रूप में वह दिखती ही नहीं। समझा कुछ जाता है और रुचि करती है कुछ और ही। यही देखिए न आप मिले तो थोड़े से ही, आपके दर्शन भर हुए। नाममात्र का आपका मिलन हुआ। पर वह नाममात्र का मिलन दीर्घकालीन वियोग में परिणत हो गया। केवल वियोग में ही परिणत नहीं हुआ उसने दुख भी बहुत दिया। आपके देखने का आपसे मिलने का जितना सुख नहीं मिला उससे न जाने कई गुना दुख भोगना पड़ा। फिर यह भी नहीं समझ में आता कि आप ऐसा क्यों करते हैं। आपको इसमें क्या मिलता है, क्या लाभ होता है। केवल जादू या खेल ही आप करते रहते हैं।

पाठांतर—*हिय* = हित। *औसर* = औरस। *तनकौ* = तनकै।

जान हौ एजू जनाहु कहा न गए कितहूँ जु कहौं इत आयहौ।
दीसौ दुरे उर दाहत क्यौं उर तें कढ़ि यौं उर मैं कब छायहौ।
मो सों बिछोह कै मोहि मया करि मो मधि रावरे सूधे सुभाय हौ।
ऐसो बियोग दवागिनि कों *घनआनँद* आय सँजोग सिराय हौ।१८३।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय से अनुनय कर रही है कि आप किसी प्रकार मेरा वियोग दूर करें। उसका अभिलाष है कि प्रिय मिलें। पर प्रिय की वृत्ति विलक्षण है। उसकी विलक्षणता का ब्यौरा देती हुई वह अभिलाष कर रही है। सबसे पहली बात यह कि आप सुजान होने पर भी जाने नहीं जाते।

आप वियोग में कहीं गए हैं यह भी नहीं कह सकती। आप तो यहीं मेरे मन में बैठे हैं। फिर आप आएँगे यह संभावना करना भी व्यर्थ है। प्रतीत यही होता है कि आप हृदय में छिपे हैं। पर आप जलाते क्यों हैं। हृदय से निकल कर दुःख देने या जलाने की वृत्ति का त्याग कर आप हृदय पर कब छाएँगे, कहा नहीं जा सकता। मुझसे वियुक्त होकर अब तो मुझ पर ममता करके अनुकूल हों। आप तो सीधे स्वभाव वाले हैं। यह बंकिमा कैसी। मेरी वियोग की दावाग्नि किसी आनंद के घन के बुझाए ही बुझ सकती है। आप संयोग का अवसर देकर उस आग को कब शांत करेंगे।

चूर्णिका—*जान०* = आप हैं तो 'जान' (जाने हुए), पर आप जाने कहाँ जाते है, आपकी बातों को जान लेना ही बहुत कठिन है। *न गए०* = आप कहीं गए भी नहीं हैं (हृदय में ही बसे हैं, यहीं के यहीं हैं) फिर यह कैसे कहूँ कि आप यहाँ आएँगे। *दीसौ०* = आप तो हृदय में ही छिपे दिखाई (जान) पड़ते हैं, पर हृदय जलाते क्यों हैं। *उर तें०* = इस प्रकार हृदय का जलाना त्याग कर, हृदय से बाहर आकर कब फिर हृदय पर (सुखद रूप होकर) छाएँगे। आप इस प्रकार हृदय में बसना छोड़कर प्रत्यक्ष दर्शन देंगे और आपकी वह मन को भानेवाली मूर्ति मेरे मन में कब बसेगी। *मो सों०* = मुझसे वियुक्त होकर अब तो मुझपर कृपा करें क्योंकि मेरे ऊपर आपका सदा सीधा (अनुकूल) ही स्वभाव है। *सँजोग* = अपने संयोग द्वारा। *सिरायहौ* = ठंढी करेंगे।

तिलक—हे प्रिय, आप कहलाते तो हैं 'जान' जाने बूझे, पर आप जाने ही कहाँ जाते है। आपकी गतिविधि ऐसी विलक्षण है कि न आज तक जानी गई और न यह संभावना ही है कि जानी जा सकेगी। यही क्यों, वियोग में आप प्रवास में हैं और इसी से यह सोचती हूँ कि आप आएँगे। पर आता तो वह है जो जाता है। पर आप गए ही कहाँ हैं। मन में ही बैठे हैं। इसलिए यह समझना कि आप आएँगे ठीक नहीं है। जब यहीं के यहीं हैं तब फिर आने का प्रश्न ही नहीं उठता। यहीं हैं ही नहीं, दिखाई भी पड़ते हैं, जान पड़ता है कि आप हृदय में छिपे बैठे हैं। पर यह समझ में नहीं आ रहा है कि जला क्यों रहे हैं। कोई दोष या अपराध मेरे ध्यान में नहीं आता कि आप

मुझे जिसके कारण जलाएँ। मेरा तो अभिलाष यही है कि आप जलाने का कार्य छोड़कर हृदय से बाहर निकलते और मन के लिए सुखद होकर उस पर छा जाते। ऐसा कब होगा, दैव जाने या आप जानें। मुझसे आपने जो वियोग की स्थिति बना रखी है, मुझे भुलाकर जो आप अन्यत्र जा बसे हैं वह दुखद स्थिति समाप्त हो और आप मुझसे ममत्व दिखाते हुए मेरे प्रति-कूल न हों, आपका स्वभाव तो सदा मेरे प्रति अनुकूल ही रहने का है। ऐसा आप क्यों कर रहे हैं कुछ समझ में नहीं आता। ऐसी प्रचंड विरह की दावाग्नि को आप ही आनंद के घन होने के कारण बुझा सकते हैं। आपके संयोग के द्वारा वह समय कब आएगा कि यह आग ठंढी होगी और मैं सुख-पूर्वक रह सकूँगी।

व्याख्या—*जान हौ०*—आप 'जान' हैं इसलिए आप जाने बूझे हैं। मुझमें तो कोई ऐसी त्रुटि नहीं दिखती कि आप मेरे द्वारा न जाने जा सकें। पर न जाने क्या कारण है कि आप फिर भी नहीं जाने जाते। व्यावहारिक दृष्टि से आप दूर हैं, पर अनुभूति की दृष्टि से आप सदा मेरे पास हैं। उस दृष्टि से आपके जाने की स्थिति नही बनती तो फिर आने की बात ही कहाँ उठती है। *दीसौ दुरे०*—हृदय में छिपे भी हैं दिखाई भी पड़ रहे हैं। जहाँ छिपे हैं उसे ही जला रहे हैं। सुजान के द्वारा ये अजान के से कार्य क्यों हो रहे हैं। ऐसा व्यापार आपके लिए शोभन नहीं है। इसलिए इस प्रकार हृदय में ही रहकर उसी को जलाने का कार्य कब समाप्त होगा। और कब आप मेरे हृदय पर सुखद शीतल छाया करते हुए तृप्तिकारक वृष्टि करते हुए मेघवत् छा जाएँगे। मेघ से ही जलन भी दूर हो सकती है और बाहरी ताप या धूप की गरमी भी हो तो उसकी छाया से उससे भी बचत हो सकती है। *मोसों बिछोह०*—मुझसे आपने छोह का परित्याग करके ही बिछोह किया है। यह छोह का त्याग, मोह के संग्रह में कब परिणत होगा। यदि कोई यह समझता हो कि आपका स्वभाव ही बंकिम है तो ऐसा समझना भी ठीक नहीं। आप और किसी के लिए चाहे जैसे रहे हों मेरे लिए तो आपका स्वभाव सीधा ही रहा। सीधे स्वभाव वाले की टेढ़ी करतूत समझ में नहीं आ रही है। *ऐसी बियोग०*—सबसे प्रचंड आग दावाग्नि की होती है।

वन में लगी आग तभी बुझती है जब बादलों से धारासंपात घोर वृष्टि होती है। मेरी विरहाग्नि भी वैसी भीषण आग हो गई है। आप आनंद के घन हैं यदि आपकी वृष्टि हो तो यह आग शांत हो सकती है। इस आग को ठंढी करने के लिए आपको यहाँ आकर संयोग की स्थिति ही नहीं उत्पन्न करनी होगी, निरंतर वृष्टि करके उसे दूर करने का प्रयत्न भी करना होगा।

पाठांतर—*जनाहु* = जनाऊँ। *सुभाय हौ* = समायहौ। *आय* = आप।

प्राननि प्रान हौ प्यारे सुजान हौ बोलौ इते पर पीरक हौ क्यौं।
चेटक चाव दुरौ उघरौ पुनि हाथ लगे रहौ न्यारे गहौ क्यौं।
मोहन रूप सरूप पयोद सों सींचहु जौ दुखदाह दहौ क्यौं।
नावँ धरे जग मैं *घनआनँद* नावँ सम्हारौ तौ नावँ सहौ क्यौं।१८४।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के वास्तविक स्वरूप और उसके द्वारा कृत कार्य में वैषम्य देखकर जिज्ञासा कर रही है। आप प्राणों के प्राण हैं, प्रिय हैं, पर पीड़ा क्यों पहुंचाते हैं। जादू की भाँति छिपते और प्रगट होते हैं। हैं हाथ ही में, समीप ही फिर भी दूर क्यों रहते हैं। आपका मोहन रूप और शोभन सौंदर्य बादल की भाँति सींचता है, पर आप दुःख की जलन से जलाते फिर क्यों हैं। आपका नाम आनंद के घन है। आप इसे ही संभाल लें तो आपको बदनामी न सहनी पड़े।

चूर्णिका—*प्राननि०* = आप मेरे प्राणों के भी प्राण हैं और सुजान (प्रवीण) भी हैं। *बोलौ०* = कहिए इतने पर भी पीड़ा पहुँचानेवाले क्यों हैं। *चेटक* = जादू के खेल। *चेटक०* = अपनी क्रीड़ा की उमंग में ही आप कभी छिप जाते हैं और कभी प्रकट हो जाते हैं। *पुनि* = इसके अतिरिक्त या इसी कारण। *हाथ०* = आप हाथ में आए हुए भी पृथक् क्यों रहते हैं, आपको पकड़ भी पाऊँ तो किस प्रकार। *मोहन०* = मोहनेवाले रूप से और सुरूप के बादल से। *सींचहु०* = यदि मोहन रूप से सींचते हैं तो फिर जलाते क्यों हैं *नावँ०* = आपने संसार में अपना घनआनंद (आनंद के बादल) नाम रखा है। यदि आप अपने नाम को ही सँभालें, उसके अनुकूल ही आचरण करें तो बदनामी क्यों हो।

तिलक—हे प्रिय, आप प्राणों के भी प्राण हैं, मेरे प्राण जी रहे हैं तो आपके ही कारण। आप सुजान भी हैं, प्यारे भी हैं। पर आप ही बोलिए कि ऐसे होते हुए भी आप पीड़ा देनेवाले क्यों हैं। जो प्राणों का प्राण होगा न तो वही पीड़ा देनेवाला होगा, न सुजान ही और न किसी का प्यारा ही। आपके संबंधों और कार्यों में किसी प्रकार की संगति नहीं है। आप तो जादू के से खेल करते रहते हैं। कभी छिप जाते हैं, कभी प्रकट हो जाते हैं। यही क्यों, ऐसा जान पड़ता है कि आप हाथ में ही आए से हैं, पर पृथक् क्यों रहते हैं। हाथ में लगी वस्तु किसी की पकड़ में ही होती है। पर आप तो पृथक् ऐसे हैं कि पकड़ में ही नहीं आते हैं। मेरे हाथ आपको पकड़ना चाहते हैं और पाना चाहते हैं, पर आप तो पार्थक्य को ही पकड़ लेते हैं। उसे छोड़कर हाथों में नहीं आते, सामीप्य नहीं मिल पाता। यही नहीं, और भी जादू का खेल देखिए। आपका रूप मोहनेवाला है और सौंदर्य शोभन है। आपका रूप मेरे हृदय को बादल की भाँति खींचकर सुख पहुँचाता है, पर वह सुख मिलता कहाँ है, उलटे दुख की जलन ही मिलती है। एक ओर सुख पहुँचाने की व्यवस्था करके उसी से दुख देना यह संगत नहीं होता। आप ही बताइए कि ऐसा करने का हेतु क्या है। रूप की बात ही अलग रखिए। मेरा तो कहना है कि आपने इस नामरूपात्मक जगत् में अपना नाम घनआनंद रखा है, आपका नाम ही है आनंद के घन। बस, और कुछ नहीं इसी नाम को ही सँभाल लीजिए, इस नाम के अनुरूप ही आचरण करिए तो फिर आपको नाम सहने की नौबत न आए, आपकी कोई बदनामी न करे। आप कैसे हैं कि बदनामी सहते रहते हैं। सहज ही में जिसे दूर कर सकते हैं उसे भी नहीं करते।

व्याख्या—*प्राननि प्रान०*—प्राण किसी को प्रिय होते हैं। प्राणों का प्राण तो और भी प्रिय होगा, अत्यंत प्रिय होगा। फिर भी 'प्यारे' शब्द का प्रयोग किया गया है। प्राण रक्षित रखे जाते हैं। वे प्रिय इसी से होते हैं कि जीवनयात्रा में सहायक होते हैं। उनके प्रिय होने का कारण उनका अच्छा लगना नहीं होता, उनका रहना होता है। पर 'प्यारा' वह होता है जिसको कोई अपनी रुचि के लिए चाहता है। इसलिए प्रिय प्राण से भी

बढ़कर होना है। प्रिय के लिए प्राणों का त्याग किया जा सकता है प्राणों के लिए प्रिय का त्याग नहीं होता। 'सुजान' इसलिए कि आप प्रिय ही नहीं हैं जानकार भी हैं। प्रेम की ही सिद्धि नहीं आपसे श्रम की भी सिद्धि हो सकती है। संसार में उपकार को ऋषियों ने सर्वोत्तम कार्य कहा है और अपकार या पीड़ा को अधम कहा है—

अष्टादश पुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम्।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥
पर उपकार सरिस न भलाई। पर पीड़ा सम नहि अधमाई।

आपमें जितनी विशेषताएँ हैं वे उत्तम उपकार की ओर ले जानेवाली हैं। पर आप पीड़ा ऐसा अधम कार्य क्यों कर रहे हैं। दोनो में संगति नहीं बैठती। इसी से जिज्ञासा आप ही से करनी पड़ती है। ऐसा करने का कारण मैं तो खोज नहीं पाती, आप समझते हों तो बताइए। 'इते पर' इतने पर भी हो सकता है और 'पर' पीरक का विशेषण भी हो सकता है। परले सिरे के पीड़क। भारी पीड़ा देनेवाले, परमपीड़क। **चेटक चाव०**— जादू की क्रीड़ा की उमंग से भरकर कभी छिपना और प्रगट होना, यह लुका-छिपी और फिर प्राकट्य-प्रकाशन दोनो में फिर असंगति। छिपने का कारण यह हो कि आप मुझे अपने को दिखाना ही न चाहते हों फिर प्रगट ही क्यों होते हैं। यदि प्रगट होकर मुझे अपने को दिखाते हैं तो फिर छिपते क्यों हैं। यही स्थिति हाथ से लगे रहने पर न्यारे होने की है। हाथ लग गए समझकर आपको पकड़ रखना चाहती हूँ तो आप मेरी पकड़ में न आकर स्वयम् ही पकड़ के व्यापार में लग जाते हैं। न्यारेपन को गहते हैं। न्यारे ही रहना था तो हाथ क्यों लगे और हाथ लगे तो न्यारे क्यों हुए। मेरे हाथ में कोई दोष होता तो भी समझ में आ जाता। पर तब आप हाथ से पृथक् न होते इससे अंततोगत्वा निश्चय यही करना पड़ता है कि आपको खेल-तमाशा ही पसंद है। खेल-तमाशा कोई अपने विनोद के लिए, मनोरंजन के लिए करता है। आपका तो मनोरंजन हो और दूसरे की जान जाए यह तो कोई उत्तम कार्य नहीं हुआ। मनोरंजन वही ठीक जिसमें किसी की बड़ी हानि न हो। हानि न हो

तो और अच्छा, पर यदि सामान्य या नाममात्र की हानि हो तो उसे भी माना जा सकता है। पर ऐसा मनोरंजन तो फिर भी समझ में नहीं आता। *मोहन रूप०*—आपका रूप स्वयम् मोहनेवाला है। कोई किसी के रूप पर मोहित हो तो इससे रूपवाले का क्या आता-जाता है। कोई मोहता भी हो और सुशोभन भी हो तब क्या कहना। बादल जैसे जल से सींचता है। आपका रूप-सरूप रस से सिक्त करता है। एक ओर आपके सौंदर्य से कोई रस की प्राप्ति करे और दूसरी ओर आप उसे जलाएँ। जो रस (जल) मिला वह भी जला और जो उसके पास था वह भी गया। रूप को सुख देना चाहिए तो वह दुख का दाह करने लगा। बादल आग बरसाने लगा। वह भी पहले रस की वृष्टि करके। पहले रस की वृष्टि न होती तो कोई उधर उतना आकृष्ट ही न होता। *नावँ धरे०*—संसार में नाम भी आपने चुनकर या किसी ने आपके रूप-गुण को देखकर घनआनंद रखा। घने आनंद वाला कहिए या आनंद के घन कहिए। नाम आनंदमय है। नाम बड़े और दर्शन थोड़े की स्थिति क्यों आती, यदि उसी को सँभाल लेते। मेरी जो बदनामी होती है सो तो होती ही है, पर मुझे आपकी बदनामी भी नहीं रुचती। मैं उसे सहन नहीं कर पा रही हूँ, आप सहते हैं। नाम, रूप, लीला, धाम सबमें असंगति है।

(कवित्त)

वेई कुंज पुंज जिन तरें तन बाढ़त हो
तिन छाँह आए अब गहन सो गहि गौ।
सुरति सुजान चैन बीचिन सों सींची जिन
वही जमुना पै हेली वह पानी बहि गौ।
वहै सुख स्रम स्वेद समै को सहाय पौन
नाहि छियै देह दया महा दुख दहि गौ।
वेई *घनआनँद* जू जीवन कों देते तिन
ही को नाम मारिनि के मारिबे कों रहि गौ।१८५।

प्रकरण—विरहिणी गोपिकाएँ श्रीकृष्ण के वियोग में उन कुंजों, यमुना आदि की बदली परिस्थिति का विवरण दे रही हैं। कुंज वे ही हैं जिनके नीचे

शरीर विकसित होता था उल्लास से, अब उनकी छाया में ग्रहण सा लग जाता है। यमुना प्रिय की संनिधि में सुख की लहरें लहराती थी, पर उसमें अब वह पानी नहीं रहा। प्रिय के सामीप्य में जो पवन सुखद था वही शरीर का स्पर्श करके उसे दुख से जलाता है। स्वयम् घनआनंद प्रिय पहले तो जीवन-दान देते थे पर अब उनका नाम हम मरी प्रेमिकाओं को ही मार रहा है।

चूर्णिका—वैई० = वे ही कुंज हैं जिनके नीचे (संयोग के समय) आने पर शरीर बढ़ता (प्रफुल्ल होता) था। *तिन०* = अब (वियोगावस्था में) उन्हीं कुंजों की छाया के नीचे आने से। *गहन* = ग्रहण। ग्रहण में भी छाया आती है, अतः उसे भी 'छाया' कहते हैं। तात्पर्य यह कि पहले वह छाया सुखद थी अब ग्रहण की छाया (दुःखद) हो गई है। *सुजान०* = जिस नदी (यमुना) ने (तब) सुजान (प्रिय श्रीकृष्ण) को उन आनंद-तरंगों से कभी सींचा था, उसी का जो पानी प्रिय के संयोग से आनंद की लहरें उठाया करता था, वही पानी यमुना पर से अब बह सा गया है, वह दुःखद हो गई है। *हेली* = हे अली, हे सखी। *सुख०* = सुख के श्रम-स्वेद-काल का सहायक वही पवन (संयोगदशा में पसीने की बूँदें निकलने से जो पवन शरीर में शीतल लगता था, सुखस्पर्श था)। *छियै* = (बुँदेलखंडी) छूता है। *नाहि* = अब वह मेरे शरीर को छूता ही नहीं, वह अत्यंत दुःख देकर मुझे जलाया करता है। *मारिनि* = मारी हुई को। वैई० = वे ही घन (बादल, प्रिय, घनआनंद) है जो पहले जीवन (जल; प्राण) देते थे, पर अब तो उनका नाम मारी हुई को मारने के ही लिए रह गया है।

तिलक—श्रीकृष्ण के वृंदावन से चले जाने पर कुंजों के पुंज वे ही हैं जिनके नीचे पहुँचकर उनकी संयोगावस्था में शरीर उल्लसित होकर विकसित होता था, बढ़ता था। अब उनकी छाया में आने पर ग्रहण की छाया सी लग जाती है, जिससे शरीर का संयोग होता है, कांति नष्ट हो जाती है। सुजान श्रीकृष्ण की प्रीति के आनंद की लहरों से जो यमुना संयोग-समय में सींचती थी, यमुना वही है सखी, पर उसमें अब वह पानी नहीं रहा। जान पड़ता है कि वह पानी उसकी धारा के साथ बहकर आगे निकल गया। पवन तो वही चल रहा है पर सुखकालीन संयोग में जो पसीने की बूँदें श्रम के कारण

निकलता थीं उनके लिए वह सहायक होता था, सुखद प्रतीत होता था। अब तो ऐसा जान पड़ता है मानो वह शरीर को छूता ही न हो। हाय दैव, जो पवन कभी शीतल था वही अब महादुःख से जला सा गया। वे ही बादल हैं जो उस समय आते थे तो जीवन (जल; प्राण) का दान करते थे। वे आनंद के घन उस समय यहाँ थे इसी से बादल की वृत्ति दूसरी थी, पर अब उनके न रहने पर उनका घनश्याम नाम जब ध्यान में आता है तब वे बादल हम मरी हुई को भी मारने के लिए यहाँ रह गए से जान पड़ते हैं। घनश्याम तो रहे नहीं, श्याम घन रहे और उनके नाम के होने से स्मृति को जगाकर अत्यंत बेचैन कर देते हैं।

व्याख्या—वेई कुंज०—कुंजों के पुंज में कमी नहीं हुई है। सब जहाँ के तहाँ हैं, एक भी घटा नहीं है। कुंज उस सघन स्थान को कहते हैं जहाँ वृक्षों के निकट निकट होने से ऐसी स्थिति हो जाती है कि दिन में सूर्य की किरणें छनकर पृथ्वी तक नहीं पहुँच पातीं। यह भी नियम है कि वृक्षों के नीचे यदि अन्य पेड़-पौधे लगें तो उनकी छाया के कारण उनकी वृद्धि नहीं होती। पर श्रीकृष्ण के वृंदावन में रहते समय कुंज के नीचे पहुँचकर हमारी वृद्धि में बाधा नहीं होती थी। मन ही नहीं उल्लास से शरीर भी विकसित होता था। प्रिय के कारण विकास, शरीर के विकास की प्रौढ़ि इतनी है कि एक अपभ्रंश के कवि ने कहा कि जो विरहिणी पहले अत्यंत क्षीण थी, वह प्रिय को देखकर सहसा शरीर से इतनी विकसित हो गई कि उसकी चूड़ियाँ तड़ातड़ टूट गईं—

बायस उड्डावंतिए पिउ दिट्ठउ सहसत्ति।
अद्धा बलया महिहि गय अद्धा फुट्टि तडत्ति॥

विरहिणी भवन पर बैठे कौए को इस शकुन से उड़ा रही थी कि यदि प्रिय आते हों तो उड़ जा। कौए ढीठ होते हैं। पर शकुन यह माना जाता है कि जिसके आने की चर्चा करके कौए को उड़ाया जाए और वह उड़ जाए तो वह अवश्य आता है। विरहिणी ने कौए को उड़ाया। उसकी कलाई इतनी पतली हो गई थी कि उड़ाने में हाथ के संचालन में आधी चूड़ियाँ पृथ्वी पर जा गिरीं। अभी वह उड़ा ही रही थी कौए को कि सहसा उसे

दिखाई पड़ा कि प्रिय आ गए। बस, फिर क्या था उसको प्रफुल्लता इतनी हुई और शरीर का विकास या मुटाई ऐसी हो गई कि जो आधी चूड़ियाँ हाथ में बच गई थीं वे कलाई के सीमा से अधिक मोटी हो जाने से तड़ातड़ टूट गईं। जहाँ ऐसा विकास होता था वहाँ उन्हीं कुंजों में उन्हीं की छाया में जाने पर खग्रास ग्रहण की स्थिति हो जाती है। शरीर स्वयम् छाया सा हो जाता है, कांति में मालिन्य हो जाता है। कुंजों में यों ही छाया (अंधकार) रहती है अब मानसिक अंधकार के मिल जाने से घनघोर कालिमा छा जाती है। *सुरति सुजान०*—यमुना में स्वयम् लहरें होती थीं और इधर प्रियसांनिध्यजन्य प्रमोद की लहरें होती थीं। ऐसा जान पड़ता था कि प्रमोद की लहरों में यमुना की लहरें मिलकर उनकी प्रमोदता को सींच रही हैं। यमुना हमारे प्रमोद में वृद्धि करती थी। कुंजो से शरीर का विकास होता था तो यमुना से मन का विकास। पर यमुना जहाँ की तहाँ, उसकी लहरें जहाँ की तहाँ पर वह पानी उसमें रहा नहीं। 'हेली' शब्द सखी के लिए तो हो ही सकता है, पानी का विशेषण भी हो सकता है। तब उसका अर्थ होगा क्रीड़ाशील, प्रमोदकारक। किसी का पानी ही न रह जाए तो उसमें उदासीनता, अकांतिमत्ता हो जाती है। यमुना में वह आब (चमक) नहीं रही। 'बहना' बुरे अर्थ में है। वह पानी बह गया, उतर गया, बेकार हो गया। *वहै सुख०*—पवन की स्थिति भी वही है, वैसा ही शीतल, मंद, सुगंध बह रहा है, यह पहले परिश्रमजन्य पसीने की सहायता करके सारी थकावट दूर करता था। शरीर को ऐसा छूता था कि वहाँ से हटने का नाम नहीं लेता था और शरीर भी चाहता था कि इसका इसी प्रकार सतत संस्पर्श होता रहे। पर अब वही पवन जैसे शरीर को छू ही नहीं रहा। सुखशीतलता लाता था और पवन शीतलता को बढ़ाता रहता था। ठंढक में वायु से उसकी वृद्धि होती है। जाड़े के दिनों के लिए कहावत है—

पुसबै जाड़ न मघवै जाड़।
जबै बयरिया तबहीं जाड़।

अब पवन शरीर को न छूकर मन को छू रहा है। वहाँ विरह की याद

है, वेदना की आग है। यह पवन उसे ही बढ़ा देता है। मन जलता है सो तो जलता ही है शरीर भी जलने लगता है। इसलिए महादुख की जलन होती है। वैई घनआनँद०---पहले बादल आते थे तो आनंद के बादल लगते थे। पानी नहीं बरसाते थे जीवन बरसाते थे। अब बादल आते हैं तो प्रिय के घनआनंद नाम की स्मृति जगाते हैं। जीवन जिलानेवाले को कहते हैं पर अब वही जीवन मारनेवाला हो रहा है। प्रिय के वियोग में हम सब यों ही मरी हुई हैं। ऊपर से ये घन आकर और भी मार कर रहे हैं। जिनके नाम के सुनते ही एक समय था कि हमारे प्राण मुरझाए भी प्रफुल्ल हो जाया करते थे और अब उनका नाम उलटा प्रभाव कर रहा है। यहाँ तक कि मरी को मारे डाल रहा है। जब जब बादल आएँगे यही होगा। अब वे मारने को ही रह गए हैं। वहीं क्यों नहीं चले जाते जहाँ प्रिय हैं, यहाँ क्यों ये रह गए हैं।

पाठांतर—*सो* = ज्यौं। *हेली* = आली। *नाहिं* = ताहि। *छियै* = छियें। *नाय* = नावँ। *मारिनि* = मरिनि।

इतै अनदेखें देखिबेई जोग दसा भई
तैं तौ अनाकानी ही सों बाँध्यो दीठितार है।
जान घनआनँद बिना ब सुबनक हेरें
धीरज हिरात सोच सूखत बिचार है।
छीन अति दीनन कों मोहन अमोही रच्यौ
महा निरदई हमैं मिल्यौ करतार है।
तेरें बहरावनि रुई है कान बीच हाय
बिरही बिचारन की मौन में पुकार है।१८६।

प्रकरण—विरही की स्थिति और प्रिय की उसके विरह पर भी अभिमुखता न दिखाने की स्थिति का विवरण दिया गया है। यहाँ आपको न देखने से मेरी दशा ही देखने योग्य हो गई है। यहाँ आपकी स्थिति यह है कि आपने आनाकानी से अपनी दृष्टि जोड़ी है। न सुनने की प्रतिज्ञा कर रखी है। आपकी वह छटा बिना देखे न धैर्य टिकता है और न विचार बचता है। जो विरही क्षीण और दीन हो उसका प्रिय कारुणिक होना चाहिए। पर मेरे

प्रिय मोहन (मोह+न) ऐसे अमोही हैं कि उनमें कभी मोह-ममता जगती ही नहीं। ब्रह्मा भी हमें निर्दय ही मिला कि उसने मेरे लिए ऐसे निर्मोह प्रिय की सृष्टि की। प्रिय ने तो कानों को बहरा बनाने के लिए रूई लगा रखी है। कुछ सुनाई ही न पड़े। इधर हमारी पुकार मौन में है। मुख से कुछ यहाँ बोलना ही नहीं। वहाँ यदि कोई बोले भी तो उसे सुनने के लिए कान ही प्रस्तुत नहीं।

चूर्णिका—*इतै* = यहाँ, मेरे यहाँ। *अनदेखैं०* = आपको न देखकर यहाँ तो मेरी दशा देखने योग्य हो गई, (विपरीत लक्षणा से) देखने योग्य ही नहीं रह गई, अत्यंत क्षीण, दीन, मलीन हो गई हूँ। *तैं तौ०* = वहाँ आपने आनाकानी ही से अपनी दृष्टि का तार बाँध रखा है, आनाकानी करने पर ही तुले हैं। *बिना ब०* = बिना अब। *सुबनक* = सुंदर छटा। *धीरज०* = न धैर्य रहता है, न विचार, केवल सोच ही सोच रह जाता है। *छीन०* = हमारे ऐसे क्षीण तथा अत्यंत दीनों के लिए मोहन नामवाले अमोही (प्रिय) को (ब्रह्मा ने) बनाया। *महा०* = कर्ता (ब्रह्मा) तो हमारे लिए अत्यंत निठुर है। *बहरावनि* = बहलाना, त्याग करना, आनाकानी करना, अथवा बहरा बनना। *तेरे०* = तूने तो बहरेपन की रूई अपने कानों में लगा रखी है। तू हमारी बातों को सुनना ही नहीं चाहता और इधर हम विरहियों की पुकार मौन में ही है, मौन ही हमारी दशा व्यक्त करता है। आप हमारी व्यथा सुनना नहीं चाहते और हम सुनाकर आकृष्ट नहीं करना चाहते, चुपचाप सह रहे हैं।

तिलक—गोपिकाएँ श्रीकृष्ण की निर्दयता का बखान कर रही हैं। इधर हे प्रिय, तुझे न देखकर हमारी दशा ही देखने योग्य हो गई है। विरह से ऐसी क्षीणता, मलिनता, दीनता हो गई है कि अन्यत्र कहीं मिल नहीं सकती। इससे अदृष्ट दृश्य के रूप में हम तमाशे की स्थिति में पहुँच गई हैं। जिसने ऐसे दीन हीन को न देखा होगा, किसी ने कभी देखा ही कहाँ होगा, वे हमें देखने को नुमायशी तौर पर आएँ यही प्रतीत होता है। इधर मुझे तू तो दिखाई ही नहीं पड़ता पर स्वयम् देखता तू किसे है तो आनाकानी को ही देख रहा है। सदा इसी बात का ध्यान बना है कि सुनते हुए भी नहीं सुनेंगे।

जब हमारी दशा तमाशे के ही रूप में सही संसार के देखने योग्य हो गई तब तुझे हमें देखने का प्रयास करना चाहिए था। पर हमें देखना तो दूर तू देखने लगा आनाकानी को। कोई हमारा तमाशा देखकर भी तेरे पास उसका समाचार लेकर जाए तो तूने ऐसी वृत्ति कर ली है कि सुनी अनसुनी कर दी जाए। तेरी वह हालत और मेरी यह कि सुजान घनआनंद की वह छटा बिना देखे अब धैर्य तो खो ही गया, सोच से विचार भी सूख गया। यह धैर्य गया कि अब प्रिय की छटा देखने को न मिलेगी क्या और उधर विचार ने सोचना-समझना ही बंद कर दिया। केवल सोच ही सोच रह गया, धैर्य के खोने का और विचार के सूखने का नहीं अपनी छटा न देख सकने का। ब्रह्मा भी हमें मिला तो ऐसा कि निर्दय नहीं महानिर्दय मिला। जिसने पहले तो हमें दीन और हीन बनाया और फिर प्रिय बनाया मोहन के ऐसा अमोही। संसार में जो किसी का प्रिय नहीं भी होता उसमें भी ऐसे समय पर करुणा आ जाती है, पराए भी किसी की कष्टमय स्थिति पर मोही हो जाते हैं, सकरुण हो उठते हैं। पर तू ऐसा प्रेमी मिला कि तुझ पर कोई प्रभाव नहीं। मोहने को हमें मोह लिया फिर मोहनेवाले मोहन से न मोहवाला मोहन हो गया। तूने तो हमारी विरहचर्चा से टालमटूल, बहलाने के लिए कानों में रूई लगा रखी है कि कहीं किसी प्रकार वह सुनाई ही न पड़े। पर हाय हम विरहियों की पुकार तो मौन में है। कानों में रूई लगाने की अपेक्षा ही नहीं है। हमें अपनी विरहवेदना को कानों का विषय बनाना ही नहीं है, हाँ, आँखों का विषय बन सकती है हमारी दशा, पर तेरी आखें भी तो आनाकानी की ही ओर लगी हैं। बेचारे विरहियों की पुकार के लिए कानों की नहीं नेत्रों की अपेक्षा है। हाँ, नेत्रों में कान लगें तो अवश्य काम बन सकता है, कानों में नेत्र लगने से क्या होगा—

पहचानै हरि कौन मोसे अनपहचान कों।
त्यौं पुकार मधिमौन कृपाकान मधिनैनज्यौं॥

व्याख्या—*इतै अनदेखें०*—तुझे हम देख नहीं पातीं, तेरे विषय में सुनती अवश्य हैं। उधर तू अनदेखी भी करना चाहता है और अनसुनी भी। हम तो देने योग्य हो गईं, पर क्या तू भी देखने योग्य हुआ। तुझे कोई और

हमारे सिवा देखने को प्रस्तुत होगा। इसी से तो अपने नेत्रों को कानों से नहीं लगा रखा है। तेरे कर्णालंबित नेत्र क्या इसी से तो कानों से नहीं जा लगे कि वे आनाकानी करना चाहते हैं। दृष्टि के तारे वहाँ जा बँधे हैं। हटाने से भी न हटेंगे। *जान घनआनँद*०—उधर न देखने से यह हुआ। और न देखने से क्या हो रहा है सो भी सुन लें। घनआनंद को बिना देखे धैर्य खोया जा रहा है। वह भी नहीं दिख रहा है। विचार की जड़ें सिंच नहीं रही है सो वे सब सूख रहे हैं। घन हो तो न सूखें। सोच में भी गरमी कम नहीं है। सुखाए डाल रहा है विचार को। *दीन अति*०—मोहन अमोही हुए तो दई निरदई हो गया। *तेरें बहरावनि*०—कानों में रूई इससे लगाते हैं कि या तो कोई रोग हो या कुछ सुनना न चाहे। तूने रूई लगाई है तो यह भी बहाना है कि सुनाई नहीं पड़ता। तू सुनना नहीं चाहता तो विरही सुनाना भी नहीं चाहते। उन्होंने रूई मुँह में नहीं लगाई, कपड़ा भी नहीं ठूँसा। मौन की साधना ही आरंभ कर दी। पुकार भीतर से बाहर नहीं निकलती और उधर कान में रूई होने से बाहर से कोई पुकार भीतर नहीं जाती। कानों का रूई से ढकना भी बेकार ही है।

पाठांतर—*बिना ब* = बनाव, बिनाई।

(सवैया)

मोहिं निहोरिहै तू जु घरीक मैं मेरो निहोरिबोई किन मानति।
जासों नहीं ठहरै ठिक मान को क्यौं हठ कै सठ रूठनो ठानति।
कैसी अजान भई है सुजान ह्वै मित्र के प्रेमचरित्र न जानति।
सो मुरली घनआनँद की तिनि तान भरी कित भौंहनि तानति।१८७।

प्रकरण—मानिनी गोपिका को उसकी सखी मान छोड़ने के लिए कह रही है। मेरी अनुनय-विनय तू नहीं मान रही है। पर मैं जानती हूँ कि एक घड़ी के अनंतर तू ही मेरी अनुनय-विनय करने लगेगी। श्रीकृष्ण से कहीं मान किसी का चलता है। व्यर्थ हठ करके यह निकम्मा रूठना तूने क्यों ठान रखा है। तू सुजान होकर भी अजान हो रही है। श्रीकृष्ण के प्रेम की लीला तू सचमुच नहीं जानती। देख घनश्याम ने मुरली की तानें भरी हैं

तू व्यर्थ भौंहें ताने हुए है अभी इसकी ध्वनि से ऐसी विवश हो जाएगी कि सारा मान छोड़ बैठेगी।

चूर्णिका—*मोहिं०* = घड़ी भर में तू (प्रिय से मिलाने के लिए) मेरी खुशामद करेगी। घड़ी भर में ही तेरा यह मान छूट जायगा और प्रिय से मिलने के लिए तू व्याकुल होगी। इसलिए मेरी ही खुशामद क्यों नहीं मान लेती (मेरे कहने से रूठना छोड़ दे)। *ठिक* = स्थिरता। *सठ* = बुरा, कड़ा। *जासों०* = जिन (प्रिय, श्रीकृष्ण) के प्रति मान की स्थिरता (अधिक समय तक) टिक नहीं सकती उनसे हठ करके कठोर मान क्यों ठान रही है। *हे* = ऐ। *कैसी०* = तू सुजान (जानकार) होकर भी कैसी अनजान बन रही है। तू प्रिय के प्रेम के चरित्र (प्रेमलीलाएँ) जानती नहीं। *घनआनँद* = घन से आनंददायक; घनश्याम, श्रीकृष्ण। *सो०* = श्रीकृष्ण की वह मुरली सदैव तान से भरी रहती है, उसकी तान के सामने तेरा भौंह तानना अधिक समय तक ठहर न सकेगा, फिर क्यों ऐसा कर रही है।

तिलक—ऐ सखी, अभी तू मेरी खुशामद नहीं सुन रही है। एक घड़ी के अनंतर देख तू ही मेरी खुशामद करने लगेगी कि श्रीकृष्ण से मुझे मिला दे। इसलिए मेरी खुशामद क्यों नहीं मान लेती। मैं तेरे भले के ही लिए तो कह रही हूँ। क्या तू नहीं जानती कि जिससे कभी किसी के मान का टिकाव नहीं रह सका उन्हीं से तू मान कर रही है। ऐसा हठ करके यह बुरी रूठने की ठान क्यों ठान रही है। छोड़ इस मान को। सुजान होकर कैसी अनजान हो रही है, क्या तुझे श्रीकृष्ण की प्रेमलीलाएँ नहीं ज्ञात हैं। मेरे कहने से न मानेगी तो उनकी प्रेमलीलाएँ तुझे विवश कर देंगी और मान छोड़ना पड़ेगा। सुन घनआनंद ने उन तानों से भरी मुरली बजानी आरंभ कर रखी है, जिन तानों के सामने तेरा भौंहों का तानना नहीं टिकेगा। क्यों इसमें लगी है।

व्याख्या—*मोहिं०*—तू मेरी खुशामद नहीं सुनती तो मैं भी फिर तेरी खुशामद नहीं सुनूँगी। *जासों०*—किसी का मान नहीं टिका तेरा ही क्यों टिकेगा। एक तो तू हठ करके मान कर रही है दूसरे मान कठोर

भी है। *कैसी०*—जानने की बात प्रेमलीला अवश्य है। प्रेम करनेवाला प्रेम की लीला ही न जाने, ऐसा कैसे हो सकता है। पर तू कदाचित् जानते-बूझते ऐसा कर रही है। *सो मुरली०*—भौंह भी मुरली की भाँति है। उसका तनाव उसकी तान के तनाव के संमुख नहीं टिकेगा। 'तिनि' उन तानों से तात्पर्य है जिन तानों के वश में चराचर हो जाता है। श्रीमद्भागवत में वेणुगीत के नाम से जो अंश प्रसिद्ध है उसमें जिस प्रकार के प्रभाव की चर्चा है वैसे प्रभाव वाली मुरली।

पाठांतर—*है = हूँ*।

कहौ कछु और करौ कछु और गहौ कछु और लखावत औरै।
मिलौ सब रंग कहूँ नहिं संग तिहारी तरंग तकें मति बौरै।
गढ़ौ बतियानि मढ़ौ घतियानि डढ़ौ छतियानि निदान की ठौरै।
महाछल छाय खुले हौ बनाय कितै *घनआनँद* चातक दौरै।१८८।

प्रकरण—प्रिय के असंगत कार्यों की सूची प्रस्तुत की गई है। कहते कुछ हैं करते कुछ हैं, लेते कुछ और हैं और दिखाते कुछ और हैं। मिलते सब रंग में हैं पर फिर भी उनके संग रह नहीं जाते। पगली हो जाती है बुद्धि आपकी तरंगों को देखकर। बातें गढ़ते हैं, घातें करते हैं, छाती जलाते हैं जब कि दवा करनी चाहिए। अत्यंत छल से युक्त हैं। आपका रहस्य उद्घाटित हो गया। हे घनआनंद, अब बेचारा चातक कहाँ जाए।

चूर्णिका—*गहौ०* = लिए कोई दूसरी वस्तु रहते हैं और दिखाते कुछ दूसरी ही हैं। *मिलौ०* = सब प्रकार के रंगों में मिले भी रहते हैं और आप पर कोई रंग चढ़ता भी नहीं। *तिहारो०*=आपकी मौज देखने से तो बुद्धि ही पगली हो जाती है। *निदान* = रोग के कारण का निर्णय, रोग की पहचान। *गढ़ौ०* = जहाँ रोगी के रोग की पहचान करनी चाहिए वहाँ आप बातें बनाते हैं, घातें साधते हैं और (उलटे) छाती जलाते हैं। *महाछल०* = भारी छलों से ढके हुए होने पर भी आपका रूप भली भाँति खुल गया है, आपके छल ने आपका रूप ठीक ठीक बतला दिया है (विरोधाभास)। *कितै०* = चातक बेचारा किधर दौड़कर जाय, हे घन उसके लिए आपकी शरण के सिवा दूसरा आश्रय है ही कहाँ।

तिलक—आप कहते कुछ और ही है और करते कुछ और ही हैं। वचन और कर्म में एकवाक्यता नहीं है। आप हाथ में लिए कुछ और ही हैं और दिखाते उससे भिन्न वस्तु हैं। वास्तविकता कुछ है और प्रदर्शन कुछ है। सब रंगों में मिले भी हैं और किसी रंग से मिले भी नहीं हैं। मिलने में पूर्णता नहीं है। आपकी ये मनमौजी तरंगें देखकर तो बुद्धि पगली हो जाती है। जब किसी के रोग के आदिकारण का पता लगाकर उसकी चिकित्सा करनी चाहिए ऐसे अवसर पर आप बातें गढते हैं, घातों से मढ़ सा देते हैं और हृदय जलाते हैं। अपने बड़े बड़े छलों का पसारा करते हैं। फिर भी छल-कपट छिपा नहीं रह सकता, आपके प्रपंच स्पष्ट हो गए हैं। पर यह तो बताइए कि आपका चातक आपके अनुकूल न रहने पर कहाँ दौड़कर जाए।

व्याख्या—*कहौ कछु०*—क्या वचन, क्या कर्म, क्या प्रदर्शन। संगति कहीं नहीं। *मिलौ सब०*—सब रंग में मिलना ही विलक्षण है फिर मिलने पर न मिला रहना भी विलक्षण है। यह सब आपके मन की तरंगें हैं। जो मन में आया सो किया। *गढ़ौ०*—निदान करने में तो शांतचित्त, निष्कपट और कोमलहृदय होने की आवश्यकता होती है। आपमें सब विपरीत है। *महाछल०*—छल-प्रपंच करनेवाला उसे छिपाए रखना चाहता है, पर आपके छल-कपट छिप नहीं सके। अनन्य चातक के लिए ही कठिनाई है। वह सीधा है, उसमें वक्रता नहीं है।

पाठांतर—*लखावत* = लगावत।

व्रजनाथ कहाय अनाथ करी कित है हितरीति में भाँति नई।
न परेखो कछू पै रह्यौ न परै ठकुराइति प्रीति अनीतिमई।
घनआनँद जानहिं को सिखवै सुखई रस सींचि जु बेलि बई।
सुधि भूले सबै हिय सूल सलै हमसों हरि ऐसे भए ए दई।१८९।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के आचरण की आलोचना करती हुई कहती है। वह व्रज की गोपिका है और कहती है कि आप व्रजनाथ कहलाते हैं। पर मुझे आपने अनाथ कर दिया। प्रीति की रीति में यह नया चलन आपने किया है। यद्यपि मुझे कोई पछतावा नहीं, पर कहे बिना रहा नहीं जाता कि

आप ऐसे ठाकुर (स्वामी, नाथ) की यह प्रीति अनीतिमयी है। सुजान को कौन सिखाए, पर यह क्या कि जिस लता को रस से सींचा उसे ही सुखा दिया। मेरी स्मृति की सब प्रकार से विस्मृति ही हृदय में पीड़ा कर रही है। हे दैव, मुझसे इस प्रकार श्रीकृष्ण ऐसा बरताव करेंगे इसका पता नहीं था।

चूर्णिका—*ब्रजनाथ०* = सारे व्रज के नाथ होकर भी मुझ अकेली को उन्होंने अनाथ कर दिया। *कित०* = प्रीति की रीति में यह नया ढंग कैसा। *न परेखो०* = मुझे इसका कोई पछतावा नहीं, पर चित्त से रहा नहीं जाता। बड़े लोगों की प्रीति ही अनीतिमय होती है। *जानहि* = सुजान को। *सुखई०* = उन्होंने रस (प्रेम; जल) से सीचकर जो लता बोई (लगाई) थी उसे सुखा डाला। *सुधि०* = सब प्रकार से मेरी सुध का भूल जाना ही। *हिय०* = हृदय के भीतर। *सूल सलै* = पीड़ा करती है, खटकती है।

तिलक— मेरे प्रिय सारे व्रज के स्वामी व्रजनाथ कहे जाते हैं। फिर भी उन्होंने मुझे अनाथ कर दिया। प्रीति की रीति में उन्होंने इस आचरण द्वारा नया ढंग निकाला। यद्यपि उनके इस व्यवहार पर अपनी ओर से मुझे पछतावा नहीं है, तथापि मन से कुछ कहे बिना रहा भी नहीं जाता है। यही कहना पड़ता है कि बड़ों की प्रीति में अनीति होती ही है। जो स्वयम् आनंद का घन और सुजान हो उसे कौन कुछ सिखा सकता है। आश्चर्य इसी का है कि जिस लता को रस से सीचते हुए उन्होंने स्वयम् ही बोया उसे ही सुखा भी डाला। मुझे तो हे दैव, हृदय में यही पीड़ा बराबर खटकती रहती है कि उन्होंने मेरे साथ इस प्रकार का व्यवहार किया, यहाँ तक कि मेरी स्मृति ही को सब प्रकार से विस्मृत कर दिया।

व्याख्या—*ब्रजनाथ०*—व्रज बहुत बड़ा है। उसमें मैं ही अकेली नहीं हूँ। इतने बड़े व्रज के स्वामी का कर्तव्य सभी को सनाथ करने का है। फिर भी उन्होंने मुझ एक व्रजगोपी को अनाथ कर दिया। जहाँ उन्हें बिना किसी व्यक्तिगत संबंध के ही मेरे प्रति समुचित ध्यान देना चाहिए था वहाँ उनसे प्रेम होने पर भी उन्होंने कुछ नहीं किया। प्रीति की रीति में ऐसा

करके उन्होंने नया प्रतिमान स्थापित किया। किस कारण ऐसा किया, किस लोभ में उन्होंने ऐसा किया, कुछ कहा नहीं जा सकता। *न परेखो०* = मुझे पछतावा होना चाहिए था कि ऐसे से मैंने प्रीति ही क्यों की, पर मुझे कुछ भी अपने लिए पछतावा नहीं है। जो ठाकुर होते हैं, जो शासक होते हैं, उनकी नीति कुछ दूसरी होती है। पर जो प्रेमी होते हैं उनकी नीति भिन्न होती है। बड़े लोगों की प्रीति में अनीति कुछ न कुछ होती ही रहती है। ऐसा समझते बूझते मैं क्या कर सकती हूँ। *घनआँनँद०*— अधिक से अधिक यही किया जा सकता था कि उनसे कहा जाता कि आपको ऐसा नहीं करना चाहिए था। पर किससे! जो स्वयम् आनंद का घन हो, सुजान हो उसको सिखाने कौन जाए। कुछ भी कहने पर उधर से यही उत्तर मिलता कि मैं सब जानता हूँ मुझसे कुछ मत कहो। शिक्षा उसे दी जाती है जो किसी विषय को न जानता हो, जो जानकार है उसे कैसी शिक्षा और उसे क्या परामर्श, क्या सुझाव। उनकी जानकारी मेरी दृष्टि से यह है कि जिस लता को आरंभ में उन्होंने स्वयम् ही सींचकर बोया, फिर उसके अंकुरित हो जाने पर उसी पर कोई ध्यान नहीं दिया। उनके देखते देखते वह प्रेम की लता सूख गई और घन (बादल) और सुजान होकर भी उन्होंने कोई प्रयास नहीं किया। तब क्या कहूँ। *सुधि भूल०*—जिसने सींचना तो दूर स्मृति ही सब प्रकार से भुला दी उसी की पीड़ा से हृदय में पीड़ा दाह देती रहती है। सब प्रकार से का तात्पर्य यही है कि चाहे कोई प्रेमी कितने ही सुख में क्यों न हो उसे अपने प्रेमी के समाचार जानते रहने की सहज आकांक्षा होती है। स्वयम् कुछ नहीं कर पाता तो दूसरे के माध्यम से प्रयास करता है। पर यदि यह भली भाँति पता हो कि प्रेमी कष्ट में है तो सौ काम छोड़कर उसकी सहायता के लिए प्रयत्नशील होता है। पर सब जानते-समझते भी उन्होंने भुलाया, मुझे भुलाया, मेरे कष्ट को भुलाया, मेरे अनन्य प्रेम को भुलाया, मेरी प्रार्थना को भुलाया। मेरे समान अनन्य प्रेमी से हरि होकर ऐसा व्यवहार किया। हरि का तो अर्थ ही है कि किसी की व्यथा को हरण करना। पर मेरा कैसा अभाग्य है हे ईश्वर कि उन्होंने मेरे साथ ऐसा बरताव किया जैसा शत्रु के साथ भी कोई नहीं करता।

(कबित्त)

बासर बसंत के अनंत ह्वै कै अंत लेत
ऐसे दिन पारै जु निहारै जिय राति है।
लतनि की फूलनि तमालनि पै झूलनि कों
हेरि हेरि नई नई भाँति पियराति है।
प्यारे घनआनँद सुजान सुनौ बालदसा
चंदन पवन तें पजरि सियराति है।
औसर सम्हारौ न तौ अनआयबे के संग
दूरि देस जायबे कौं प्यारी नियराति है।१६०।

प्रकरण—विरहिणी की सखी वसंत के आगमन पर होनेवाले अपार कष्ट की चर्चा करते हुए प्रिय से कल्पनालोक में ही प्रार्थना कर रही है कि यदि इस अवसर पर भी आप न आए तो वह दूर देश, इस संसार के परे परलोक में पहुँच जाने के निकट पहुँच जाएगी। वह वसंत के द्वारा होनेवाले कष्ट का ब्यौरा दे रही है कि वसंत के दिन तो अनंत हैं। समाप्त ही नहीं होते। यह ऐसे दिन ले आता है कि जी यही देखता है कि दिन न होकर रात ही है। लताओं का फूलना और तमालों पर का झूलना देखकर वह नए नए ढंग से पीली पड़ रही है। हे प्रिय, सुनें, उसकी दशा यह है कि चंदन की ओर से आनेवाले दक्षिण पवन से जो वसंत में चलता है जलने लगती है, फिर ठंढी पड़ जाती है।

चूर्णिका—*बासर* = दिवस, प्रकाशयुक्त दिन। *अनंत* = अंतहीन, जिनकी समाप्ति न हो। *अंत०* = अंत कर देते हैं, मारे डालते हैं। *दिन०* = दिन ला देना, बुरे दिन कर देना। *राति* = रात; अंधकार। *ऐसे०* = वसंत के वे दिन ऐसे बुरे दिन ला देते हैं कि हृदय चारो ओर रात ही रात का अनुभव करता है (अंधकार ही अंधकार दिखाई देता है)। *फूलनि* = फूलना। *झूलनि* = नए नए पत्तों से झलराना, हरा-भरा होना। *पियराति०* = पीली पड़ती जाती है। *बाल* = प्रेमिका। *चंदन०* = चंदन की ओर से आनेवाली वायु, मलयानिल, दक्षिणी पवन, शीतल समीर। *पजरि* = प्रज्वलित होकर, जल-भुनकर। *सियराति०* =

फिर बाहर शरीर में वह पीलापन व्यक्त होता है। फूल लाल है तो लाल रंग की तन्मनस्कता से शरीर में लाल रंग आना चाहिए, पर वह लाल रंग पीले रंग में परिणत होता है। ऐसे ही नीले आदि रंगों के फूलों के रंगों से पीलापन। भिन्न भिन्न प्रकार के रंग पीले होते हैं तो उनमें पीलेपन के भी भिन्न भिन्न प्रकार हो जाते हैं। इसी से नए नए ढंग से पीली पड़ना कहा गया। फिर देखने की भी भिन्नता होगी। किसी के प्रति विशेष रूप से देखना होगा और किसी के प्रति साधारण रूप से। किसी के प्रति संयोग के समय कोई आकर्षण रहा होगा, कोई प्रिय को विशेष प्रिय होगा, कोई प्रेमिका को अधिक प्रिय रहा होगा पहले। इस प्रकार विविधता हो गई। पीली पड़ने में कई प्रकार की भिन्नता हो गई। *प्यारे घनआनँद०*—हे प्रिय, आप आनंद के घन और सुजान हैं। यदि मेरी सखी प्रज्वलित होती है तो उसकी आग आप सहज ही बुझा सकते हैं। यदि वह ठंढी पड़ती है तो सुजान होने के नाते उसमें फिर से स्पंदन ला सकते हैं। इससे आपको सब सुना रही हूँ। वह प्रेमिका बाल है, अभी कोमल है। साधारण से आघात से उसका कुछ का कुछ हो जा सकता है। दो दो विलक्षणताएँ दिखाई देती हैं। पहले तो चंदन से जलना आग, फिर आग से ठंढी होना। ठंढी होना ही था तो पहले ही शीतल होती। पर पवन से शीतल होने से यह शीतल होना भी भिन्न है। वह शीतलता आनंददायिनी होती है जीवनदायिनी होती है। यह विषाददायिनी और मारक है। *औसर०*—प्रेमिका का सँभालना तो पीछे होगा, पहले इस अवसर को सँभालिए। फिर उसे सँभालिएगा। अवसर भी वसंत ऋतु भर का ही है। केवल दो महीने का समय है। अकेली वह नहीं जाएगी। आपका न आना उसके साथ रहेगा। अभी तो आने में आपको लंबी यात्रा नहीं करनी है। फिर वह दूर देश ऐसे देश चली जाएगी जहाँ जीते जी जाना संभव न होगा।

(दोहा)

गोरी तेरे सरस दृग किधौं स्याम घन आप।
दावानल सो पान ये करत बिरहसंताप।१६१।

प्रकरण—प्रेमिका के रूपदर्शन की विशेषता नायक बता रहा है। हे गोरी,

तेरे रसीले नेत्र मानो स्वयम् घनश्याम हैं। घनश्याम (श्रीकृष्ण) ने जैसे दावानल का पान कर लिया था वैसे ये भी विरह के संताप को पी लेते हैं। विरह दूर करते हैं।

चूर्णिका—*गोरी०* = ऐ गौरवर्णी, ये तेरे रसीले नेत्र हैं या स्वयम् घनश्याम ही हैं। क्योंकि ये विरह का संताप श्रीकृष्ण बनकर दावाग्नि की भाँति पी रहे हैं (श्रीकृष्ण ने दावाग्नि पी ली थी)।

तिलक—ऐ गोरी, मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि रस से भरे तेरे ये नेत्र स्वयम् घनश्याम हैं। घनश्याम ने गोपियों को वन में दावाग्नि से घिरा सुना तो उसको वे पी गए थे और उनका उद्धार किया था। ये नेत्र मेरे ऐसे दर्शक का बिरहसंताप उसी प्रकार पी लेते हैं। तुझे देखकर, तेरे रसीले नेत्रों को देखकर प्रेमजन्य पीडा दूर हो जाती है।

व्याख्या—*गोरी०*—यद्यपि तू गोरी है, गौरववर्णवाली है तथापि तेरे नेत्र श्याम हैं। घनश्याम हैं। घन में जल की सरसता होनी है नेत्र में प्रेम की सरसता है। गोपियों को दावानल ने घेरा था। दावाग्नि वन की अग्नि को कहते हैं। वह सभी आगों से प्रचंड मानी जाती है। उसे घन ही घोर वृष्टि करके बुझा पाते हैं। तुझे देखकर मैं भी विरह के संताप से घिर गया। विरह का संताप दावाग्नि से भी प्रचंड होता है। पर तेरे नेत्रों ने रस की वृष्टि करके मेरा विरहकष्ट दूर कर दिया। घनश्याम ये दो दो हैं। विरह का प्रचंड संताप इसी से दूर हो सका। फिर विशेषता तो देखिए कि आग कोई पीने की वस्तु नहीं। पीने की वस्तु पानी है। पर ये तो स्वयम् आप (जल) हैं। जैसे और लोग पानी को पीते हैं वैसे ही पानी आग को पीता है। पानी की प्यास आग पीने से बुझती है। प्यास कोई आग तो होती नहीं। पर कहते हैं कि प्यास बुझी। बुझती तो आग है न।

(सवैया)

घनआनँद रूप सुजान सनेही पै आपु ही आपुन त्यौं बरसौ।
इत मो मधि मेरियै रीति रचौ उत वाहि निबाहिनि सों सरसौ।
रसनायक मायक लायक हौ कितहूँ झर लाय कहूँ तरसौ।
अब हौं जु कहौं सु तौ दूसरे कों तुम ही सब रंग मिले दरसौ।१६२।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय को उपालंभ दे रही है कि या तो आप अपनी ओर देखते हैं या मेरी सपत्नी की ओर। मेरी ओर कभी नहीं देखते। यदि कभी मेरी ओर देखते भी हैं तो सुमुखतापूर्वक नहीं देखते। मैं जो आपसे अपने लिए चाहती हूँ उसे दूसरे के प्रति करते हैं। मैं यदि आपकी एक ही छटा से निहाल हो जाने की वृत्ति रखती हूँ तो आप मुझे तो एक छटा या झलक नहीं दिखाते और दूसरे को सब छटाएँ और झलकें दिखा देते हैं। यहाँ तो मैं चातक की भाँति तरसती ही रह जाती हूँ और अन्यत्र आप धारा-संपात वृष्टि करते हैं।

चूर्णिका—*आपु ही०* = केवल अपनी ही ओर बरसते हैं, अपना ही सुख देखते रहते हैं। दूसरे को (मुझे) सुख देने का विचार भी नहीं करते। *इत०* = इधर मेरे बीच आकर तो मेरी सी ही रीति बना लेते हैं (जैसा निष्ठुर व्यवहार मेरे साथ करते आ रहे हैं वैसी ही निष्ठुरता करने लगते हैं)। *उत०* = उधर उस (सपत्नी) के साथ (भली भाँति प्रेम का) निर्वाह करने की रीति से चावपूर्वक मिलते हैं। *मायक*=मायिक, मायावी। *झर०* = झड़ी लगाकर। *तरसौ०* = त्रस्त करते हो, तरसाते हो। *अब०* = मैं जो अपने लिए करने को कहती हूँ उसे एक तो दूसरे के लिए करते हैं और दूसरे सब प्रकार के रंग से मिले हुए उसे दिखाई देते हैं, वह व्यवहार केवल दूसरे के प्रति ही नहीं करते प्रत्युत दूसरे से वह व्यवहार भली भाँति भी करते हैं।

तिलक—हे प्रिय, आप एक तो साक्षात् आनंद के घन हैं फिर सुजान भी हैं, इसके अतिरिक्त स्नेही भी हैं। पर यह क्या हुआ कि आप जो कुछ वृष्टि करते हैं सब अपनी ही ओर करते हैं। आप अपने को ही देखते हैं, अपने को ही सुख देते रहते हैं। यह भी नहीं है कि आप अपनी सरसता कहीं दिखाते ही न हों। केवल इधर मेरी ओर आपकी वृत्ति दूसरी रहती है। आप मेरे प्रति निर्दय हैं तो निर्दय ही बने रह जाते हैं। पर उधर मेरी सपत्नी के प्रति आपका व्यवहार दूसरा ही होता है। आप भली भाँति प्रेम का निर्वाह करने के लिए उससे सरसतापूर्वक मिलते रहते हैं। इधर नीरसता उधर सरसता। दो के प्रति दो प्रकार का व्यवहार। आप रस के नायक

हैं या रसीले नायक हैं। बड़ी माया आपमें है, आप पूरे मायामय हैं। आप समर्थ हैं। तभी न कहीं तो रस की झड़ी लगाए रहते हैं और कहीं (मुझे) रस की बूँद के लिए भी तरसाते रहते हैं। दो प्रकार के विपरीत व्यापार आप करते हैं। इतना ही होता तो भी उतना कष्ट न होता। मैं अपने लिए जिस प्रकार का व्यवहार करने को कहती हूँ आपकी जो सुमुखता मैं चाहती हूँ वह आप मेरे प्रति तो करते नहीं दूसरे ही के प्रति करते हैं। यही क्यों, मैं तो आपकी एक ही रँगीली छटा से तृप्त होना चाहती हूँ। पर मुझे तो उसके दर्शन नहीं हो पाते, उधर आप दूसरे को अपनी एक ही रँगीली झलक नहीं दिखाते सब प्रकार की रँगीली छटा के दर्शन देते हैं। कुछ भी समझ में नहीं आता कि मेरे प्रति आपका यह आचरण क्यों है।

व्याख्या—*घनआनँद०*—आपको अपने लिए कोई आवश्यकता नहीं है। आप एक तो स्वयम् आनंद के घन हैं फिर सुजान भी हैं। यही नहीं सनेही भी हैं। सहृदय भी हैं। बादल को अपने लिए जल की क्या आवश्यकता। वह तो जल से अन्यों को तृप्त करता है। ज्ञान भी दूसरों को देने की ही वस्तु है। ज्ञान से ज्ञानी व्यक्ति को आनंद होता है सो आप स्वयम् आनंदघन हैं। तब ज्ञान आपके लिए वह प्रयोजन ही नहीं रखता। स्नेह भी दूसरे के लिए होता है। अपने प्रति स्नेह का तात्पर्य होता है शरीर के प्रति झुकाव। पर शरीर की सेवा में तो अविवेकी निरत रहते हैं। इतना सब होते भी आप सब कुछ अपनी ही ओर करते हैं। आनंद आपकी ओर, ज्ञान आपकी ओर, स्नेह भी आपकी ही ओर जाता है। अन्यत्र चाहे जहाँ जाता हो मेरी ओर तो नहीं आता। *इत मों०*—मेरी ओर क्या होता है। वही जो सनातन से आप मेरे प्रति करते हैं। मेरे पल्ले अनानद, अज्ञान और अस्नेह ही पड़ता है। किसी गुण का निर्वाह मानो मेरे लिए नहीं है। हाँ, यही होता कि आप किसी के प्रति किसी प्रकार का कोई निर्वाह ही न करते होते तो भी कोई चिंता न होती। पर यह देखती हूँ कि आप मेरी सौत के प्रति सब प्रकार का निर्वाह करते हैं। पूरी सरसता दिखाते हैं। बस चित्त को इसी से विश्रांति नहीं होती। *अब हौं०*—यही नहीं है कि आप उसके प्रति सरसता ही रखते हैं। मैं जो अपने लिए चाहती हूँ वह आप कर देते हैं

उसके लिए। इतना ही नहीं, मैं थोड़ा ही चाहती हूँ तो आप सौत के प्रति पूर्णतया अनुकूल होकर सब प्रकार से उसे अपनी मनोहरता दर्शाते हैं। क्या कहूँ। *रसनायक०*—जिस प्रकार की सरसता आप अन्यत्र दिखाते हैं उससे स्पष्ट है कि आप रसनायक हैं। सब प्रकार की माया भी कर सकते हैं। सब कुछ करने में समर्थ हैं। पर यह क्या कि कहीं झड़ी और कहीं सूखा। कोई आप्यायित और कोई लालायित।

इक तौ जग माँझ सनेही कहाँ पै कहूँ जौ मिलाप की बास खिलै।
तिहि देखि सकै न बड़ो बिधि क्रूर बियोग समाजहि साजि मिलै।
घनआनँद प्यारे सुजान सुनौ न मिलौ तौ कहौ मन काहि मिलै।
अमिले रहिबो लै मिले तें कहा यहि पीर मिलाप मैं धीर गिलै।१६३।

प्रकरण—विरहिणी संसार में स्नेह की प्राप्ति की चर्चा करती प्रिय की अमिलन की वृत्ति के प्रति उपालंभ देती अपनी वेदना की कथा कह रही है। संसार में सबसे पहले स्नेही ही बहुत थोड़े, फिर जो हैं उनसे मिलाप कठिन है। पर यदि हो गया मिलाप तो ब्रह्मा बड़ा क्रूर है। मिलाप होते ही वह वियोग का समाज लिए दिए टूट पड़ता है। हे प्रिय, मेरा कहना है कि यदि आप नहीं मिलते तो मेरा मन फिर किससे मिले। वह आप ही से मिल सकता है। यदि मिले भी और मिलकर भी अमिले ही रहे तो फिर मिलना किस काम का। न मिलने की पीड़ा से मिलाप होने पर भी धैर्य समाप्त हो जाता है।

चूर्णिका—*इक०* = एक तो संसार में स्नेही प्रिय का मिलना ही कठिन है। यदि किसी प्रकार ऐसे स्नेही के संयोग की गंध मिलती है (थोड़ा सा संयोग प्राप्त भी होता है) तो। *बियोग०*=वियोग के बखेड़े सजाकर टूट पड़ता है, सिर पर डाल देता है, किसी न किसी तरह वियोग उपस्थित कर देता है। *न मिलौ०* = यदि आप नहीं मिलते तो कहिए यह मन किससे मिले (कहाँ टिके)। *अमिले०* = अमिलन लिए हुए मिले भी तो क्या मिले, यह पीड़ा कि आप अमिलन लिए हुए मिले हैं संयोग में भी धैर्य को निगल लेती है, मैं अधीर हो जाती हूँ।

तिलक—एक तो संसार में वास्तविक स्नेही ही कहाँ हैं, हैं भी तो

बहुत थोड़े हैं। यदि सच्चे स्नेहियों से मिलन का यत्किंचित् अवसर मिल भी गया तो उस मिलन को भारी क्रूर विधाता देख नहीं सकता, वह तुरंत ही वियोग का विस्तृत प्रपंच करके टूट पड़ता है और वह मिलाप थोड़े ही समय के अनंतर विस्तृतकालीन वियोग में परिणत हो जाता है। इसी से हे आनंद के घन सुजान प्रिय, आपसे मेरा कुछ निवेदन है। आप कृपापूर्वक सुन लीजिए। निवेदन इतना ही है कि यदि आप मुझसे नहीं आ मिलते तो फिर यह मन किसी से मिल नहीं सकता। आपके अतिरिक्त इस मन से मिलनेवाला कोई नहीं है। हाँ, साथ ही यह भी निवेदन है कि मिलन परमार्थ रूप में होना चाहिए। यदि आप मिले भी और अमिलन लिए मिले तो वह तो और भी कष्टदायक हो जाएगा। मिलन में अमिलन लिए मिलने से जो पीड़ा होती है वह धैर्य को ही निगल जाती है। पीड़ा और अधैर्य से छटपटाने के सिवा कुछ होता ही नहीं।

व्याख्या—*इक*०—संसार में और सबका सद्भाव है, अभाव स्नेहियों का है। स्नेही का आदर्श जो मेरा है वैसा कोई नही है। फिर यदि हो तो मिलाप की गंध भी नहीं होती। गंध खिलती नहीं। वह पड़ी है उसमें विकास नहीं है। स्नेही का तात्पर्य है सहृदयता से संपन्न होना। सहृदय का अर्थ है जो दूसरे के समान अपना हृदय कर सके। मिलाप का तात्पर्य है सहज, नैसर्गिक पुष्प की गंध की भाँति, 'सुगंधिं पुष्टिवर्धनम्' के रूप में मिलन। ऐसा मिलन जिससे आत्मविसर्जन हो। त्याग हो अपनत्व का। दो मिलकर एक हो जाएँ, अनेकता स्थगित हो जाए। *तिहि*०—यदि मिलन का नाममात्र का अवसर आता है तो दीर्घकालीन नहीं होता। परम क्रूर ब्रह्मा उसे देख ही नहीं सकता। वह वियोग को उसके परिवारसहित सजाकर उस मिलन पर पिल पड़ता है। फिर वह मिलन अनंत वियोग में परिणत हो जाता है। *घनआनँद*०—आप आनंद के घन हैं, ऐसा प्रिय कहीं किसी को कभी मिलता है। फिर सुजान भी हैं। सोने में सुगंध है। मन का मिलन आप ही से हो सकता है। आप नहीं तो दूसरे से मिलना फिर दूर है। मन ही खोजने पर किसी को न मिलेगा। उसका अस्तित्व आपसे मिलने पर ही टिक सकता है। हाँ, यदि आप कोई मार्ग जानते हों उसके मिलने का तो आप ही बता

दीजिए। सुजान हैं तो बहुत कुछ जानते होंगे। *अमिले०*—पर मेरा अनुभव यह है कि आप मिलने पर अमिले रहते हैं। यह सब बेकार है। मेरे लिए तो उस प्रकार बेढंगे तौर से मिलने का फल भीषण होता है। अभी तो धैर्यपूर्वक वियोग की पीड़ा झेल रही हूँ। पर मिलने पर भी न मिलने से पीड़ा बुभुक्षित होकर और कुछ नहीं पाती तो मेरे धैर्य को ही चट कर जाती है।

प्रयोग—*बास खिलै*—खिलना पुष्प का होता है। वास कोई पुष्प नहीं, पुष्प का एक अंग कह सकते हैं। पर वास के साथ खिलने के प्रयोग से तात्पर्य शोभन रूप में उसके प्रकट होने से है। 'रंग खिलने' का तात्पर्य होता है शोभन या आकर्षक रूप में रंग के दिखने का।

मनमोहन तौ अनमोह करौ यह मोहित होत फिरै सु कहा।
अरु जौ अपढार ढरै न ढरै गुन त्यौं तकि लागत दोष महा।
घनआनँद मीत सुजान सुनौ चित दै इतनी हितबात हहा।
जिय जाचक ह्वै जस देत बड़ो जिन देहु कछू किन लेहु लहा।१९४।

प्रकरण—विरहिणी मनमोहन के प्रति प्रेम की बात सुना रही है। वह कहती है कि मनमोहन होकर तो आप अमोह करते हैं, पर मेरा मन फिर भी आप पर क्यों मोहित होता फिरता है यही समझ में नहीं आता। आपका मन नहीं ढलता तो न ढले, पर आपके गुण को दोष भी लग रहा है। आप यही बताइए कि मेरा जी याचक होकर बड़ा यश आपको दे रहा है, आप मत दीजिए तो लेने का लाभ उठाने में क्या हानि है।

चूर्णिका—*अनमोह* = अमोह। *यह०* = मेरा मन बेचारा जो मोहित होता फिरता है वह किसलिए। *अपढार०* = आपका बेढंगे तौर से ढलने-वाला मन यदि मुझपर नहीं ढलता तो न सही पर सोचिए तो कि आपके गुण की ओर देखने से बड़ा दोष (कलंक) भी तो लग रहा है, अपने गुण का तो कुछ खयाल कीजिए। *चित दै* = मन लगाकर, ध्यान से। *हित-बात* = प्रेम की बात, भलाई की बात। *जिय०* = मेरा जी भिक्षुक बनकर आपको बड़ा भारी यश दे रहा है, आप चाहे मुझे कुछ दीजिए मत, पर यह

लाभ प्राप्त करने में आपकी क्या हानि है, यश का लाभ क्यों नहीं उठाते (मेरे प्रति अनुकूल होने मात्र से आपको भारी यश की प्राप्ति हो जायगी)।

तिलक--हे प्रिय, आपका नाम मनमोहन है फिर भी आप अमोह करते हैं। मेरा मन कैसा मूर्ख है कि इतने पर भी वह आप ही पर मोहित होता फिर रहा है। क्यों ऐसा करता है, कुछ भी समझ में नहीं आता। यदि आपका मन मेरे प्रति आप ही आप नहीं ढलता तो न ढले। पर आपके गुण को देखकर भारी कलंक लगता है। आप प्रिय हैं, आनंद के घन हैं, सुजान हैं, सुनिए। मन लगाकर सुनिए। प्रेम की थोड़ी सी ही बात है। मेरा जी आपके प्रति याचक हो आपको भारी यश दे रहा है। आप ही सोचिए कि यह जी आप तो याचक है पर आपको दे रहा है यश। भिक्षुक ने इतना बड़ा साहस किया और आप दाता होकर भी कुछ नहीं देते तो न दें, पर लेने में तो कोई हानि नहीं। न दीजिए तो लीजिए ही।

व्याख्या—*मनमोहन*०—नाम भी क्या सटीक मन को मोहित करने-वाले। पर आपने वह व्यापार ही छोड़ दिया और यह मन स्वयम् ही आप पर मोहित होता रहता है, इसने आपके अमोह को जान-बूझकर भी मोहित होना नहीं छोड़ा। आपको जिसे छोड़ना नहीं चाहिए उसे आपने छोड़ दिया, पर इसे जिसे छोड़ देना ही ठीक था उसे भी इसने नहीं छोड़ा। यह आपके प्रतिदान के प्रति तटस्थ है। अपने दान के प्रति पूर्ण सजग है। *अरु जौ*०—आपका मन बेढंगा हो ढलता है, पर अपने आप नहीं ढलता। ढले या न ढले उसकी चिंता नहीं, चिंता यह है कि आपके गुणों की ओर जब दृष्टि जाती है तब उन्हें दोष लगता है। यह कलंक लगना अच्छा नहीं लगता। *घनआनँद*०—आप आनंद के घन हैं इसलिए बड़ा संकोच होता है आपसे कुछ कहने में। पर बात हित की है, भलाई की है, इसी से कह रही हूँ। *जिय*०—जी याचक भी किसी बड़ी बात का नहीं। केवल आपके दर्शन, आपकी अनुकूलता ही तो चाहता है। कुछ मत कीजिए, दान मत दीजिए, दाता मत बनिए, पर मैं याचक होकर आपको भारी यश दे रही हूँ, इस यश को तो उठा ही लीजिए।

अंतर ह्वौ किधौं अंत रह्वौ दृग फारि फिरौं कि अभागनि भीरौं।
आगि जरौं अकि पानि परौं अब कैसी करौं हिय का बिधि धीरौं।
जौ *घनआनँद* ऐसी रुची तौ कहा बस है अहो प्राननि पीरौं।
पाऊँ कहाँ हरि हाय तुम्हें धरनी मैं धँसौं कि अकासहि चीरौं।१६५।

प्रकरण—यह सवैया एक ओर तो विरहिणी की उक्ति है दूसरी ओर भक्त की। विरहिणी गोपी कह रही है कि हे हरि, आप मेरे अंतःकरण में रहते हैं या अन्यत्र। मैं अपने नेत्रों को विस्फारित करके आपको देख रही हूँ, पर आप दिखाई नहीं देते। आपके न दिखाई पडने से ऐसा ही प्रतीत हो रहा है कि अभाग्यों ने मुझे घेर लिया है। आप पाँच तत्त्वों में से कहाँ मिलेंगे। आग में जलूँ या पानी में घुसूँ। मैं किस प्रकार अपने हृदय को धैर्य दूँ। आपको यदि ऐसी ही बात रुच रही है तो बस प्राणों को पीड़ा देने के सिवा कोई चारा नहीं है। आप कहाँ मिलेंगे। पृथ्वी में धँसूँ या आकाश को फाड़ूँ।

चूर्णिका—*अंतर* = हृदय में। *अंत* = अन्यत्र। *दृग०* = नेत्रों को फाड़कर आपको इधर-उधर खोजती फिरूँ क्या। *अभागनि०* = अपने अभाग्य को रोऊँ। *अकि* = या कि, अथवा। *का बिधि* = किस प्रकार। *धीरौं* = धैर्य दिलाऊँ। *पीरौं* = तो फिर प्राणों को पीड़ा पहुँचने दूँ, उन्हें पीड़ित होते रहने दूँ। *अहो* = हाय। *चीरौं* = फाड़कर घुसूँ।

तिलक—हे प्रिय हरि, आप मेरे अंतःकरण में ही हैं या अन्यत्र कहीं! कुछ पता नहीं चलता। यदि हृदय में ही होते तो दिखाई अवश्य देते, इस पीड़ा के अवसर पर अवश्य प्रकट होते। आपको विस्फारित नेत्रों से खोजती फिरती हूँ, पर आप न भीतर दिखते हैं न बाहर ही। ऐसी स्थिति में यही जान पड़ता है कि नाना प्रकार के अभाग्यों की भीड़ में पड़ गई हूँ। उसी के लिए रोना रह गया है। आपकी प्रपंच में स्थिति पंच तत्त्वों से मिश्रित होगी। तो किस तत्त्व में खोजूँ। अग्नि तत्त्व में आपकी खोज के लिए जाकर जलूँ या जल तत्त्व में आपको ढूँढ़ने के लिए जा पड़ूँ। अब मैं क्या करूँ। इस परम व्याकुल हृदय को किस प्रकार धैर्य दिलाऊँ। आप आनंद के घन हैं, आपको यदि इसी प्रकार रहस्यात्मक ढंग से छिपे रहना है तो अब और

कोई वश नहीं चल रहा है। वायु तत्त्व में आपकी खोज के लिए प्राणों को भेजना होगा। उन्हें ही पीड़ा देनी होगी। मैं किस प्रकार आपको पाऊँ। क्या पृथ्वी तत्त्व में आपकी खोज के लिए धरती में धँस जाऊँ या आकाश-पटल को फाड़कर इस परदे की ओट में छिपे आपको ढूँढ़ निकालूँ।

व्याख्या—*अंतर हौ०*—निर्गुण ब्रह्म के लिए निर्गुनिया कहते हैं कि वह हृदय के भीतर ही रहता है—हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति। पर हृदय में वह मिलता कहाँ है। तो क्या वह हृदय में न रहकर अन्यत्र कहीं रहता है। उसे खोजने के लिए आँखें फाड़कर घूमने-फिरने से भी कोई लाभ नहीं। अपना अभाग्य ऐसा है कि फिर भी वह नहीं दिखता। अभाग्यों की भीड़ सी लग जाती है। मेरे भाग (हिस्से) में आप नहीं आते केवल अभाग (हिस्सा न होना) ही हाथ लगता है। नेत्रों को विस्फारित करने का कष्ट हुआ, न मिलने का कष्ट हुआ। दौड़ने का कष्ट हुआ। संत-फकीरों को भी बात सही न होने का कष्ट हुआ। नाना प्रकार के अभाग्य हुए। *आगि०*—ईश्वर को प्राप्त करने के लिए लोग अनेक साधनाएँ करते हैं। कोई पंचाग्निसेवन करता है—चारो ओर आग और ऊपर सूर्य। कोई पानी में खड़े होकर साधना में निरत होता है। मैं क्या करूँ। हृदय को धैर्य किस प्रकार मिले यह समझ में नहीं आता। आपके मिले बिना तो किसी प्रकार की सांत्वना मिल ही नहीं सकती। *जौ०*—यदि आपको इसी प्रकार परदे की ओट में छिपे रहना है तो फिर आपको खोजने के लिए प्राणों को ही भेजना होगा। यह आपको क्या रुचा है। कैसे खेल आप खेल रहे हैं। *पाऊँ०*—पृथ्वी फटती और मैं उसमें समा जाती तो कदाचित् आप मिल जाते या आकाश को ही चीरकर परलोक में आपसे मिलूँ। जब भीतर नहीं मिलते तो बाहर खोजती हूँ। बाहर भी नहीं मिलते तो व्याकुलता होती है।

मनमोहन नावँ रहै सु करौ पन की पटिहै वह जौ चटिहै।
बहु ओरनि लै भटकावत यौं अटकावत क्यौं न कहा घटिहै।
घनआनँद मीत सुजान सुनौ अपनी अपनी दिसि को हटिहै।
तुम ही तन खोरि लगाइहै जू दृग मोरिकै जौ हम त्यौं डटिहै।१६६।

प्रकरण—सखी नायक से कह रही है। विरहिणी के विषय में वह नायक

को उपालंभ दे रही है। आपके मनमोहन नाम की रक्षा हो ऐसा करें। यदि आपके वियोग में वह समाप्त हो गई तो उसके प्रण की पूर्ति हो जाएगी और आपकी बदनामी होगी। आप नाना प्रकार से भटकाते क्यों हैं, उसे किसी प्रकार अटकाते क्यों नहीं, आपका घटेगा क्या। दोनो की, आपकी और विरहिणी की, प्रतिज्ञा ऐसी है कि दोनो उसकी पूर्ति में डटे हैं। कोई हटनेवाला नहीं। वह हमें देखने लगेगी, टकटकी लगाकर आपको देखना बंद करेगी तो (उसकी इस मरणासन्न अवस्था के कारण) दोष आपको ही लगेगा।

चूर्णिका—*नावँ०* = ऐसा कीजिए कि आपके मनमोहन नाम की लज्जा बनी रहे। *पन०* = उसकी प्रतिज्ञा पूरी हो जायगी। *वह* = नायिका। *चटिहै* = शीघ्र संसार से विदा हो जायगी। वियोग में मर जायगी। *बहु०* = इस प्रकार अनेक दिशाओं में ले जाकर उसे क्यों भटका रहे हैं। उसे अटकाए क्यों नहीं रहते (उसके अनुकूल होकर या उसे दर्शन देकर सांत्वना क्यों नहीं देते)। इसमें आपका क्या घट जायगा। *अपनी०* = अपनी अपनी ओर से भला हटेगा कौन, आपने जो रास्ता पकड़ा उसे छोड़ते नहीं, वह जो प्रतिज्ञा कर बैठी उसे त्यागती नहीं। *खोरि* = दोष। *हम०* = हमारी ओर। *तुम ही०* = यदि वह अपने नेत्र मोड़कर हमारी ओर डट जायगी, यदि हमें ही टकटकी बाँधकर देखने लगेगी (मरणासन्न हो जायगी) तो इससे दोष आपको ही लगेगा। अतः आप अपना निर्दय स्वभाव छोड़कर उससे जा मिलिए।

तिलक—सखी नायक श्रीकृष्ण से निवेदन कर रही है कि आपका नाम मनमोहन है। आपका यह नाम बना रहे, यह कीर्ति सुरक्षित रहे ऐसा ही कार्य आपको करना चाहिए। पर आप जो कुछ कर रहे हैं उससे इसके सुरक्षित रहने की संभावना नहीं है। यदि उसने अपने प्रण की पूर्ति अपने प्राण देकर कर ली तो फिर आपके नाम की भारी अकीर्ति होगी। आप उनके प्राणों को अनेक ओर क्यों भटका रहे हैं, उन्हें रोकने का प्रबंध क्यों नहीं करते। आपकी क्या कमी हुई जाती है। हे आनंद के घन सुजान मित्र, सुनें। मुझे भली भाँति ज्ञात है कि आप दोनो में से अपनी प्रतिज्ञा की पूर्ति में कोई पीछे रहनेवाला नहीं है। आपने निश्चय कर लिया है कि मैं अपने कार्य

से किसी प्रकार विचलित न होऊँगा। उसके प्रति अनुकूलता न दिखाने का ही आपने निश्चय किया है तो उसने भी आपके विमुख होने पर भी आपके प्रति प्रेम में किसी प्रकार की शिथिलता न करने की और आशा लगाए रखने की ही प्रतिज्ञा कर रखी है। उसकी स्थिति दिन पर दिन बिगड़ती ही जा रही है। प्राणों के निकलने की नौबत है। यदि आपकी करनी से घबराकर हम सखियों की ओर अपनी व्याकुलता का प्रदर्शन करती हुई वह विवशता दिखलाती हमें देखती मरणासन्न हो गई तो इससे दोष आप ही को लगेगा। आप यही सोचें कि इस प्रकार का कलंक अपने सिर आप क्यों ले रहे हैं।

व्याख्या—*मनमोहन*०—आपका नाम मनमोहन है। मन को मोहित करना, आकृष्ट करना, आनंदित करना। यदि आपने ऐसा करने के लिए, इसे सार्थक करने के लिए प्रयास न किया और वह आपके वियोग में चटापटी करके चल बसी तो फिर आपकी प्रतिज्ञा या आपके नाम की कीर्ति तो गई, केवल उसी की प्रतिज्ञा पूरी होकर रहेगी। बहु०—आपके इस प्रकार पराङ्मुख होने के कारण आपकी सुमुखता प्राप्त करने के लिए वह न जाने कहाँ कहाँ भटक रही है। जिसका मुँह न देखना चाहिए उसके पैर के तलवे देख रही है। इस प्रकार नाहक आप उसे भटका रहे हैं। आप यदि दर्शन दें तो वह न तो किसी का मुँह ताके और न उसके प्राण ही निकलें। वे अटक जाएँ, रुक जाएँ। आपको अपनी ओर से तो कुछ ऐसा नहीं करना है जिसमें आपकी कोई कमी हो, भला किसी को दर्शन देने में किसी का क्या जाता है। आपका कुछ घटेगा नहीं, बढ़ सकता है। कम से कम कीर्ति तो बढ़ेगी ही। *घनआनँद*०—आप आनंद के घन हैं, मित्र हैं और सुजान हैं, इसी से आपसे सुनने का निवेदन है। और कोई ऐरा गैरा नत्थू खैरा होता तो हम सब उससे कुछ कहतीं ही नहीं। यदि आप समझते हों कि मैंने यही निश्चय कर लिया है कि उसकी ओर किसी प्रकार सांमुख्य न दिखाऊँगा तो आप भी समझ रखें कि मेरी सखी भी अपनी प्रतिज्ञा से हटनेवाली नहीं है। पर प्रतिज्ञा पर डटे रहने में बाजी उसी के हाथ रहना चाहती है। *तुम ही*०—देखिए वह अपनी प्रतिज्ञा पर, आन पर प्राण निछावर कर दे सकती है। आप ऐसा नहीं कर सकते। यदि आपकी कठोरता से कहीं ऐसा

हुआ कि वह मरने लगी और मरते समय हम सखियों की ओर इस भाव से देखा कि प्रिय की कठोरता देख ली और इस प्रकार हमें देखने में डटी रहकर वह प्राणपरित्याग कर देगी तो उसके शरीर को यश प्राप्त होगा और आपके शरीर को कलंक लगेगा। आप भी ऐसा क्यों नहीं करते कि आप कलंक से तो किसी प्रकार बच जाएँ।

हमसों पिय साँचियै बात कहौ मन जौ मनत्यौ अरु नाहिं कहूँ।
कपटी निपटै हिय दाहत हौ निरदै जु दई डरु नाहिं कहूँ।
सब ही रंग मैं *घनआनँद* पै बस बात परे परु नाहिं कहूँ।
उघरौ बरसौ सरसौ तरसौ सब ठौर बसौ घरु नाहिं कहूँ।१९७।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के कपटाचार पर उपालंभ दे रही है। हे प्रिय, मुझसे आप सच्ची बात करें। यदि आप अपने मन में किसी अन्य के प्रति आकृष्ट होने की वृत्ति न रखते तो क्या ही आनंद होता। आप अत्यंत कपटी हैं। हृदय जलाते हैं। आप बड़े निर्दय हैं। हा दैव, आपको किसी का डर भी नहीं है। आप सभी रंग में भी हैं और अवसर पड़ने पर किसी रंग में नहीं हैं। कहीं से आप हटे रहते हैं और कहीं छाकर बरसते हैं। कहीं सरसता दिखाते हैं कही किसी को त्रास देते हैं। आप सर्वत्र बसे भी हैं और आपका कहीं घर भी नहीं है।

चूर्णिका—*मन जौ०* = यदि आप अपने मन में किसी अन्य को न रखते तो क्या ही उत्तम होता। *निपटै* = अत्यंत। *सब ही०* = आप यों तो सभी रंगों में डूबे रहते हैं। *बस०* = पर बात पड़ जाने पर किसी स्थान में अर्थात् किसी रंग में नहीं दिखाई पड़ते। *उघरौ* = खुलते हैं। *सरसौ* = सरसता दिखलाते हैं। *तरसौ* = त्रस्त करते हैं। *सब०* = आप सब स्थानों में बसे हुए भी हैं और आपका कहीं कोई घर भी नहीं है।

तिलक—हे प्रिय, हमसे आप सच्ची बात बताइए। आपका क्या बिगड़ता यदि आप अपना मन अन्यत्र न रखते, तब क्या ही उत्तम होता। पर ऐसा आप नहीं करते। प्रत्युत आपमें विरोधी वृत्तियाँ दिखाई देती हैं। आप अत्यंत कपटी हैं और हृदय जलाते हैं। ऐसा क्यों करते हैं। आपमें

इतनी निर्दयता है कि जैसी कहीं नहीं होती। कोई भी हो उसे दैव का डर रहता है पर आपको दैव का भी किसी प्रकार का डर नहीं है। आप सभी रंगों में दिखाई पड़ते हैं और विशेषता यह है कि यदि बात आ पड़े तो फिर आप किसी रंग में नहीं दिखाई पड़ते। देखिए न, कहीं से तो आप आनंद के घन होकर भी हटे रहते हैं और कहीं भली भाँति छाकर बरसते रहते हैं। कहीं तो आप पूरी सरसता दिखाते हैं और कहीं आप किसी को तरसाते रहते हैं, एक बूँद भी नहीं देते। यों तो आप सर्वत्र बसे हुए हैं और यदि देखा जाय तो आपका घर कहीं पर भी नहीं है। इस प्रकार के विरोधी तत्त्वों का एक व्यक्ति में संग्रह कहीं सामान्यतया नहीं दिखाई देता।

व्याख्या—*हमसों*०—और किसी से न कहें पर हमसे तो सच्ची बात बता दें। यदि आप एक ही स्थान पर अपना मन रखते अन्यत्र जहाँ इच्छा हो वहाँ न रखते तो क्या ही अच्छी बात होती। पर आपका मन सर्वत्र चला जाता है और कहीं आपका मन रहता भी नहीं। *कपटी*०—आप अत्यंत कपटी हैं। साधारण कपटी भी नहीं हैं। तभी तो आप हृदय को जलाते रहते हैं। जिस हृदय में बसे हैं उसे ही जलाते हैं। निर्दयता ऐसी है कि संसार में उस प्रकार की निर्दयता से प्रत्येक व्यक्ति डरता है। आपको तो दैव का भी भय नहीं है। जिसे दैव का भी डर नहीं है उसे किसी व्यक्ति का भय या संकोच क्यों होने लगा। हम सब का कोई संकोच तक आप में नहीं है। *सब ही*०—आप सभी रंगों में हैं और किसी रंग में नहीं हैं। ऐसा साधारणतया कहाँ होता है। आपमें असाधारण वृत्ति है। केवल रंग ही क्यों आप सब स्थानों में भी हैं और किसी स्थान में भी नहीं है। *उघरौ*०—आप हैं आनंद के घन। घन कहीं से हटे रहते हैं और कहीं छाते-बरसते भी हैं। पर ऐसा नहीं होता कि जो हटा हो वही कहीं अन्यत्र छाया भी हो और बरसता भी हो। ऐसे ही कोई कहीं सरसता दिखा सकता है और अन्यत्र किसी को तरसाता भी रह सकता है। यह दूसरी बात है कि ऐसा करनेवाले को कहा जाए कि इसमें सबके प्रति समान वृत्ति नहीं है।

(कबित्त)

कौन कौन अंगन के रंगन मैं राँचै मन
मोहन हो सोई सुख मुख पुनि ल्यावई।
मौन मिहीं बात है समुझि कहि जानै जान
अमी काहू भाँति को अचंभै भरि प्यावई।
सोवनि जगनि याकी मूरछा सचेत सदा
रीझि घनआनँद निबेरै याहि न्यावई।
कहे को ब मानै पहचानै कान नैन जाके
बात की भिदनि मोहि मारि मारि ज्यावई। १९८।

प्रकरण—विरहिणी प्रिय के विरह में प्रिय की वृत्ति और अपनी स्थिति का विवरण उपस्थित कर रही है। प्रिय के प्रत्येक अंग में आकर्षण है। किस अंग की शोभा में मन मुग्ध हो। उन अंगों के दर्शन का जो मोहक सुख है उसे ही वह कहती है। प्रिय सुजान की वाणी में सूक्ष्म रहस्यात्मक तत्त्व प्रत्यक्ष रूप में मिलता है। उसमें अमृततत्त्व है और आश्चर्य उत्पादन की शक्ति है। इधर विरहिणी की स्थिति यह है कि उसका जागरण भी शयन है और मूर्छा ही उसमें सचेत है। वह जगती भी सोई है और अत्यंत मूर्छा में पड़ी रहती है। उसके विरह को कोई कह नहीं सकता। उसके कठिन कष्ट को कोई मान नहीं सकता। केवल वही पहचान सकता है जिसके नेत्र में कान हो। बातें ऐसी मिलती हैं कि मरण उपस्थित हो जाए, पर उसमें अमृततत्त्व होने से वह भिदकर मारती हुई भी जिला देती है।

चूर्णिका—*राँचै* = अनुरक्त होए, रमे। *मोहन०* = जिस सुख से मन मोहित है उसी को मुख पर ला रहा है, उसी को कहना चाहता है। *मौन०* = बात तो मौन में ही है और सूक्ष्म है। इसे प्रिय सुजान ही समझते और जानते हैं। *अमी* = अमृत। *काहू* = विलक्षण। *अमी०* = उन (प्रिय) में आश्चर्य से भरा विलक्षण अमृत पिलाने की शक्ति है। *याकी* = इस मन की। *सोवनि०* = इसका जगना भी सोना ही है, यह सावधान होकर भी असावधान है। *मूरछा०* = इसकी मूर्छा ही सजग है, इसमें केवल बेहोशी ही बेहोशी छाई है। *रीझि* = मोहित होना। *निबेरै* =

इस कष्ट से मुक्त करती है। *न्यावई* = (न्याय ही) न्यायत:, वस्तुत:। *कहै०* = कौन अपनी व्यथा कहने जाय, और माननेवाला भी कौन है। *पहचानै०* = इसे वही पहचान सकता है जिसके नेत्र ही कान हों। जो देखकर ही सब कुछ समझ सके। *बात०* = बात की चोट तो मार मारकर जिला रही है। मुझे उनकी बात की ओट कष्ट भी दे रही है और उसी की स्मृति करके मैं जी भी रही हूँ।

तिलक—प्रिय के प्रत्येक अंग में विशेष प्रकार का आकर्षण है। फिर बेचारा मन किस अंग की छटा में अनुरक्त हो। एक की छटा पर मुग्ध होने के अनंतर वह अन्यत्र जाने में असमर्थ हो जाता है। पर किसी अंग की छटा की मोहकता से जो सुख मिलता है मन उसे ही बारंबार कहता रहता है। उसी छटा में मुग्ध हो वह कुछ न कुछ बकता ही रहता है। केवल अंगों में ही विशेषता नहीं है, प्रिय सुजान की वाणी भी विशिष्ट है। वह वाणी बड़ी सूक्ष्म होती है और उसकी अर्थसंपत्ति अव्यक्त या मौन रहती है। उसे समझना और कहना किसी दूसरे के बूते का नहीं है केवल प्रिय सुजान ही उसे समझ भी सकते हैं और कह भी सकते हैं। वह वाणी एक प्रकार का विलक्षण अमृत अचंभे के पात्र में भरकर मुझे पिलाती रहती है। वह वाणी अमृततत्त्व से युक्त है और साथ ही ऐसी है कि उसे सुनकर आश्चर्य होता है। इधर मेरे मन की स्थिति यह है कि इसका जगना भी सोना है। जो चेतनता है वह अचेतना में परिणत पड़ी रहती है। यदि जगती है तो मूर्छा ही। अचेतना ही केवल चेतना है। सिवा अचेतनावस्था में पड़े रहने के और कोई चारा नहीं है। केवल इस अचेतना को दूर करने का, निवारण करने का न्यायत: यदि अधिकार प्राप्त है तो प्रिय आनंद के घन की रीझि को ही। और कोई इसे निवारित नहीं कर सकता। यह सब कहना निरर्थक है और कहा भी जाए तो उसमें विश्वास करनेवाला या माननेवाला कोई नहीं है। मेरी वेदना की पुकार सामान्यतया कोई सुन-समझ नहीं सकता क्योंकि वह मौन में होती है। प्रिय सुजान ही मौन सूक्ष्म वाणी को समझ भी सकते हैं और समझकर उसका स्पष्टीकरण भी कर सकते हैं। बात यह है कि मेरी मौन की पुकार वही सुन-समझ सकता है जिसके

नेत्र में कान हों। नेत्रों से मेरी स्थिति को देखकर ही समझ ले कि इसके अंत.करण में इतनी प्रचंड वेदना हो रही है। ऐसा संसार में और तो कोई कर नहीं सकता, केवल प्रिय सुजान में ही इस प्रकार का सामर्थ्य है। उनकी वाणी किस प्रकार मेरे शरीर में भिदी है, कुछ कह नहीं पा रही हूँ। इतना ही कह सकती हूँ कि वह वाणी ही इतने प्रबल आघात वाली है कि मुझे बारंबार मारे डाल रही है। पर मारकर समाप्त भी नहीं करती। उसमें ऐसा अमृत है कि उसके प्रहार से पुनः पुनः मरकर भी मैं जी जाती हूँ और उसी वाणी को सुनने के लिए लालायित हो जाती हूँ। वह मारती है तो जिलाती भी वही है।

व्याख्या—*कौन०*—किस किस अंग की रंगीनी में मन अपने को रँगे। एक अंग में जो रंगीनी है वही पर्याप्त है। जिसमें बहिर्वृत्ति प्रधान होती है वह एक छटा देखने के अनंतर दूसरी छटा के दर्शन के लिए लालायित होता है। पर इसके विपरीत जिसमें अंतर्वृत्ति प्रमुख होती है वह एक ही छटा से इतना प्रभावित हो जाता है कि उसी में रमा रहना चाहता है। एक ही छटा उसके जीवन को उत्फुल्ल किए रहती है। अनेक छटाओं की स्थिति वहाँ ऐसी है कि भरे घर के चोर की सी मन की स्थिति हो जाती है। किस किस में वह अपने को लीन करे। मन एक और छटाएँ अनेक। मन भी अनेक हो तब पूरा पड़े। उसके लिए एक ही छटा मोहित करनेवाली रहती है। वह उसी के सुख में मूर्छित पड़ा रहता है और बारंबार उसी का बखान करता रहता है। *मौन०*—प्रेम की वाणी एक तो मौन होती है अर्थात् संकेत से चलती है, प्रत्यक्ष कहने सुनने को कुछ नहीं रहता। दूसरे वह सूक्ष्म होती है। ऐसी सांकेतिक भाषा को जानना और उसे व्यक्त करना सुजान का ही कार्य हो सकता है। प्रिय सुजान में ऐसी विशेषता है। वह वाणी भी अमृतमय होती है। और उस अमृत का पात्र अचंभा होता है। उसे कोई पीना चाहे तो अमृत ही नहीं मिलता आश्चर्य भी मिलता है। अमृत भी प्रख्यात अमृत नहीं होता है, वह कुछ विशेष प्रकार का अमृत होता है। अमृत सामान्यतया मृत को जिलानेवाला होता है। यह अमृत इस प्रकार भिन्न है कि मारता भी है और जिलाता भी है। यही अचंभे की स्थिति है। मारनेवाला जिलाए और जिलानेवाला मारे

यह अद्भुत प्रकार है। पहला अचंभा तो यही है कि वाणी भी है और मौन भी है। दूसरा यह कि मारता भी है और जिलाता भी है। यहाँ तक तो प्रिय-पक्ष की विशेषता हुई। अब प्रेमीपक्ष की विशेषता देखिए। *सोवनि०*—यदि प्रिय में विलक्षणता है तो प्रेमी में भी विलक्षणता है। प्रेमी के मन का जागना भी सोना है। मन प्रेम के लिए सचेत है पर प्रेम के प्रभाव में साथ ही अचेत भी है। फल यह है कि उसकी मूर्छा (बेहोशी, सोना) ही सजग है। जागरण सोना है तो सोने का जागरण भी है। इस प्रकार की विलक्षणता को प्रिय की विलक्षणता ही ठीक कर सकती है। आनंद के घन की रीझ ही इसे न्यायत: निवृत्त कर सकती है। प्रिय चाहें तो प्रेमी की स्थिति सामान्य या साधारण हो जाए, असाधारणता दूर हो जाए। कहै०—इस प्रकार की विलक्षण स्थिति का वर्णन करना एक तो कठिन है, दूसरे इस प्रकार की स्थिति ही ऐसी असामान्य है कि कोई उसे मान ही नहीं सकता। रहा उसे पहचानना, समझना-बूझना। सो प्रेमी की पुकार भी मौन है और उस पुकार को सुनने के लिए कानों की आवश्यकता है। पर सामान्य कान तो किसी व्यक्त पुकार को ही सुन सकते हैं। पर अव्यक्त (मौन की) पुकार के लिए तो नेत्र से देखकर ही समझने की स्थिति उपयोगी या कार्यकारी हो सकती है। इसलिए यदि कोई नेत्रों में कान लगा ले या नेत्रों से ही कान का भी काम ले तो वह उस पुकार को सुन सकता है। कहते हैं कि सर्प या भुजंग नेत्रों से सुनता भी है। वह इसी से चक्षुश्रवा कहलाता है। उधर विशेष प्रिय भी भुजंग कहलाते हैं। सुजान उसी कोटि के प्रिय हैं। इसलिए उनके नेत्र कान का कार्य करते हैं और वे ही विरही की मौन की पुकार और उसमें विरह की जो सूक्ष्म अर्थात् अव्यक्त पर परम प्रचंड वेदना है उसे समझ भी सकते हैं और बतला भी सकते हैं। उनकी वाणी में बड़ी भेदकता भी है। ऐसी है कि वह मुझे मारती है और जिला भी देती है। ऐसा व्यापार वह निरंतर करती है। एक ही बार वह मारे और जिलाए ऐसा नहीं है।

(सवैया)

आँखिन मूँदिबो बात दिखावत सोवनि जागनि बात ही पेखि लै।
बात सरूप अनूप अरूप है भूल्यौ कहा तू अलेखहि लेखि लै।

बात की बात सुबात बिचारिबो है छमता सब ठौर बिसेखि लै।
नैननि काननि बीच बसे *घनआनँद* मौन बखान सु देखि लै।१६६।

प्रकरण—वाणी की विशेषता यह दिखाई जा रही है कि जहाँ परस्पर विरोधी स्थिति होती है उसे वाणी ही बता सकती है। आँखें खुली भी मुँदी हों, कोई जागता भी सोता हो तो वाणी बता दे। जो अलेख है उसका लेखा वही दे सकती है। वाणी की शक्ति अपूर्व है, अनुपम है। किसी रहस्य का वह उद्‌घाटन कर सकती है। वाणी ही ऐसी है कि नेत्रों के कानों में जो मौन का बखान है वह वाणी ही दिखा-सुना सकती है।

चूर्णिका—*आँखिन०* = आँखों का बंद कर लेना, आँखों का फेर लेना। *दिखावत* = बतलाती है। *सोवनि०* = जगते का सोना, जगते हुए भी सोते रहना। *सरूप०* = वाणी का रूप अनुपम और अलक्ष्य होता है। *भूल्यौ०* = तू किस चक्कर में पड़ा है। *अलेखहि०* = जो (ईश्वर) अवर्णनीय है उसका वर्णन भी वाणी से तू कर ले सकता है। *बात की०* = वाणी की शक्ति। *सुबात* = अच्छी बात, तथ्यपूर्ण रहस्य। *है०* = वाणी की क्षमता सब स्थानों पर दिखाई देती है, इसे तू भली भाँति जान ले। *नैननि०* = नेत्ररूपी कानों में बसे हुए मौन कथन को भी तू वाणी से लख सकता है। (जिसके नेत्र ही कान का काम करते हों, जो देखकर व्यथा समझ सकता हो, वही मौन की पुकार सुन सकता है)। तात्पर्य यह कि अनिर्वचनीय प्रेम की दशा का आभास वाणी द्वारा ही दिया जा सकता है।

तिलक—आँखें देखती हुई भी यदि मुँदी आँखों का सा व्यवहार करती हों तो इसे वाणी ही बता सकती है। अन्य प्रकार से उस स्थिति को संकेतित करना संभव नहीं है। यदि कोई जगते में भी सोता हो या किसी का जगना भी सोना ही हो तो उसे भी वाणी ही प्रदर्शित कर सकती है। दूसरे ढंग से उसे समझा भी नहीं जा सकता। इसी से कहना पड़ता है कि वाणी का रूप अनुपम है। उसकी कोई उपमा नहीं, कोई उदाहरण या दृष्टांत नहीं। दूसरे यह कि वह स्वयम् तो दूसरों को लक्षित कराती है पर यदि कोई उसके रूप को लक्षित करना चाहे तो वह लक्षित नहीं की जा सकती। इस प्रकार वह अरूप भी है। उसका स्वरूप अरूप है। संसार की इन सब बातों की तो

कथा ही क्या। उनका वर्णन करना उतना कठिन नहीं। पर सबसे कठिन तो उसका वर्णन करना है जो लिखा ही नहीं जा सकता, जो अलेख है। जिसकी रूपरेखा ही नहीं खींची जा सकती। पर वाणी उस अलेख का भी उल्लेख कर सकती है। ऐ मन, तू किस चक्कर में पड़ा है। वाणी की शक्ति इतनी अधिक है कि वह साधारण तथ्य की कथा ही क्या असाधारण तत्त्वों का भी उद्घाटन कर सकती है। विश्व में कोई ऐसा स्थान नहीं, कोई ऐसा विषय नहीं जहाँ वाणी की क्षमता दिखाई न दे। वह सब कुछ करने में सक्षम है। नेत्रों से कानों का काम लेकर यदि कोई मौन में होनेवाले बखान को सुनना चाहे तो उसे सुनना-देखना वाणी के माध्यम से ही संभव है। अन्य जितने माध्यम हैं उनके बूते के बाहर है इस प्रकार की विलक्षण स्थिति में सफल होना।

व्याख्या—*आँखिन*०—आँखों का कार्य देखना है पर यदि आँखें देखने का कार्य बंद करके मुँदी आँखों की भाँति हो जाएँ तो उनकी इस स्थिति को वाणी दिखा सकती है। यद्यपि वाणी का कार्य बोलना है, पर वह दिखाने का भी कार्य कर सकती है। जगने पर भी सोने की सी स्थिति को और किस प्रकार देखा जा सकेगा। आँखें तो मुँदी आँखों की भाँति व्यापार करती हैं तो देखे भी तो कौन, पर वाणी से जागरण में भी शयन को देख लिया जा सकता है। *बात*०—यदि यह कहा जाए कि बात का कोई रूप नहीं है तो यह भी नहीं कहा जा सकता। उसका रूप एक तो अनुपम हैं, ऐसा है कि यदि किसी माध्यम से बताना चाहें तो वह संभव नहीं। दूसरे उसका रूप अलक्षित है, सूक्ष्म है। ऐसा सूक्ष्म है कि उसे जागतिक सामान्य आँखों से देखा ही नही जा सकता। इस प्रकार वाणी उन स्थितियों को दिखा देती है जिनको दिखाना किसी अन्य माध्यम से संभव या सरल नहीं है। पर स्वयम् यदि वाणी को ही कोई देखना चाहे तो उसका रूप ऐसा सूक्ष्म है कि उसे नहीं देखा जा सकता। उसका रूप भी है और वह अरूप भी है यह किसी उदाहरण से समझाया भी नहीं जा सकता। स्वयम्, उसकी कोई रूपरेखा ही नहीं खीची जा सकती। पर यदि कोई चाहे कि जो स्वयम् अलेख है, लिखा ही नही जा सकता तो वह वाणी द्वारा उसका लेखा

लिख सकता है, उसका उल्लेख कर सकता है। जिस अलेख के लेख के फेर में ऐ मन तू व्यथित है उसके लिए वाणी के माध्यम से अब कोई कठिनाई ही नहीं है। *बात*०—एक तो वाणी किसी गंभीर और गहन विषय का विचार-विवेचन कर सकती है, दूसरे वह बात की बात में ऐसा कर सकती है, शीघ्र से शीघ्र कर दे सकती है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि इस विश्वचक्र में कोई ऐसा स्थल नहीं है जहाँ अपनी शक्ति की विशेषता वाणी न दिखा सके। सामान्यतया कहा यही जाता है कि 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी'। वाणी के नेत्र नहीं है और नेत्रों को वाणी नहीं। इसी से नेत्रों से देखी विशिष्ट वस्तु का सच्चा विवरण वाणी नहीं दे पाती। पर ऐसा भी नहीं है। वाणी देख नहीं सकती ऐसा कौन कहता है। वाणी सब कुछ देख ले सकती है। यहाँ तक कि नेत्रों के कान में बसे मौन बखान को वाणी दिखा सकती है। एक तो नेत्रों को वाणी नहीं होती यह जो कहा जाता था वही ठीक नहीं है। नेत्र बोलते हैं, हँसते हैं यहाँ तक कि सुनते भी हैं। पर नेत्र स्वयम् सुन लें तो जो नेत्र सुनेंगे उन्हें ही उसका बोध होगा। दूसरा कैसे अनुभव करेगा। पर वाणी ही ऐसी है कि वह दूसरे ने जो असाधारण कोई व्यापार किया है उसे भी स्पष्ट कर दे सकती है। सबको संपिंडित करके यही कहा जा सकता है कि वाणी क्या नहीं कर सकती। वह सब कुछ कर सकती है। असंभव को संभव कर दे सकती है।

(कवित्त)

सुधि करें भूल की सुरति जब आय जाय
तब सब सुधि भूलि कूकौं गहि मौन कों।
जातें सुधि भूलै सो कृपा तें पाइयत प्यारे
फूलि फूलि भूलौं या भरोसे सुधि हौन कों।
मेरी सुधि भूलहि बिचारिये सुरतिनाथ
चातिक उमाहै *घनआनँद* अचौन कों।
ऐसी भूलहू सों सुधि रावरी न भूलै क्यौं हूँ
ताहि जौ बिसारौ तौ सम्हारौ फिरि कौन कों।२००।

प्रकरण—विरहिणी अपनी विरहदशा का ब्यौरा देती हुई प्रिय की वृत्ति को कष्टदायक कह रही है। वह प्रिय को संबोधन करके कहती है कि आपकी विस्मृति का ध्यान करके जब आपकी मेरी ओर इस प्रकार की वृत्ति की चेतना जगती है तो मैं अपनी सारी चेतना भूलकर मौन में पुकार करने लगती हूँ। हे प्रिय, जिस हेतु से स्मृति की विस्मृति होती है उसको दूर करने का एक ही आधार है आपकी कृपा। उसी कृपा का भरोसा करके मैं प्रसन्न हो होकर आपके किए को भूलकर यह भावना करती हूँ कि आपमें मेरी स्मृति आ जाए। हे आनंद के घन, आप मेरी चेतना के संचालक हैं। मेरी स्मृति को विस्मृत करने पर विचार तो कीजिए। आपका चातक आपसे प्राप्त होनेवाले रस को पीने के लिए लालायित है। यद्यपि आपने मेरी सुध भुला रखी है तथापि आपकी स्मृति किसी प्रकार भुलाए नहीं भूलती। मेरे लिए उसका कारण यही है कि यदि आपको और उसे भुला दूँ तो किसकी स्मृति को सँभालेंगे मेरे लिए तो आपकी स्मृति ही एकमात्र अवलंब है।

चूर्णिका—*सुधि०* = प्रिय की भूल का स्मरण करने से जब उनकी स्मृति आ जाती है। *तब०* = तब मैं अपनी सारी सुध-बुध खोकर मौन धारण करके कूकने लगती हूँ (मौन द्वारा ही अपनी व्यथा व्यक्त करती हूँ)। *जातें०* = जिस प्रकार से अपनी (विरहावस्था की) सुध भी भूल जाती है वह प्रिय की कृपा से (उनकी सुध से) प्राप्त होता है। *सुधि होन०* = स्मृति आने के लिए। *फूलि०* = इसी भरोसे तो मैं प्रिय की सुध होने के लिए प्रसन्नतापूर्वक अपने को भूला करती हूँ। *सुरति०* = (आप ही मेरी) स्मृति के स्वामी (हैं), प्रेम के स्वामी, प्रिय। *मेरी०* = हे स्मृति के स्वामी मेरी सुध जो आप भूल गए हैं उस पर विचार कीजिए। मेरी तो यह दशा है कि आपकी स्मृति के भरोसे मैं जी रही हूँ और आपकी दशा यह है कि आप मेरी सुध ही भूल बैठे हैं। इस वैषम्य पर विचार तो कीजिए। *चातिक०* = बेचारा चातक (प्रेमी)। *उमाहै* = उमंगित हो रहा है, लालालित हो रहा है। *घन०* = आनंद के घन (का जल)। *अचौन०* = (आचमन) पीने के लिए। *चातिक०* = बेचारा चातक (स्वाति का) जल पीने के लिए लालायित हो रहा है। *ऐसी०* = आपके द्वारा इस प्रकार

भुला दिए जाने पर भी जो आपकी सुध किसी प्रकार नहीं भूलता यदि आप उसे ही भूल जाएँ तो सँभालेंगे किसे।

तिलक—हे प्रिय, जब आपके द्वारा मेरी सुध को भूल जाने का ध्यान आ जाता है तब मैं अपनी सारी सुध भूलकर मौन धारण करके पुकार करने लगती हूँ। आपके द्वारा मेरा इस प्रकार भुला दिया जाना मुझे ऐसी वेदना में डाल देता है कि सिवा मौन धारण करके मन ही मन उस व्यथा की पुकार करते रहने के और कोई चारा नहीं रह जाता। वह वेदना इतनी प्रचंड होती है कि वाणी उसे व्यक्त ही नहीं कर पाती। इसलिए अव्यक्त रूप में ही मर्मांतक पीड़ा सहनी पड़ती है। मैं जिस प्रकार अपने को भूली रहती हूँ और प्रिय मुझे भूले रहते हैं उस प्रकार को परिवर्तित करने की शक्ति केवल प्रिय की कृपा में ही है। जन की अयाचित अनुकूलता ही उन्हें मेरी स्मृति करने को प्रेरित कर सकती है और मेरा पीड़ा से अपने को भूल जाना भी उसी अनुकूलता से बदल सकता है। वह कृपा ऐसी है कि उसके भरोसे मैं बारंबार प्रसन्न होकर चेतना में आने को और आपके द्वारा होनेवाली संभावित स्मृति को भी भूली गद्‌गद्‌ रहती हूँ। हे मेरी चेतना के स्वामी, मेरी सुध की भूल से आपके द्वारा जो हो रहा है उसका विचार तो कीजिए, आप हैं आनंद के घन और आपका यह चातक मेरा प्रेमी मन उत्साहित हो रहा है आपके द्वारा होनेवाली रसवृष्टि के पान के लिए। यदि यह उस रस का आचमन कर ले तो फिर इसके भाग्य का क्या कहना। यहाँ मेरी स्थिति यह है कि आप जिस प्रकार मेरी सुध को भुले हुए हैं उसके होते भी मेरी अपनी वृत्ति में कोई परिवर्तन नहीं है। आपकी स्मृति फिर भी मुझे किसी प्रकार नहीं भूलती। अब निवेदन है कि जो इस प्रकार आपकी स्मृति कर रहा हो यदि उसे आप भुलाए रहेंगे तो प्रश्न होता है कि आप फिर सँभालेंगे किसे। अपनी चेतना या स्मृति में फिर और किसको लाएँगे।

व्याख्या—*सुधि०*—सामान्यतया मुझे सुध-बुध कुछ भी नहीं रहती। पर फिर भी ऐसा अवसर आ ही जाता है कि आपके द्वारा होनेवाली विस्मृति की ओर कभी न कभी ध्यान चला ही जाता है। तब यह चेतना

जगती है कि प्रिय ने मुझे इस प्रकार भुला रखा है। पर यह चेतना इस रूप में नहीं आती कि बराबर बनी रहे। प्रत्युत वह रही सही सारी चेतना को समाप्त कर देती है। जब ऐसी स्थिति हो जाती है तब मौन के अतिरिक्त कुछ नहीं दिखता। 'मौनं सर्वार्थसाधकम्' कहते हैं। पर यहाँ स्थिति दूसरी होती है। 'मौनं सर्वार्थघातकम्' हो जाता है। चुपचाप चिल्लाते रहने के अतिरिक्त कोई दूसरा चारा नहीं रह जाता। फिर तो निरंतर वह पुकार चलती रहती है। मौन में पुकार के होने से कोई उसे सुनता भी नहीं। उसको सुनें तो केवल आप ही सुन सकते हैं। *जातें०*—सुध के भूलने की जो वृत्ति है वह मेरे अपने प्रयास से तो हटने से रही। वह लाभ में तभी परिणत हो सकती है जब आप अपनी ओर से स्वयम् अनुकूलता प्रदर्शित करते हुए कृपा करें। मेरा भरोसा, मेरी आशा यही है कि आपकी कृपा होकर रहेगी। यह आशा मुझमें अनोखा परिवर्तन कर देती है। मैं अपनी सारी वेदना भूल जाती हूँ और इसी संभावना पर निरंतर प्रसन्न होती रहती हूँ कि आपकी कृपा अवश्य ही एक न एक दिन आपमें मेरी स्मृति जगाएगी और मैं भी जो अचेतन पड़ी हूँ चेतनावस्था में आ जाऊँगी। *मेरी०*—आप ही जब मेरी चेतना के शासक हैं, स्वामी हैं तो फिर मुझे आप जो भुलाए हुए हैं उसपर विचार भी आप ही कर सकते हैं। मैं स्वयम् एक तो किसी प्रकार का विचार करने में अपने को असमर्थ पाती हूँ, फिर मेरे विचार करने से होना जाना ही क्या है। हाँ, इतना अवश्य कह सकती हूँ कि मैं आपको आनंद के घन के रूप में ही समझती हूँ और मेरा मन चातक की भाँति उत्साहित होता रहता है कि आपकी रसवत्ता से संसर्ग होकर रहेगा। *ऐसी०*—इस वृत्ति का परिणाम यह है कि वह आपके द्वारा की गई मेरी विस्मृति को ही विस्मृत कर बैठता है। मानो आपने उसके प्रति कोई असदाचार किया ही नहीं। फिर वह आपकी ही स्मृति करता है और ऐसी स्मृति करता है कि वह उससे किसी प्रकार हटती नहीं। फिर आपसे यही कहना पड़ता है कि जो इस विपरीत आचरण पर भी आपकी स्मृति का किसी प्रकार परित्याग नहीं करता यदि उसे आप भुला देंगे तो जिज्ञासा होती है कि आप स्मृति किसकी करेंगे, आप सँभालेंगे किसे। याद रखिए

कि प्रेमी के प्रति आपके ऐसे आचरण के होते भी आपके प्रति इस प्रकार की उन्मुखता रखनेवाला दूसरा इस जगत् में मिल नहीं सकता। दूसरे जो होंगे वे स्वयम् अपने को किसी न किसी प्रकार सँभाल लेनेवाले ही होंगे। आपमें उन्हें सँभालने की अपेक्षा भी कदाचित् न होगी। सँभालने की अनिवार्य आवश्यकता यदि किसी को हो सकती है तो मुझे ही।